प्रकाशक—
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।

प्रथम प्रवेश १०००
वीर सम्वत् २४८५
विक्रम सम्वत् २०१५
मूल्य १रु ७५न.पै.

मुद्रक—
जैन प्रिंटिंग प्रैस
प्रो० मा० किशन चन्द जैन एण्ड सन्ज स्यालकोटी
हजूरी रोड लुधियाना।

किस को ?

जिन की अध्यात्म साधना,
तथा आदर्श ज्ञान-आराधना
के अनुपम प्रकाश को पाकर,
मैं अपनी जीवन - यात्रा में,
चलता चला आ रहा हूँ ।

उन परम श्रद्धेय आचार्य-सम्राट् गुरुदेव
पूज्य श्री आतमा राम जी महाराज
के पवित्र चरण-कमलों में

स विनय

स भक्ति

स म र्पि त

ज्ञान मुनि

इस पुस्तक में प्रयुक्त की गई ग्रन्थों की सूची—

१	अमोलक मुक्ति रत्नाकर	कल्याण ऋषि जी महाराज
२	अहिंसा दर्शन	उपाध्याय कवि श्री अमर चन्द्र जी महाराज
३	आचाराग सूत्र	सन्तबाल
४	आचाराग सूत्र [सटीक]	मुनि श्री सौभाग्य मल जी महाराज
५	आत्मरहस्य	रत्नलाल जैन
६	इञ्जील [बाईबल]	
७	ऐतिहासिक नोंध	मोती लाल वाड़ी शाह
८	कबीर वाणी	
९	कल्पसूत्र	हिन्दी
१०	गणधर-वाद	प० दलसुख मालवणिया
११	गहरे पानी पैठ	श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय
१२	गौतम कुलक	
१३	चन्द्र ज्योति	जीवन-चरित्र महासती श्री चन्दा जी महाराज
१४	जैनतत्वादर्श	श्री विजयानन्द सूरि
१५	जैन तत्त्व प्रकाश	पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज
१६	जैनत्व की झाकी	उपाध्याय कवि अमर चन्द

जी महाराज
१७ जैनदर्शन — मुनि न्याय विजय जी
१८ जैन दर्शन — पं० महेन्द्र कुमार दर्शनाचार्य
१९ ,, ,, — डा० मोहनलाल मेहता, एम. ए.
२० जैनदर्शन मे श्वेताम्बर तेरहपन्थ
२१ जैन धर्म — श्री सुशील मुनि जी
२२ जैनधर्म — कैलाश चन्द्र जी
२३ जैनशासन — सुमेरु चन्द्र जी
२४ जैन सिद्धात बोल सग्रह ८ भाग — भैरोदान सेठिया बीकानेर
२५ तत्त्वनिर्णय प्रसाद — श्री विजयानन्द सूरि
२६ तत्त्वार्थ सूत्र — पण्डित सुखलाल जी
२७ दशवैकालिक सूत्र — आचार्य पूज्य श्री आत्मा राम जी महाराज
२८ दिगम्बर मत समीक्षा — मुनि मिश्रीमल जी महाराज
२९ दीघ-निकाय — अनुवादक राहुल साकृत्यायन
३० नयवाद — श्री फूलचन्द्र जी म०, श्रमण
३१ निर्ग्रंथ प्रवचन — जैनदिवाकर श्री चौथमल जी महाराज
३२ प्रश्न प्रकाश — मुनि धनराज जी
३३ भगवती सूत्र हिन्दी — मदन कुमार मेहता
३४ भगवद्गीता
३५ भगवान महावीर [उर्दू] — श्री काशीराम चावला

३६ भ्रमविध्वंसन	श्री जयाचार्य
३७ भारतीय संस्कृति की दो धाराएं	श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
३८ मुखवस्त्रिका सिद्धि	श्री रत्न लाल डोशी
३९ शास्त्रार्थ नामा	शास्त्रार्थ-महारथी गणी श्री उदयचन्द्र जी महाराज
४० शृङ्गार शतक [भर्तृहरि]	
४१ श्रमण भगवान महावीर	श्री कल्याण विजय जी
४२ श्रमण सूत्र	उपाध्याय कवि श्री अमर चन्द्र जी महाराज
४३ श्रावक धर्म	महासती श्री उज्ज्वल कुमारी जी महाराज
४४ श्रीमद्भीषण के विचार रत्न	श्री चन्द रामपुरिया
४५ सिक्खशास्त्र (गुरु ग्रन्थ साहिब)	
४६ स्थानकवासी	आचार्य पूज्य श्री आतमाराम जी महाराज
४७ स्थानकवासी और तेरहपन्थियों में अंतर	
४८ स्थानांग सूत्र	
४९ स्याद्वाद-मंजरी	अनुवादक श्री जगदीश चन्द्र जैन, एम. ए पी. एच. डी.
५० स्वर्ण जयन्ती ग्रन्थ	स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस द्वारा प्रकाशित
५१ ज्ञान गंगा	भारतीय ज्ञानपीठ काशी



धन्यवाद

"प्रश्नो के उत्तर" के प्रकाशन में जिन जिन दानी महानुभावो ने दान देने की कृपालुता की है। उन दानी सज्जनों के शुभ नाम इस प्रकार हैं—

श्री वस्तीमल नवरत्न जी मूथा गाधी चौक, रायचूर
श्री त्रिलोक चन्द जी लोहटिया घुरी मण्डी
श्री हंस राज जी लोहटिया घुरी मण्डी
श्री दुर्गादास जी वजाज घुरी मण्डी
श्री अमर चन्द जी लोहटिया ,,
श्री रव्वी राम जी वज़ाज घुरी मण्डी
श्री पन्ना लाल जी जैन सैक्टरी जैन सभा घुरी मण्डी
चौधरी देसराज जी वज़ाज़ घुरी मण्डी
चौधरी वारूमल जी जैन बज़ाज़ घुरी मण्डी
श्री रामनाथ सीता राम जी घुरी मण्डी
श्री मती वदाम वाई धनी वाई रायचूर
श्री हेमराज गिरधारी मल जी कलकत्ता
श्री शादी राम श्याम लाल जैन नाभा
श्री वाबू राम ज्ञान चन्द्र जैन नाभा
श्री नौराता राम जी जैन जैन बूट हाऊस, नाभा
श्री गुलाव चन्द पूनम चन्द धूपिया झालेवाड़
श्री तेजपाल जी जैन हकीम भाईरूपा (भटिण्डा)
श्री जसराज मोहन लाल जी
श्री गुलाव चन्द चौथ मल जी
श्री वलीराम जी लोहटिया, - मालेरकोटला

श्री कावली राम केसरी चन्द्र जी   मालेरकोटला
श्री वदरी दास जी   ,,
श्री रामदास वाला मल जैन

धन के स्वामी तो लाखो मिल जाते है पर धन का सदुपयोग करने वाले,उसे आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाश मे लगाने वाले विरले होते है। वस्तुतः ममता का परित्याग करना वड़ा कठिन कार्य माना गया है। कोई भाग्यशाली जीव ही यह पुनीत कार्य कर सकता है। ऐसे ही भाग्यशाली दानी सज्जनो की कृपा से हम यह नूतन प्रकाशन करने मे सफल हो सके है।

मैं समिति की ओर से इन दानी सज्जनो का धन्यवाद करता हू और आशा करता हूं कि आप सब भविष्य मे भी धार्मिक साहित्य के प्रकाशन के लिए सहयोग देते रहेंगे।

समाज के जितने धार्मिक कार्य हैं, वे सब सहयोग पर निर्भर हैं। विना सहयोग के कोई समाज आगे नही वढ सकता। अत. सामाजिक उन्नति के लिए सहयोग देना अत्यावश्यक है। हमारे दानी सज्जनो से विनीत प्रार्थना है कि वे दान देते समय आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना को सहयोग देने का अवश्य ध्यान रखें।

लुधियाना }   पन्ना लाल जैन मन्त्री
३० ५ ६२ }   आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, लुधियाना।



प्रकाशकीय

हम सहर्ष पाठको के कर-कमलो मे श्रद्धेय श्री ज्ञान मुनि जी महाराज कृत यह रचना प्रस्तुत कर रहे हैं। हर्ष की वास्तविकता तो विशेषकर इस लिए है कि इस पुस्तक का प्रकाशन हमारा प्रथम साहस है। ऐस०ऐस०जैन बिरादरी द्वारा निर्वाचित इस समिति को अभी दो मास ही हुए है कि इसने इतने अल्प समय मे यह अनुपम रत्न पाठको के समक्ष ला दिया है।

इस समिति का मूल उद्देश्य आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्मा-राम जी महाराज द्वारा लिखित, अनुवादित तथा सम्पादित ग्रन्थो को पाठको के लिए प्रकाशित करना है। समिति का क्षेत्र इतना ही नही, अपितु विशाल है। यह समिति अन्य सुप्रसिद्ध मनोनीत लेखको की कृतियो को भी प्रकाशित सामग्री मे परिवर्तित करेगी। पाठक अनु-मान लगा सकेगे कि हमारा ध्येय तो मानव जाति के लिए साहित्य द्वारा ऐसा सुगम सुमार्ग प्रस्तुत करना है जिस पर चलने से मानव सुन्दर, सुखद और स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सके।

प्रस्तुत पुस्तक "प्रश्नो के उत्तर" दो खण्डो मे है। जिसका प्रथम खण्ड आप की सेवा मे उपस्थित है। आचार्यदेव के सुशिष्य श्री ज्ञान मुनि जी महाराज ने इस पुस्तक मे समय-समय पर सामने आने वाले प्रश्नो को लिखकर उनके उत्तर तैयार किए हैं। आजके हिन्दी-युग मे ऐसीपुस्तक की महान आवश्यकता थी। असीम आभार की बात है कि मुनि श्री ने इस आवश्यकता को अपने अनवरत परिश्रम द्वारा पूरा किया है।

प्रधान– श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना।

अपनी बात

एक वार मुझे जण्डियाला गुरु (अमृतसर) जाने का अवसर मिला। वहां रात्रि को युवक-मण्डल को जैन-धर्म-सम्बन्धी जानकारी कराने का मौका भी प्राप्त हुआ। यह जानकारी प्रश्नोत्तर के रूप मे चलती थी। कभी मैं स्वय उनसे प्रश्न पूछता फिर उनको उनके उत्तर समझा देता, कभी वे मुझ मे अपने प्रश्नो का समाधान मागते। इस प्रकार ज्ञान-चर्चा करने से वडा अच्छा रुचिपूर्ण वातावरण वन जाता था। एक दिन एक युवक ने कहा कि इस प्रकार की ज्ञानचर्चा से जो हमे जानकारी प्राप्त होती है उसे चिरस्थायी वनाए रखने के लिए एक ऐसी पुस्तक होनी चाहिए, जिस मे जैनधर्म-सम्बन्धी मोटे मोटे सभी प्रश्नो का समाधान किया गया हो और जिसके स्वाध्याय से हम, क्षेत्र मे साधु मुनिराजो के विराजमान न होने पर भी ज्ञानचर्चा का लाभ प्राप्त कर सके। मुझे भी उस युवक की वात पसन्द आई। मैंने भी सोचा कि साहित्य के विना समाज का कभी विकास नही हो सकता, उस के सैद्धांतिक विचारो तथा आचारो को जनमानस तक पहुंचाने के लिए योग्य साहित्य की नितान्त आवश्यकता हुआ करती है। परिणामस्वरूप मैंने उस युवक को आश्वासन दिया और साधुभाषा मे कहा कि मैं इस काम की पूर्ति के लिए यथाशक्य प्रयास करूगा।

जण्डियाला से विहार होने पर अमृतसर, पट्टी, जीरा आदि क्षेत्रो मे भ्रमण करते हुए अन्त मे श्रद्धेय जैनधर्म-दिवाकर, आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के चरणो मे लुधियाना पहुच गए और यही आचार्य श्री की सेवा मे चातुर्मास हो गया। जण्डियाला की वात मुझे भूली नही थी और लुधियाना आने पर तो उस मे और

भी दृढता आ गई। अन्त मे, मैंने जैनधर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट् पूज्य गुरुदेव श्री के चरणो का आश्रय ले कर इस काम को चालू कर दिया। और लगभग सात महीनो मे एक पुस्तक तैयार करली। जो "प्रश्नो के उत्तर" इस नाम से आप के सामने है। इस पुस्तक मे जैन-धर्म-सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर लिखे गए है। पहले प्रश्न और फिर उस का उत्तर, इस पद्धति से इसकी रचना की गई है। इसलिए इस पुस्तक का "प्रश्नो के उत्तर" यह अन्वर्थ नामकरण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक दो खण्डो मे विभक्त है। पहले खण्ड मे दार्शनिक एवं तात्त्विक चर्चा और द्वितीय खण्ड मे धार्मिक एव सैद्धातिक विचार चर्चा है। प्रत्येक खण्ड मे नव-नव अध्याय हैं। इस तरह पूरी पुस्तक मे निम्न १८ अध्याय हैं—

१ जैनधर्म	२ तत्त्व-मीमासा
३ बन्ध-मोक्ष मीमासा	४ जैनधर्म का अनादित्व
५ आस्तिक-नास्तिक समीक्षा	६ ईश्वर-मीमासा
७ जैनधर्म और वैदिक धर्म	८ जैनधर्म और बौद्धधर्म
९ जैनधर्म और चार्वाक	१० सप्त-कुव्यसन-परित्याग
११ आगार धर्म	१२ अनगार धर्म
१३ चौवीस तीर्थंकर	१४ स्थानकवासी और अन्य जैन सम्प्रदाए
१५ जैनपर्व	१६ भाव पूजा
१७ जैनधर्म और विश्व समस्याए	१८ लोक स्वरूप

इस पुस्तक के उक्त अध्यायो मे जिन बातो का विवेचन दिया गया है, उनको सकलित करने मे मुझे अनेको ग्रन्थो और पुस्तको को देखना पडा है। उन सब का नामनिर्देश इसी पुस्तक मे अन्यत्र किया जा रहा है। मैंने इन ग्रन्थो और पुस्तको के कही भाव लिए हैं कही

ज्यों की त्यो पक्तियां उठाई है । वस्तुतः इन्ही पुस्तको के सहयोग से मैं इस पुस्तक की रचना कर सका हू । अतः मैं इन ग्रन्थो और पुस्तकों के लेखक महानुभावो का हृदय से आभार मानता हू । जिनके सतत परिश्रम से लिखी पुस्तको का सहयोग पा कर मैं अपने मनोरथ को मूर्तरूप देने मे सफल हो सका हू । मैं हृदय से उनका अपने को आभारी पाता हू ।

इस पुस्तक के दूसरे खण्ड के एक अध्याय मे आपको विशेष रूप से स्थानकवासी परपरा द्वारा मान्य दृष्टि का परिचय मिलेगा । इस अध्याय मे यह दृष्टि जान बूझ कर रखी गई है । इस अध्याय को लिखने का मेरा उद्देश्य केवल स्थानकवासी युवको, युवतियो को स्थानकवासी परम्परा की मान्यताओ और शिक्षाओ से शिक्षित करना है। इसलिए इस पुस्तक मे साम्प्रदायिकता की भावना देख कर चौकने की आवश्यकता नही है । अपनी मान्यताओ तथा मर्यादाओ से अपने सामाजिक लोगो को परिचित कराना मेरी दृष्टि मे कोई बुराई नहा है ।

इस पुस्तक की प्रेस कापी बनाने मे धर्मोपदेष्टा श्रद्धेय महासती श्री चन्दा जी महाराज को सुयोग्य शिष्यानुशिष्याए विदुषी महासती श्री लज्जावती जी महाराज तथा तपस्विनी श्री सौभाग्यवती जी महाराज की शिष्याए श्री सीता जी महाराज, श्री कौशल्या जी महाराज, श्री महेन्द्रा जी महाराज इन पूज्य साध्वियो का प्रर्याप्त सहयोग प्राप्त रहा है । इनमे भी श्री महेन्द्रा जी महाराज का सहयोग चिरस्मरणीय रहेगा, जो अस्वस्थ होते हुए भी इस कार्य मे आशातीत अपना सहयोग देती रही हैं । मैं इस महासती—मण्डल का हृदय से आभारी हू ।

इस पुस्तक के सम्पादक हमारे मान्य लेखक पण्डित मुनि श्री समदर्शी जी हैं । श्री समदर्शी जी के पास बनारस मे मैंने सामग्री भेज

दी थी, वही से उन्होंने इस कार्य को चालू कर दिया था। समदर्शी जी की सम्पादन कला की विशेषता के सम्बन्ध मे मै क्या कहूं ? सक्षेप में इतना ही निवेदन किए देता हू कि समदर्शी जी की लेखनी का स्पर्श पा कर प्रश्नो के उत्तर'इस पुस्तक का कायाकल्प हो हो गया है।श्री समदर्शी जी के इस प्रेम भरे श्रम के लिए मै इनका आभारी हू।

अन्त मे, मै परम श्रद्धेय जैनधर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट् गुरुदेव पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज के पावन चरणो का आभार मानता हू। क्योंकि इन्ही के परम प्रताप से,तथा कृपाभाव से ही मै इस पुस्तक को लिखने की क्षमता प्राप्त कर सका हू। जैनदर्शन एक अथाह सागर है, जिसका किनारा प्राप्त करना मेरे जैसे अल्प-बुद्धि के वश की बात नही है। तथापि मै इस पुस्तक मे जैनधर्म के सम्बन्ध मे जो कुछ लिख सका हू, उस के पीछे मेरे धर्माचार्य आचार्यसम्राट् पूज्य गुरुदेव श्री आत्माराम जी महाराज का प्रबल अनुग्रह ही काम कर रहा है। मेरा अपना इसमे कुछ नही है। इसके मूल स्रोत तो श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य-सम्राट् ही है।

—ज्ञान मुनि



मेरी दृष्टि में—

लेo—संस्कृत-प्राकृत-विशारद पण्डित श्री हेमचन्द्र जी मo

"प्रश्नों के उत्तर" नामक ग्रन्थ को मैंने ध्यानपूर्वक पढा है। मैं अपने अध्ययन के आधार पर निःसन्देह यह कह सकता हूं कि प्रश्नोत्तर के रूप मे यह बहुत उपयोगी बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा गया है। इसके प्रारम्भ मे पवित्रतम 'जैन' शब्द की व्युत्पत्ति दी गई है। इस के ७,८ पृष्ठों पर धर्म की परिभाषा का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। स्याद्वाद और सप्तभगी जैसे गहन विषय का इस मे सरल किन्तु तात्त्विक विवेचन किया गया है। जैन दर्शन मे नयवाद का जो सविस्तृत एव स्वतन्त्र प्रतिपादन पाया जाता है, वह जैनेतर दर्शनो मे प्रायः समुपलब्ध नही है। इस नयवाद का भी इस विशालकाय ग्रन्थ मे बहुत सुन्दर सकलन किया गया है। जैन सिद्धान्त के प्राणभूत नव तत्त्वों और आठ कर्मों का उपयोगी वर्णन भी इस में उपलब्ध है।

अनन्त की अनन्तता को समझाने के लिए इस ग्रन्थ के ८८ और ८९ पृष्ठ पर गणित का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, जो पाठको के लिए पुन पुन. मननीय है।

ईश्वर जगत्कर्ता एव कर्म-फल-प्रदाता है या नही? इस प्रकार की ईश्वर-सम्बन्धी अनेक शकाए जनसाधारण और विद्वानो के मस्तिष्कों मे चक्कर काटती रहती हैं। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण छठे अध्याय मे ईश्वर विषयक अनेक शकाओ का जो सरल और मार्मिक समाधान किया गया है, उसके लिए लेखक मुनि महोदय धन्यवादार्ह है।

यह ग्रन्थ बडे परिश्रम से लिखा गया है। पाठक इसके अध्ययन,

चिन्तन और मनन से लेखक के परिश्रम को सफल करे, यही मेरी हार्दिक कामना है।

इस अत्युत्तम एव अत्युपयोगी ग्रन्थ के लेखक श्री ज्ञान मुनि जी को मैं अनेकश. धन्यवाद देता हू।

× × × ×

मैंने जो समझा–

लेo– जैनभूषण, पजाब केसरी श्री विमल मुनि जी मo

मनुष्य का मस्तिष्क कुछ ऐसे विशिष्ट तत्वो का सम्मिश्रण है, जिनके आधार पर वह प्रत्येक समस्या का समाधान मागता है, समस्या का समाधान प्राप्त करना ही वह अपना ध्येय समझता है। जब तक समस्या का समाधान नही होता तब तक उसे सन्तोष नही होता। आज हमारे सामने जितने भी शास्त्र, सूत्र, स्मृतियां है, वे सब मनुष्य की इसी समाधान-वृत्ति का सत्परिणाम है।

आज विज्ञान का युग है। आज किसी भी तथ्य को स्वीकार करने से पूर्व मनुष्य उसको विज्ञान की कसौटी पर खरा देखना चाहता है। यही कारण है आज ऐसा क्यो है ? यह सब से पहले पूछा जाता है। प्रश्न मानो तूफान का रूप लेकर मनुष्य के सामने आ खडे होते हैं। इनका समाधान प्राप्त किये बिना मानव हृदय शान्त एव स्वस्थ नही हो पाता।

'प्रश्नो के उत्तर' मे प्रश्नो का समाधान किया गया है। अनेकविध तथ्यो को लेकर जो प्रश्न सामने आते है, उनको सगृहीत करके फिर उनका इस पुस्तक मे समाधान कर रखा है। मैंने इस पुस्तक का

विहंगम दृष्टि से देखा है, उसके आधार पर मैं कह सकता हू कि यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिस प्रकार एक रोगी व्यक्ति को इञ्जैक्शन द्वारा शीघ्र लाभ होता है उसी तरह उलझे हुए मस्तिष्क को सुलझाने में यह ग्रन्थ इञ्जैक्शन का काम करेगा। इसके अध्ययन से मनुष्य को शीघ्र ही आध्यात्मिक और मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त हो सकेगा।

इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। दोनो मे ९, ९ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय मे स्वतन्त्र रूप से एक विषय को लेकर प्रकाश डाला गया है। इसमें भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से सभी कुछ उत्तम है। यदि चिन्तन पूर्वक एक बार समस्त ग्रन्थ का अध्ययन कर लिया जाए तो मैं विना सन्देह के कह सकता हू कि पाठक को जैन धर्म के मूलभूत सिद्धातो का सन्तोषजनक बोध हो जायगा, और जैनधर्म के मन्तव्यो को लेकर उसके हृदय मे जो आशंकाए चक्र काटती हैं, वे सब एकदम शान्त हो जाएगी।

इस पुस्तक के लेखक मेरे मित्र श्रद्धेय श्री ज्ञान मुनि जी महाराज हैं। महाराज जी ने बडे गम्भीर चिन्तन-मनन के साथ इसे लिखा है और हमे अधिक से अधिक प्रामाणिक तथा हितावह बनाने के लिए इन्होंने पूर्ण प्रयास किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आध्यात्मिकता की छाया तले रहने वाले सहृदय जिज्ञासु इससे अवश्य लाभ उठावेंगे।



प्रश्नों के उत्तर

[प्रथम खण्ड]

विषयानुक्रमणिका

जैन धर्म=प्रथम अध्याय

तत्त्व मीमांसा=द्वितीय अध्याय

बन्ध–मोक्ष–मीमांसा=तृतीय अध्याय

जैनधर्म का अनादित्व=चतुर्थ अध्याय

आस्तिक नास्तिक समीक्षा=पचम अध्याय

ईश्वर मीमांसा=षष्ठम अध्याय

जैनधर्म और वैदिकधर्म =सप्तम अध्याय

जैन धर्म और बौद्ध धर्म=अष्टम अध्याय

जैनदर्शन और चार्वाक दर्शन=नवम अध्याय



प्रश्नों के उत्तर

[प्रथम खण्ड]

प्रश्नों के उत्तर

★ जैन - धर्म ★

प्रथम अध्याय

प्रश्न– 'जैन' शब्द का शाब्दिक अर्थ क्या है ?

उत्तर– 'जैन' जिन शब्द से निष्पन्न होता है। 'जिन' शब्द जि= जये धातु से बना है†, अर्थात् जो जीतता है, विजय प्राप्त करता है, वह जिन है और उस विजेता का उपासक जैन कहलाता है‡।

प्रश्न– क्या जिन भी दूसरे पर विजय प्राप्त करता है ? उस के भी कोई शत्रु है ?

उत्तर– हाँ, जिन एक महान् विजेता है। वह अपने असाधारण शत्रुओ को परास्त कर के जगन्नाथ बनता है। परन्तु, उस की यह विजय किसी मानव पर नही होती। वह किसी इन्सान को नहीं पछाड़ता। उसका सघर्ष किसी जीवधारी से नही, राग-द्वेष से, काम-क्रोध से, मनोविकारो से होता है। वह अनन्त काल से ससार चक्र में परिभ्रमण

---

†जि जये, जयतीति जिन, जिनो देवताऽस्य इति जैन.।

‡It is also applicable to all those men and women who have conquered their lower nature & who have by means of a thorough victory over all attachments and anti-pathies realised the Highest.
Dr. Radha Krishanan, Indian Philosophy 1, P.286.

कराने वाले, नरक के महागर्त मे गिराने वाले राग - द्वेष को परास्त करता है। वस्तुत राग-द्वेष ही आत्मा के असली शत्रु है §। मानव-मानव मे शत्रुता का भाव पैदा करने वाले ये ही है। इन्ही के कारण मनुष्य वाह्य शत्रुओं की कल्पना करता है, एक इन्सान दूसरे इन्सान को अपना दुश्मन समझने लगता है।

राग और द्वेष मानव-मन के विकारी भाव हैं। मन पसन्द वस्तु पर मोह या आसक्ति को राग और नापसन्द वस्तु से नफरत, घृणा एव तिरस्कार करने की वृत्ति को द्वेष कहते हैं।

राग और द्वेप ही ससार परिभ्रमण कें मूल कारण हैं। इनसे मन मे मोह जागता है। मोह से कर्म का वन्ध होता है। कर्म-वन्ध ही जन्म-मरण का मूल कारण है। और जन्म-मरण ही वास्तविक दु ख है। अस्तु, राग-द्वेप ही दु ख-दैन्य के मूल कारण और आत्म-विकास के प्रतिवन्धक है। इन अन्तरग महाशत्रुओ को जीतने वाले महा-पुरुष को जिन कहते है।

प्रश्न— जिन कौन होते हैं?

उत्तर- जिन किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है। न उस पर किसी सम्प्रदाय, धर्म, पथ या मजहव का ही आधिपत्य है। जिनत्व देश, जाति, पंथ, मजहव, रग एवं वर्गभेद के खूटों से बंधा हुआ नही होता, भगवान् महावीर के शब्दो मे, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने वाला प्रत्येक मानव जिन वन सकता है-चाहे वह किसी जाति का हो, किसी देश का हो, किसी पथ का हो, किसी लिंग मे हो, किसी वेश-भूषा में

§रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्म च मोहप्पभव वयति।
कम्म च जाइमरणस्स मूल, दुक्ख च जाइमरण वयति॥
—उत्तरा., अ ३२, गा ७

हो ‡। राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-माया आदि मनोविकारो का उन्मूलन करने वाला जिन होता है। जिसे सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हन्त, परमात्मा, तीर्थंकर आदि अनेक नामो से स्मरण किया जाता हैं।

प्रश्न– 'जैन समाज' किसे कहते हैं?

उत्तर– इस वाक्य मे जैन+समाज दो शब्द हैं। जैन उस व्यक्ति को कहते हैं - जो जिन का उपासक है। समाज का अर्थ है-व्यक्तियों का समुदाय। अस्तु,जिन भगवान् के उपासक व्यक्तियो,या यो कहिए जिनत्व को साधना के पथ पर गतिशील व्यक्तियो के समूह को जैन-समाज कहते हैं। जेन कोई जाति नही, समाज है, धर्म है। किसी भी जाति का, रग का, देश का व्यक्ति जैन बन सकता है। भगवान् महावीर के शासन मे सभी जाति के मुनि एव गृहस्थ सम्मिलित थे। भगवान् महावीर स्वय क्षत्रिय थे, गौतम स्वामी ब्राह्मण थे, जम्बू स्वामी वैश्य थे और हरिकेशी मुनि चाण्डाल(हरिजन)थे। सद्गृहस्थो मे शकटाल पुत्र कुम्हार थे, आनन्द पटेल (जाट) थे और सुलसा वढई जाति की थी। सब के साथ समान व्यवहार होता था, घृणा एव तिरस्कार की भावना नही थी। काश! आज के जैन जातिगत सहिष्णुता को कायम रख सकते, तो जैनधर्म उन्नति के शिखर से कभी नही गिर पाता।

प्रश्न– जैन हिन्दू हैं या नहीं ?

उत्तर– यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसपर हमे जरा गहराई से सो.

‡ १५ प्रकार के सिद्ध होते हैं, १-तीर्थ-सिद्धा, २-अतीर्थ-सिद्धा, ३-तीर्थंकर सिद्धा,४-अतीर्थंकर-सिद्धा,५-स्वयबुद्ध-सिद्धा,६ प्रत्येक-बुद्ध-सिद्धा,७-बुद्ध-बोधित सिद्धा, ८-स्वलिंग(जैन मुनि वेश में)सिद्धा, ९-अन्य-लिंग-सिद्धा(जैनेतर सन्यासियो के वेश में),१०-गृह-लिंग-सिद्धा(गृहस्थ के वेश में), ११-स्त्रीलिंग सिद्धा १२-पुरुषलिंग सिद्धा, १३-नपु सकलिंग सिद्धा, १४-एकसिद्धा, १५–अनक सिद्धा।

चना–विचारना एवं समझना है। आज अनेकों व्यक्ति जैनों को हिन्दू–धर्म के अन्तर्गत समझने की भूल कर बैठते हैं। जनगणना के समय का मेरा निजी अनुभव है कि कई अधिकारी धर्म के खाने मे जैन-धर्मावलम्बी को हिन्दूधर्म मे लिख लेते थे। कई बार कहने पर भी वे सरलता से समझ हो नही पाते थे कि जैन धर्म हिन्दूधर्म से अलग धर्म है। इससे भी अधिक दुःख हमे यह जान कर हुआ कि कई जैन अपने आप को हिन्दू लिखाते थे। यह उनके अज्ञान का परिचायक ही है। मैं इस प्रकरण मे इस प्रश्न पर जरा स्पष्टता से प्रकाश डालने का प्रयत्न करुगा कि जैन हिन्दू है या उनसे भिन्न ?

हिन्दू शब्द के आज तीन अर्थ हमारे सामने है। एक भौगोलिक, दूसरा धार्मिक एव तीसरा राष्ट्रीय। भौगोलिक दृष्टि से सिन्धु नदी के इस ओर बसने वाले लोग सिन्धु कहलाते थे। जब फारसी इधर आए तो वे उन्हे हिन्दू कहने लगे। क्योंकि फारसी मे 'स' का उच्चारण 'ह' होता है। इस से पहले पहल सिन्धु नदी के मैदान मे बसने वाले लोगो के लिए हिन्दू शब्द का प्रयोग शुरू हुआ और धीरे - धीरे सारे भारतीयो के लिए इसका प्रयोग होने लगा। इसी के आधार पर भारत को भी हिन्दुस्तान के नाम से पुकारने लगे।

कुछकाल के बाद वैदिक परपरा ने हिन्दू शब्द को अपना लिया। फलत वैदिक परम्परा मान्य क्रियाकाण्ड करने वाले व्यक्ति को हिन्दू कहने लगे। इस तरह हिन्दू शब्द एक सम्प्रदाय-विशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

जब देश मे राष्ट्रीयता का विकास हुआ तो उस के साथ - साथ हिन्दू शब्द के अर्थ का भी विस्तार हो गया। राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दू वह है, जो हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि मानता है, जो राष्ट्र के प्रति इमानदार है और अपना राष्ट्रीय दायित्व निभाता है।

भौगोलिक एव राष्ट्रीय परिभाषा के अनुसार जैन भी हिन्दू है।

वे भारत के निवासी हैं, भारत को अपना देश मानते है और राष्ट्र-हित के लिए अपनी सेवाएँ देते रहे हैं और दे रहे है।

हिन्दू शब्द का जब "वैदिक धर्मावलम्बी" अर्थ किया जाता है, तब जैन अपने आपको हिन्दू नही समझते। धर्म के सबध में अब यह भ्रम दूर हो गया है कि जैनधर्म वैदिक धर्म या किसी अन्य धर्म की शाखा नही है*। वह वैदिकधर्म से भिन्न एक स्वतत्र और मौलिक धर्म है। उसका धार्मिक आचार-विचार वैदिक आचार-विचार से सर्वथा भिन्न है। अत धार्मिक दृष्टि से जैन जैन हैं, हिन्दू (वैदिक) नहीं।

वास्तव मे हिन्दू एक जाति (राष्ट्रीय जाति) है, न कि धर्म। राष्ट्र के दुर्भाग्य से कुछ लोगो ने हिन्दू शब्द को धर्म की साम्प्रदायिक कारा मे कैद कर लिया। इस से राष्ट्र को समय - समय पर अनेको कठिनाईयो का सामना करना पडा। राष्ट्र के अन्य धर्म जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान आदि जिन को वैदिक धर्म पर विश्वास नही था, अलग हो गए। इस से राष्ट्र की आतरिक शक्ति कमज़ोर हो गई और वह परतत्रता की बेडी मे जकडा गया। समय ने करवट ली और देश मे फिर से राष्ट्रीयता की भावना उद्बुद्ध हुई जिससे हिन्दू शब्द को साम्प्रदायिकता की काल-कोठरी से मुक्त करके विशुद्ध राष्ट्रीय क्षेत्र मे लाने का प्रयास किया जा रहा है। परिणामस्वरूप भारत मे रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को हिन्दू मानने मे गौरव का अनुभव करने लगा है। सदियो से बिखरे मनके फिर से एक माला मे इकट्ठे हो रहे है। यह राष्ट्र का सद्भाग्य ही है।

प्रश्न– जैन धर्म का क्या अर्थ है?

उत्तर– जैनधर्म का अर्थ समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक

*इस विषय पर आगे के पृष्ठो मे विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

होगा कि धर्म के उद्भव होने का क्या कारण रहा है ? मनुष्य के सामने ऐसी कौनसी कठिन एव जटिल समस्याएँ आई जिन्हे सुलझाने के लिए उसे धर्म का सहारा लेना पड़ा ? ऐसी कौन सी परिस्थितिएँ उपस्थित हुई जिनके कारण उसके मन मे धर्म की प्रखर ज्योति उद्-बुद्ध हुई?

कुछ विद्वानो का अभिमत है कि प्रकृति के अनोखे कार्यो को देख कर मनुष्य के मन मे एक विचारणा प्रस्फुटित हुई और उसने चिन्तन का रूप लिया। चिन्तन की गहराई मे गोता लगाते-लगाते उस की विचारधारा वहाँ जा पहुची जिस के आगे तर्क एव बुद्धि की पहुँच नही थी। इसी चितन-धारा मे से धर्म की भावना का उद्भव हुआ। दूसरे विचारको को यह कल्पना ठीक नही जची। उन की विचार-धारा के अनुसार धर्म की उत्पत्ति मानव जीवन मे आने वाले भय एव आकांक्षाओ के कारण हुई। कुछ विचारको ने केवल भय को ही धर्म का जनक माना। उनका विश्वास है कि भय ही एक ऐसा कारण था, जिस से बचने के लिए मनुष्य ने ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास किया। कुछ चितको ने इस विचारधारा का खण्डन किया कि धर्म—आश्चर्य, भय एव आकाक्षाओ के कारण उत्पन्न हुआ है। हो सकता है उसने धर्म के प्रकाश मे भय से बचने का मार्ग खोजा हो, परन्तु वह उस की उत्पत्ति का कारण नही हो सकता। धर्म की उत्पत्ति का कारण है– मानव जीवन मे रही हुई नैतिकता की भावना।

विभिन्न विचारको ने धर्म की उत्पत्ति के सबंध मे विभिन्न दृष्टियों से सोचा - विचारा है और भिन्न - भिन्न विचारो का समर्थन किया है। इन समस्त विचारधाराओ का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म की उत्पत्ति का कारण प्रकृति की विचित्र

ता, आश्चर्य एव आकाक्षा नही है । यह माना जा सकता है कि मनुष्य की असहाय अवस्था के साथ भय का मिश्रण रहा हो । समस्त भारतीय चितन धारा ने धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण दु.ख माना है। जैन विचारको का भी यही अभिमत रहा है कि धर्म का उद्भव भव-भ्रमण के दु.खो से छुटकारा पाने के हेतु हुआ है। धर्म का महत्त्वपूर्ण कार्य मनुष्य को जन्म-मरण के दु.खो से मुक्त करना है ।

दु.खो का मूल कारण राग-द्वेष है । राग-द्वेष कर्म के बीज हैं, कर्म मोह से उत्पन्न होते हैं । कर्म ही जन्म - मरण के मूल कारण हैं और जन्म-मरण ही दु ख है ।। अत. धर्म का मुख्य उद्देश्य है-राग-द्वेष को क्षय करना । इसलिए जो धर्म राग-द्वेष के क्षय करने का, काम-क्रोध को जीतने का, मोह अधकार को हटाने का मार्ग बताता है, वह जैनधर्म है। अथवा यो कहिए कि राग - द्वेष विजेता जिन के द्वारा प्ररूपित धर्म जैनधर्म है ।

प्रश्न- धर्म की परिभाषा क्या है ?

उत्तर- धर्म शब्द 'धृ' धारणे धातु से बना है। अत धर्म का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ हुआ "धारणात् धर्म." अर्थात् जो धारण किया जाय, वह धर्म है। जैनागमो मे वस्तु के स्वभाव को भी धर्म कहा है §। प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतत्र स्वभाव होता है। वही स्वभाव उस का धर्म माना जाता है। जैसे—अग्नि का स्वभाव उष्ण है, पानी का स्वभाव शीतल है। अत. अग्नि का धर्म उष्णता है और पानी का धर्म शीतलता। अग्नि का सयोग पा कर पानी भी उष्ण हो जाता है। उस का स्पर्श उष्ण प्रतीत होता है। अधिक उष्ण हुआ तो हाथ आदि शरीर

।उत्तरा., अ. ३२, गा ७।

§वत्थुसहावो धम्मो.।

क अवयवों पर गिरने से उन्हें भी जला देता है । अग्नि के संसर्ग से इतनी विकृति आने पर भी वह अपने मूल स्वभाव को नहीं त्यागता । पानी चाहे जितना गर्म क्यों न हो आग पर डालने पर वह उसे बुझा देगा । गर्म होने पर भी आग को बुझाने का उसका स्वभाव नष्ट नहीं हुआ । इसी तरह आत्मा के अहिंसा,संयम,तप आदि गुणों को या निर्जा स्वभाव को भी धर्म माना है‡। इस के अतिरिक्त नियमोपनियम, विधि निषेध, विधान, परंपरा, व्यवहार, आचरण, कर्त्तव्य, अधिकार, न्याय, सद्गुण, नैतिकता, क्रिया—काण्ड, सत्कर्म आदि अर्थों में धर्म का इस्तेमाल होता रहा है । वैदिक परम्परा मे वेद—विहित विधि-विधान या क्रिया - काण्ड को धर्म माना गया है । बौद्ध परम्परा में धर्म का अर्थ वह नियम, विधान या तत्त्व है, जिस का बुद्ध प्रवर्तन करते है, जिसे धर्म—प्रवर्तन भी कहते हैं ।

इस तरह धर्म शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है । सभी विचारक अपनी-अपनी धारणा या मान्यता के अनुरूप विभिन्न स्थानों पर अनेक तरह से अर्थ करते हैं । अत: धर्म की कोई एक सर्व सम्मत व्याख्या उपलब्ध नही होती है । उस का ऐसा कोई लक्षण नहीं है, जो सभी परम्पराओं को मान्य हो । फिर भी हम इतना कह सकते हैं कि समस्त विचारक इस बात से सहमत हैं कि धर्म मानव विचार और आचार का आवश्यक अंग है । दोनों अंग जीवन विकास के लिए आवश्यक है । एक को हम अन्तरंग कहते हैं और दूसरे को बाह्य । अन्तरंग विचार प्रधान होता है और बाह्य चारित्र प्रधान । इसे हम दर्शन और चारित्र के नाम से भी जान सकते हैं ।

---

‡ "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो" । दशवैकालिक, अ.१,गा.१

प्रश्न– दर्शन और चारित्र में क्या अन्तर है? दोनों में समानता है या नहीं? है तो किस रूप में?

उत्तर- दर्शन और चारित्र मे कितना साम्य है और कितना वैषम्य है? इसे समझने से पहले दर्शन और चारित्र के अर्थ को समझ लेना आवश्यक होगा। उसकी जानकारी के बिना दोनो का भेद और अभेद समझ मे नही आ सकेगा। अत पहले हम दोनो की परिभाषा पर विचार करेंगे।

दर्शन का शाब्दिक अर्थ होता है–दृष्टि। जिसे अग्रेजी मे विजिन (Vision) कहते हैं। यो तो प्रत्येक व्यक्ति देखता ही है। जिस व्यक्ति को आखे मिली है, वह उसका उपयोग करता ही है। उनसे ससार के पदार्थो को देखता–परखता ही है। परन्तु हम यहा जिस 'दृष्टि' का प्रयोग कर रहे हैं, उसका अर्थ आखो से देखना मात्र नही। जन-साधारण की दृष्टि मे और दार्शनिक की दृष्टि मे अन्तर रहा हुआ है। दार्शनिक दृष्टि का उद्भव स्थान आंखे न होकर, बुद्धि है, विवेक है, तर्क है, विचार एव चिंतन-मनन है। सामान्य व्यक्ति जहा आँखो से देखता है, वहाँ दार्शनिक उसी पदार्थ को विचार और चिन्तन-मनन की अत–र्दृष्टि से देखता है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि साधारण दृष्टि बाह्य आंखो से काम लेती है और दार्शनिक दृष्टि अन्तर आखो से अवलोकन करती है। विवेक, विचार, तर्क एव चिन्तन - मनन इन आन्तरिक आखो के ही पर्याय हैं।

प्रत्येक व्यक्ति अपने आस-पास के विविध पदार्थो को देखता है। वह अपने आप को सामाजिक प्राणी समझता है अत वह अपने आप को दुनियावी पदार्थों से घिरा हुआ पाता है। वह ऐसा सोचता है कि इन चीजो से मेरा कोई न कोई सबध अवश्य जुडा हुआ

है। परन्तु मैं किस रूप मे ससार के पदार्थों के साथ संबद्ध हूँ? जब मानव मन मे यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब उस मे विवेक जागृत होता है। उसकी बुद्धि कार्य मे प्रवृत्त होती है, चिन्तन-मनन का प्रवाह प्रवहमान हो उठता है। इसी को दर्शन कहते हैं। दर्शन का मुख्य काम है जीवन और जगत का परिज्ञान करना। दार्शनिक जीवन और जगत को खण्डश नही देखता। वह दोनो के अखण्ड स्वरूप का अध्ययन करता है, चिन्तन - मनन एव दर्शन करता है। वह अपनी बौद्धिक एव वैचारिक शक्ति का उपयोग प्रत्येक तत्त्व की गहराई तक पहुँचने मे करता है। उसका अन्वेषण समय या स्थान विशेष से बधा हुआ नही होता है। सच्चा दार्शनिक सम्पूर्ण काल और सत्ता का द्रष्टा होता है†। उसके सोचने-विचारने का क्षेत्र एव चिंतन-मनन की दृष्टि विशाल एवं विस्तृत होती है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ज्ञान की अपेक्षा दर्शन का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। विचार-शक्ति की सभी शाखाएँ, ज्ञान-विज्ञान की सभी धाराएँ दर्शन के अन्तर्गत आ जाती हैं। वह ज्ञान की प्रत्येक धारा का चिन्तन-मनन एव अवलोकन करता है। विश्व के सभी तत्त्वो का दर्शन करता है। इससे हमारे कहने का यह तात्पर्य नही है कि वह सारे विश्व को प्रत्यक्ष रूप से देखता है। जब हम यह कहते है कि दर्शन सपूर्ण विश्व का चिन्तन करता है, तब इस का अर्थ यह समझना चाहिए कि वह विश्व के मूलभूत सिद्धान्तो का, तत्त्वो का दर्शन करता है या जानकारी करता है। जगत के मूल मे कौन सा तत्त्व काम कर रहा है? जीवन का उस के साथ क्या संबंध है? आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्वो की सत्ता मे क्या अन्तर है? दोनो मे सामन्जस्य बैठ सकता है या नही? वास्तविक तत्त्व या सत्य की कसौटी क्या है? ज्ञान और बाह्य पदार्थ के बीच क्या संबंध है? इत्यादि तथ्यो का अन्वेषण करना दर्शन का मुख्य

†The spectator of all times and existence Plato.

प्रयोजन है । अन्वेषण का काम भौतिक विज्ञान भी करता है । परन्तु दर्शन की विशेषता यह है कि वह भौतिक विज्ञान की तरह केवल जगत का या पदार्थों (तत्त्वो) का विश्लेषण ही नही करता प्रत्युत उसकी उपयोगिता पर भी चिन्तन-मनन करता है, सोचता-विचारता है । उपयोगितावाद ही दर्शन की अपनी विशेषता है। इसी सूझ - बूझ के आधार पर वह जीवन के सही तथ्य को जानने - समझने की घोषणा करता है। यह नितान्त सत्य है कि जीवन और जगत का घनिष्ट सवध है । हम जीवन को जगत से सर्वथा पृथक् नही कर सकते, उसे एक दम झुठला नही सकते। अत जगत के स्वरूप को समझने के पूर्व जीवन के स्वरूप को समझने की आवश्यकता है । जीवन की वास्तविकता को समझने वाला व्यक्ति जगत के सही स्वरूप का भी परिज्ञान कर लेता है,—यह सहज समझ मे आने वाला सत्य है§ ।

चारित्र का सरल और सीधी भाषा मे अर्थ होता है—आचरण । मनुष्य अपने विचारो के अनुरूप जो प्रवृत्ति करता है, उसे आचरण कहते हैं। साधारणत प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी रूप मे आचरण करता ही है। क्योकि प्रवृत्ति जीवन का एक अग है। उस का प्रवाह जीवन मे सतत रूप से प्रवहमान रहता है। फिर भी सभी मनुष्यो के आचरण को चारित्र नही कहते । किसी भी कार्य मे प्रवृत्त होने का नाम चारित्र नही है। चारित्र शब्द का प्रयोग हम उस आचरण या प्रवृत्ति के लिए करते है, जिससे आत्मा का अभ्युदय होता हो या नि श्रेयस् (मुक्ति) की साधना सधती हो। अत- वे सारी प्रवृत्तियाँ चारित्र है, जो आध्यात्मिक प्रगति मे सहायक है या यो कह सकते है कि वे सभी प्रवृत्तिये चारित्र हैं, जिनके द्वारा महापुरुषो ने मुक्ति को प्राप्त किया है या मुक्ति

§ जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ । आचाराग ३

के पथपर वढ़ने का मार्ग वताया है। इसके अतिरिक्त,सामाजिक नियमो रीति-रिवाजो, परम्पराओ, विधि-विधानो एव जीवन की नैतिकता को भी चारित्र या आचरण के नाम से पुकारते हैं। नैतिक जीवन से भटक जाने वाले व्यक्ति को आचार या चारित्र भ्रष्ट या भ्रष्टाचारी कहना वोलचाल की भाषा वन गई। इतनी लम्वी चर्चा के वाद हम इस नि-ष्कर्ष पर पहुचे कि जीवन को उन्नत बनाने वाली, ऊपर उठाने वाली प्रवृत्ति का नाम चारित्र है।

यह हम देख चुके है कि दर्शन और चारित्र पृथक्-पृथक् है। दोनो का विषय स्वतत्र है। दोनों का कार्य क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न है। दर्शन का क्षेत्र विचार प्रधान है और चारित्र का आचार प्रधान । दर्शन का काम पदार्थो के स्वरूप को जानना-समझना है। जीव और जगत के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान करना है। और चारित्र का काम नि.श्रेयस् (मुक्ति) के मार्ग मे प्रतिवन्धक प्रवृत्तियों का परित्याग करना तथा ससार के वन्धन से छुड़ाने वाली प्रवृत्तियो का आचरण करना है । इस दृष्टि से दर्शन और चारित्र दोनो का विषय भिन्न है । विषय की दृष्टि स भिन्न होते हुए भी दोनो का परस्पर घनिष्ट सबंध है । दोनो एक दूसरे के सहयोगी हैं, परिपूरक हैं। चारित्र रूप धर्म मुक्ति का रास्ता है, परन्तु उस पथ पर गति करने के पहले यह जानना भी अत्यावश्यक है कि ससार क्या है? कर्म क्या है? कर्मवन्ध का कारण क्या है तथा उस से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इन सव का परिज्ञान हुए विना चारित्र का परिपालन करना कठिन ही नही, असभव है । और ससार के पदार्थो एव उसके स्वरूप का परिज्ञान करके उस से छुटकारा पाने हेतु चारित्र का पालन न हो तो उस ज्ञान या जानकारी मात्र से आत्मा का विकास होना भी असभव है। अत भगवान् महावीर की भाषा मे सिर्फ पदार्थो की जानकारी कर लेनें से भी मुक्ति नही होती और न केवल

चारित्र से ही मुक्ति की साधना सधती है । मुक्ति की प्राप्ति के लिए दोनो का समन्वय होना जरूरी है ‡। क्योकि दर्शन आख है तो चारित्र पैर है। दर्शन के अभाव मे चारित्र गति तो कर सकेगा परन्तु दृष्टि का अभाव होने से वह सही एव गलत मार्ग को नही समझ सकेगा । इससे वह गलत मार्ग पर भटक जायगा, नरक के गर्त मे गिर जायगा। इसी तरह चारित्र के अभाव मे दर्शन देख तो सकता है परन्तु गति नही कर सकता। वह मुक्ति पथ का अवलोकन करता है, पर पहुच नही सकता। अपने लक्ष्य पर पहुचने के लिए दोनो के समन्वय की आवश्यकता है । दर्शन से चारित्र निखरता है और चारित्र से दर्शन की प्रतिष्ठा है। अत दोनो का सबध सहज ही समझ मे आ जाता है।



स्याद्वाद या अनेकान्त

प्रश्न– जैन परंपरा में विचारों को अभिव्यक्त करने का, तत्त्व-निरूपण का क्या तरीका रहा है? कुछ दार्शनिकों ने एकान्त नित्यत्व की भाषा का प्रयोग किया है, तो कुछ विचारकों ने एकान्त अनित्यत्व की भाषा का सहारा लिया है, जैनों ने कौन सी भाषा में विश्लेषण किया है?

उत्तर– जैन विचारको ने दुनिया के सभी पहलूओ पर गहराई से चिन्तन - मनन किया है । उन की तत्त्व-निरूपण की शैली अपूर्व रही है। जहा अन्य दार्शनिको ने एकागी दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का चिन्तन - मनन एव निरूपण किया, वहा जैनो ने अनेकागी दृष्टि से

‡ ज्ञान–क्रियाभ्या मोक्ष, या, सम्यदर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग -

—तत्त्वार्थ सूत्र १, १

अवलोकन किया। भगवान महावीर एवं उनके पूर्व में हुए अन्य सभी तीर्थंकरों ने वस्तु के स्वरूप का वर्णन एकांत दृष्टि से नहीं, प्रत्युत अनेकान्त दृष्टि से किया है। क्योंकि दुनिया में स्थित प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण युक्त है। अतः उसके एक गुण को पकड़ कर अन्य गुणों की उपेक्षा करना वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझना है। उस के वास्तविक स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए, प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित अनेक गुणों का अवलोकन एवं प्रत्यक्षीकरण करने के लिए, अनेकान्त अर्थात् अनेक तरह से समझने की दृष्टि होनी चाहिए।

श्री भगवती सूत्र (विवाह-प्रज्ञप्ति सूत्र) तथा कल्प सूत्र की टीका में वर्णन आता है कि भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में (केवलज्ञान प्राप्त करने के पहले) १० स्वप्न देखे*। उन दस स्वप्नों में भगवान् महावीर ने एक विचित्र पंख युक्त कोयल का भी एक स्वप्न देखा §। उक्त स्वप्न के फल का वर्णन करते हुए आगम में बताया गया है कि भगवान् महावीर स्वपर सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले विचित्र द्वादशांग का उपदेश देंगे †। आगम के इन पृष्ठों का अनु-

* "समणे भगवं महावीरे छउमत्थ - कालियाए अंतिमराइयंसि इमे दस महासुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।"

— भगवती सूत्र(पं बेचरदास दोसी) श १६, उ ६ पृष्ठ १७

§ "एगं च णं महं चित्तविचित्तपक्खगं पुंसकोइलं — सुविणे पासित्ता णं पडिबुद्धे।"

— भगवती सूत्र, वही

† "जण्णं समणे भगवं महावीरे एगं महं चित्तविचित्त-जाव-पडिबुद्धे तण्णं समणे भगवं महावीरे विचित्तं ससमयपरसमइयं दुवालसंगं-गणिपिडगं आघवेति, पन्नवेति, परूवेति, दंसेति, निदंसेति, उवदंसेति।"

—भगवती सूत्र, वही पृष्ठ १८

शीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमकार ने कितने सुन्दर सरस और सरल ढग से सिद्धांत का निरूपण किया है । चित्रविचित्र पख वाले पुसकोकिल का अर्थ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद ही है । द्वादशाग सूत्रो मे आदि से अन्त तक स्याद्वाद भाषा का ही प्रयोग हुआ है । भगवान् की वाणी एक वर्ण के पख वाली कोकिल के समान नही, चित्रविचित्र पख युक्त कोकिल की तरह है । जहा एक ही वर्ण के पख होते है वहा एकात होता है और एकातवाद वस्तु के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करने मे असमर्थ है, अत भगवान् महावीर को एकान्त इष्ट नही था । दूसरी वात यह है कि वस्तु अनेक गुण युक्त है और उसके अनेक गुणो को एक दृष्टि से नही अपितु अनेक अपेक्षाओ से ही जाना जा सकता है । वस्तु अनेक गुण युक्त है अत. उस को जानने वाला ज्ञान भी अनेक अपेक्षाओ से युक्त होता है । तीर्थंकर सर्वज्ञ बनने के वाद केवलज्ञान मे दुनिया मे स्थित सभी वस्तुओ को भली-भाति जानते-देखते है । अत. केवलज्ञान अनेकान्त या स्याद्वाद पूर्वक होता है और यह स्वप्न भी भगवान् ने केवलज्ञान होने के पूर्व ही देखा था । अस्तु, इस उदाहरण के द्वारा यह वताया गया है कि भगवान् महावीर ने तत्त्वो का निरूपण अनेकान्त दृष्टि से किया है ।

आगमो मे जो त्रिपदी— उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का वर्णन आता है, यह अनेकान्तवाद ही है । ऐसा माना जाता है कि तीर्थंकरो को केवलज्ञान होने के वाद जव गणधर अपनी शकाओ का समाधान प्राप्त करके उनके पास दीक्षित होते है तव पहले उन्हें उक्त त्रिपदी का उपदेश देते हैं और उसी के आधार पर वे गणधर चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर लेते है । अस्तु, चौदह पूर्व या यों कहिए समस्त पदार्थो के ज्ञान का मूल त्रिपदी मे सन्निहित है । भगवान् महावीर ने इसी का प्रतिपादन किया है । उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि प्रत्येक द्रव्य

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। ससार मे कोई भी द्रव्य (पदार्थ) ऐसा नही है कि जो एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य हो। जहां नित्यता की प्रतीति होती है वहा अनित्यता की अनुभूति भी अवश्य होती है और जहां अनित्यता दिखाई देती है वहां नित्यता का भी अस्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। दोनो अवस्थाएँ सापेक्ष हैं। एक अनुभव में दूसरे अनुभव की प्रतीति अवश्य होती है। जव किसी द्रव्य मे नित्यता की प्रतीति होती है तो उसी क्षण उसी पदार्थ मे अनेक तरह की अनित्यता का भी अनुभव होता है। इसी तरह जव अनित्यता की प्रतीति होती है तव उसी समय उस पदार्थ मे नित्यता की अनुभूति भी होती है। यही वस्तु की अनेकरूपता है। इसी अपेक्षा को ध्यान मे रखकर द्रव्य पदार्थ को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहा है। जैसे स्वर्ण का ककण वनाया और उस ककण को तोड़ कर बटन वनाए। इस तरह हम देखते हैं कि स्वर्ण की डली रूप का नाश हुआ और ककण रूप का उत्पादन हुआ तथा फिर ककण रूप नाश और वटन रूप का उत्पाद हुआ। इस प्रकार आकार-प्रकार वदलता रहा परन्तु उन सभी वदलने वाले आकारो मे स्वर्ण का स्वर्णत्व कायम रहा, उसका नाश नही हुआ। अत. हम कह सकते हैं कि द्रव्य (स्वर्णत्व) की अपेक्षा से सोना नित्य है और कंकण आदि पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य। इसी तरह संसार का प्रत्येक द्रव्य द्रव्यत्व रूप से नित्य है और पर्याय रूप से अनित्य। प्रत्येक द्रव्य की पुरातन पर्यायो का नाश होता है और नई पर्यायो का उत्पाद होता है और इस परिवर्तन की स्थिति मे भी द्रव्य का नाश नही होता, उसका अपना स्वरूप सदा स्थित रहता है। अत. प्रत्येक द्रव्य नित्यानित्य है। कोई भी द्रव्य न एकान्त नित्य है और न एकान्त अनित्य।

❀❀❀

विभज्यवाद और अनेकान्तवाद

तथागत बुद्ध ने भी अनेकान्त का सहारा लिया है। मज्झिमनिकाय में माणवक के -गृहस्थ आराधक होता है या नही? इस प्रश्न का उत्तर एकान्त हा या न के स्वर में न देकर इस प्रकार दिया है कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यावादी है तो वह निर्वाणमार्ग का आरावक नही हो सकता और श्रमण भी यदि मिथ्यावादी है तो वह भी उस मार्ग की अराधना - सावना नही कर सकता। उभय साधक यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न है तो दोनो आराधक हो सकते हैं। यहां बुद्ध ने अपने आप को विभज्यवादी कहा है। किसी प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देना कि यह ऐसा ही है या ऐसा नही है, एकांगवाद है और बुद्ध को यह एकांगवाद इष्ट नहीं है। अत. उस ने माणवक के प्रश्न का उत्तर विभाजनपूर्वक दिया है।

भगवान् महावीर ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। श्रमण-निर्ग्रन्थ को कैसी भाषा वोलनी चाहिए; इसका उत्तर देते हुए कहा है कि श्रमण विभज्यवाद की भाषा वोले ‡। इस का अर्थ स्याद्वाद या अनेकान्तवाद किया है। इसे स्याद्वाद, अपेक्षावाद, अनेकान्तवाद और विभज्यवाद भी कहते है। सव का तात्पर्य यही है कि वस्तु सापेक्ष है, अतः प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा से समझना चाहिए।

तथागत बुद्ध ने भी विभज्यवाद का उल्लेख किया है और भगवान् महावीर ने भी उसका उपदेश दिया है, फिर दोनो में अन्तर क्या रहा, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है? यह सत्य है कि तथागत बुद्ध ने कई प्रश्नों का उत्तर विभज्यवाद की भाषा मे दिया है, परन्तु उन के

‡ "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा"

- सूत्रकृताग सूत्र, १, १४, २२.

विभज्यवाद का उतना विस्तार नहीं हुआ जितना भगवान् महावीर के विभज्यवाद या स्याद्वाद का हुआ है। बुद्ध ने विभज्यवाद का प्रयोग सीमित दायरे मे किया है, जबकि महावीर ने सभी प्रश्नों का उत्तर देते समय अनेकान्तवाद का प्रयोग किया है। तथागत बुद्ध और श्रमण भगवान् महावीर के विभज्यवाद सिद्धात मे यही अन्तर है कि एक सकुचित दायरे मे ही रहे तो दूसरे ने उस का उपयोग विस्तृत क्षेत्र मे किया।

माणवक और बुद्ध की तरह भगवान् महावीर के साथ गौतम, जयन्ती, जमाली, खधक, गांगेय अनगार आदि कई श्रमण एव गृहस्थों के प्रश्नोत्तर हुए हैं। भगवती सूत्र इन प्रश्नोत्तरो से भरा पड़ा है। उन मे से हम कुछ उदाहरण यहा देंगे, जिस मे श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध के बीच रहा हुआ अन्तर स्पष्ट हो जाए।

जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा कि भगवन्! जीव का सोना अच्छा है या जागना? बलवान होना अच्छा है या निर्बल? भगवान् महावीर ने इसका उत्तर एकान्त हा या न में न देकर, उभयात्मक रूप से दिया है। एक अपेक्षा से जीव का सोए रहना अच्छा है, तो दूसरी अपेक्षा मे जागते रहना श्रेयस्कर है। इसी तरह एक दृष्टि से जीवो का सबल होना श्रेष्ठ है, तो दूसरी दृष्टि से निर्बल होना। इस के कारण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्मानुगामी हैं, अधर्मिष्ठ है, अधर्माख्यायी हैं, अधर्म-प्रलोकी हैं, अधर्म-प्ररंज्जन हैं, अधर्म-समाचार हैं, अधर्म वृत्ति वाले हैं वे सुषुप्त रहे यह अच्छा हैं, क्योंकि वे जबतक सोते रहेंगे तब तक छ काय के जीव त्रास एवं उत्पीडन से बचे रहेंगे और वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक प्रवृत्ति मे प्रवृत्त नही करेंगे। जो जीव धार्मिक आदि हैं उन का जागना श्रेयस्कर है। क्योंकि वे जगत के जीवो का कल्याण करने

वाले है, उन से सव प्राणियो को सुख - शाति मिलती है। इसी तरह अधार्मिक जीवो का निर्वल होना अच्छा है, जिस से वहुत से जीव सताप से वचे रहेंगे। धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्तियो का सवल होना अच्छा है। क्योकि वे अपनी ताकत से अनेक प्राणियो को सुख देगे*।

इसी तरह भगवान् महावीर से जमाली ने यह पूछा कि लोक नित्य है या अनित्य§? खधक ने पूछा कि लोक सान्त है या अनन्त है‡? जीव की नित्यता - अनित्यता पर भी पूछा गया†? इस तरह के और भी अनेक प्रश्न पूछे गए, जिन का महावीर ने स्याद्वाद की भाषा मे उत्तर दिया। परन्तु वुद्ध ने इन प्रश्नो को अव्याकृत कह कर टाल दिया। इसलिए वुद्ध का विभज्यवाद विस्तार नही पा सका। उन्होने लोक की नित्यता-अनित्यता, सान्तता-अनन्तता तथा जीव की नित्यता-अनित्यता जैसे गभीर एव महान् प्रश्नो का विभज्यवाद की भाषा मे उत्तर न देकर उनकी उपेक्षा कर दी। परन्तु भगवान् महावीर ने किसी भी प्रश्न की उपेक्षा नही की। उन्होने जमाली के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा-जमाली! लोक शाश्वत-नित्य भी है और अशाश्वत-अनित्य भी। क्योकि वह सदा वना रहता है। अतीत, अनागत और वर्तमान तीनो कालो मे कोई भी ऐसा समय नही मिलता, जवकि लोक का अस्तित्व नही रहा हो या नही रहेगा, इसलिए वह शाश्वत-नित्य है। और लोक हमेशा एक रूप मे स्थित नही रहता। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप काल चक्र मे परिवर्तित होता रहता है,

* भगवती सूत्र १२, २, ४४३।

§ भगवती सूत्र ८, ३३, ३८७।

‡ भगवती सूत्र २, १ ८०/४।

† भगवती सूत्र ७, २, २७३।

अत. वह अनित्य भी है। इसी प्रकार लोक की सान्तता-अनन्तता का उत्तर देते हुए कहा गया है कि लोक चार प्रकार का है— १– द्रव्य लोक, २– क्षेत्र लोक, ३–काल लोक, ४– भाव लोक। द्रव्य की अपेक्षा लोक द्रव्य एक है, अत वह सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोक असंख्यात योजन कोटा-कोटि विस्तार और परिक्षेप वाला कहा गया है, अत वह सान्त है। काल से सदा विद्यमान है, अत. वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। उस का कही अन्त नही है। भाव की अपेक्षा से लोक के अनन्त वर्णपर्याय, गधपर्याय, रसपर्याय, और स्पर्शपर्याय हैं, अत वह अनन्त है। इस तरह द्रव्य और क्षेत्र से लोक सान्त है, तो काल और भाव की अपेक्षा से अनन्त है।

इसी तरह जीव की नित्यता-अनित्यता के सबध मे गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा कि हे गौतम! जीव नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा से जीव नित्य है, शाश्वत है, क्योकि वह कभी भी जीव से अजीव नही होता। परन्तु उसकी ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती है, अत. पर्याय-परिवर्तन की अपेक्षा से वह अनित्य है। इस तरह जीव नित्यानित्य है। अन्य प्रश्नों के उत्तर में भी भगवान् महावीर की यही भाषा रही है। उन्होंने बुद्ध की तरह किसी भी प्रश्न को अव्याकृत कह कर उस की उपेक्षा नही की। प्रत्येक प्रश्न का सापेक्ष भाषा मे समाधान किया और सारी दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए समन्वय का मार्ग प्रस्तुत किया। इस तरह हम देख चुके हैं कि तथागत बुद्ध के विभज्य-वाद से श्रमण भगवान् महावीर का विभज्यवाद अधिक विस्तृत और स्पष्ट था। उसमे सशय, अस्पष्टता का जरा भी धुंधलापन नही था।

❀❀❀

एकान्तवाद और अनेकान्तवाद (स्याद्वाद)

वस्तु का साक्षात्कार करने के लिए अनेक दृष्टिया हैं । एकान्तवादी उन मे से किसी एक दृष्टि का समर्थन करते है, जैसा कि उन के नाम से ही स्पष्ट है । ये वाद सदा दो विरोधी रूपो मे दिखाई देते हैं। कभी नित्य और अनित्य के रूप मे इनके दर्शन होते है, तो कभी सामान्य और विशेष के रूप मे, कभी सत् और असत् के रूप मे, कभी निर्वचनीय और अनिर्वचनीय के रूप मे और कभी हेतु और अहेतु के रूप मे परिलक्षित होते है। एकान्त मान्यता के आग्रह के कारण दोनो वाद सदा आपस मे टकराते रहते है। वे निरन्तर एक दूसरे का विरोध करने मे ही सलग्न रहते हैं।

नित्यवादी आत्मा मे किसी तरह का परिवर्तन ही नही स्वीकार करते, तो अनित्यवादी पर्यायो की बदलती हुई स्थिति को ही देख पाते हैं, वे उस पर्याय परिवर्तन को सभी स्थितियो मे स्थित रहने वाले आत्मा की अनुभूति करते हुए भी उसे मानने से इन्कार करते है। कुछ विचारक अद्वैतवाद को जगत का मौलिक तत्त्व मानते हैं, द्वैत या भेद-जो स्पष्ट दिखाई देते है, उन्हे मिथ्या कहकर ठुकरा देते हैं,इस तरह वे केवल-सामान्य को ही स्वीकार करते है। तो दूसरे भेदवाद के समर्थक एकान्त भेद को ही एकमात्र प्रमाण मानते है। उनकी दृष्टि मे वस्तु का विशेष स्वरूप ही वास्तविक है, सामान्य स्वरूप है ही नही। सद्वाद को मानने वाले किसी भी द्रव्य मे होने वाले उत्पाद और विनाश को सही नही मानते। इस के विपरीत असद्वादी प्रत्येक कार्य को अभिनव मानते हैं। उनके विचारानुसार कारण मे कार्य नही रहता, प्रत्युत उस से सर्वथा भिन्न एक अभिनव तत्त्व उत्पन्न होता है। कुछ एकान्तवादी विचारक दुनिया को अनिर्वचनीय मानते है। उन के मत मे दुनिया—जगत को न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही अथवा उसके लिए हम किसी

शब्द का प्रयोग ही नही कर सकते, तो कुछ विचारको ने कहा कि हम जगत के प्रत्येक पदार्थ का निर्वचन कर सकते हैं । हेतुवादियों का कहना है कि दुनिया के प्रत्येक तत्त्व को तर्क मे जाना जा सकता है और अहेतुवादी तर्क के सर्वथा विरोधी हैं। उन का कहना है कि किसी भी तत्त्व का निर्णय करने मे तर्क समर्थ नहीं है। इस तरह एकान्तवाद पर आधारित मत सदा परस्पर टकराते रहते है। क्योकि जहाँ एक विचार का समर्थन और दूसरे की उपेक्षा या विरोध होता है, वही टक्कर होती है। पुरातन काल से चले आ रहे दार्शनिक संघर्ष एव कलह - कदाग्रह तथा वर्तमान मे चल रहे सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो का मूलकारण एकान्तवाद ही है । अपने विचारो का एकान्त आग्रह और दूसरे के विचारो का तिरस्कार करने की दुर्भावना ही संघर्ष की जननी है ।

यह हम ऊपर बता आए है कि वस्तु अनेक धर्म युक्त है। उस मे एकान्तता जैसी कोई बात नही है। अस्तु, अपेक्षा दृष्टि से देखते हैं तो सभी विचारक सत्य के एक अंग का प्रत्यक्ष करते हुए दिखाई देते हैं। जैन दर्शन मे इसे नयवाद कहते है, उस मे कोई नय वस्तु का सामान्य दृष्टि से अवलोकन करता है, तो कोई विशेष स्वरूप को ध्यान में रख कर वस्तु का विश्लेषण करता है और दोनो दृष्टिये सही हैं। क्योकि दोनो दृष्टिये वस्तु का अवलोकन अपनी-अपनी दृष्टि से करती हैं और साथ में दोनों एक - दूसरे विचारों का आदर भी करती हैं। सामान्य दृष्टि विशेष का सर्वथा तिरस्कार नही करती और विशेष दृष्टि सामान्य की एकान्तत उपेक्षा नही करती। यही कारण है कि एक दृष्टि का समर्थन करने पर भी वे सत्य के निकट है, वस्तु को जानने मे समर्थ है और उनमे परस्पर टक्कर भी नही होती। और जब यह नय अपनी दृष्टि के समर्थन के साथ दूसरी दृष्टि का तिरस्कार करने लगता है,

तव वह सत्य का अनुसधानकर्त्ता न रहकर सघर्ष का कारण वन जाता है और उस स्थिति मे उसे जैन परिभाषा मे दुर्नय कहा है। अस्तु, एकान्तवाद असत्य है, वस्तु का निर्णय करने में असमर्थ है और सघर्ष का कारण है। इसलिए भगवान् महावीर को एकान्तवाद स्वीकार नही है। वे वस्तु को सापेक्ष दृष्टि से देखते है।

स्याद्वाद और सप्तभंगी

हम इस वात को स्पष्ट कर चुके हैं कि वस्तु मे स्थित अनेक धर्मो का सापेक्ष दृष्टि से विवेचन करने का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद मे किसी भी विचार या मत का तिरस्कार नही किया जाता अपितु अपेक्षा से वस्तु के स्वरूप का अवलोकन किया जाता है। उदाहरण के तौर पर जव हम यह विचार करते हैं कि वस्तु सत् है, उस समय उस-का दूसरा पहलू असत् भी हमारे सामने आ जाता है। हम उसका एक दम तिरस्कार नही कर सकते। क्योकि असत् भी वस्तु मे मौजूद है। यदि हम एकान्तत सत् या असत् को ही स्वीकार करते है और उसके दूसरे पक्ष को नही स्वीकार करते हैं तो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रत्यक्ष कर ही नही सकते। यदि वस्तु एकान्त सत् रूप है तो फिर पदार्थों मे स्थित वैचित्र्य एव पृथक्त्व घटित ही नही होगा। उदाहरण के तौर पर घट-पट का पृथक् अस्तित्व ही नही रह जाएगा। क्योकि घट भी सत् है और पट भी सत् है। अत घट, पट वन जायगा या पट, घट वन जायगा। इस तरह दुनिया के सभी पदार्थ एक ही स्वरूप को प्राप्त हो जाएंगे। परन्तु ऐसा होता नहीं है। सब पदार्थो का अपना-अपना स्वतत्र अस्तित्व है। इस से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वस्तु सत् भी है और असत् भी। घट घट रूप से सत् है, तो पट रूप से असत् भी है। पट पट रूप से सत् और घट रूप से असत् है, इस तरह वह सद-

सद् है और उभय रूप से अवक्तव्य है। इसी तरह वह सत् अवक्तव्य, असत् अवक्तव्य और उभय रूप अवक्तव्य है। ऐसे वस्तु का सात भगो से विवेचन किया जा सकता है।

कुछ विचारकों का कहना है कि एक ही पदार्थ में दो विरोधी धर्म नही पाए जा सकते। परन्तु उनका यह कथन सत्य से परे है। उन का विरोध केवल विरोध के लिए है, क्योंकि वस्तु मे स्थित दो या दो से अधिक विरोधी धर्म स्पष्टतः प्रतीत होते हैं। कई एकान्तवादी विचारको के ग्रन्थो मे इसका उल्लेख मिलता है। सत् असत् और अनुभय अर्थात् न सत् और न असत् इन तीन पक्षों का झलक हमें ऋग्वेद के नारदीय सूक्त मे मिलती है। दो विरोधी पक्षों का एक वस्तु मे होना तो उपनिषत्कार को भी मान्य है। उदाहरण के तौर पर हम यहा उपनिषदों से कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं—

'तदेजति तन्नैजति *'
'अणोरणीयान् महतो महीयान् ‡'
'सदसद्वरेण्यम् †'

इत्यादि वाक्यो मे एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्मों का उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् मे हमें तीसरा अनुभय भंग भी मिलता है। उपनिषदो एवं बौद्ध ग्रंथो मे चतुर्भंगी का उल्लेख भी मिलता है। तथागत बुद्ध ने चारो पक्षो को अव्याकृत कहा है। बुद्ध से पूछा गया कि—

मरणान्तर तथागत है?

---

* इशोपनिषद् ५.

‡ कठोपनिषद् १,२,२०.

† मुण्डकोपनिषद् २,२,१.

मरणान्तर तथागत नही है?
मरणान्तर तथागत है और नही है?
मरणान्तर न तथागत है, न नही है?

बुद्ध ने इन चारो पक्षो को अव्याकृत कहकर टाल दिया। सजय-वेलट्ठिपुत्त भी इस प्रकार के चार पक्ष युक्त प्रश्नो का उत्तर न हा की भाषा मे देता है और न 'नकार' की भाषा में।

इससे हम इस निर्णय पर पहुचे कि एक ही वस्तु मे अनेक धर्मो का होना अनुभव गम्य है। भगवान् महावीर संजयवेलट्ठिपुत्त की तरह सशयवादी नही है और न वे बुद्ध की तरह सकुचित दायरे मे ही आबद्ध है। वे प्रत्येक प्रश्न का निश्चयात्मक (सन्देहरहित) भाषा में उत्तर देते हैं। उनका उत्तर एकान्तवाद की भाषा मे नही, अनेकान्तवाद की भाषा मे होता है। वे प्रत्येक वस्तु का अपेक्षा से विश्लेषण करते हैं, जिस के सात विकल्प बनते हैं, उसे सप्तभगी कहते है। सप्तभगी का विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र मे देखा जा सकता है। जैन दार्शनिको ने भी आगम की सप्तभगी को स्वीकार किया है। उसी को आधार मानकर उन्होने तत्त्व का विश्लेषण किया है। सात भग निम्न हैं—

१—स्यात् अस्ति, २—स्यात् नास्ति, ३—स्यात् अस्ति नास्ति, ४—स्यात् अवक्तव्य (न अस्ति, न नास्ति), ५—स्यात् अस्ति अवक्तव्य, ६-स्यात् नास्ति अवक्तव्य, और ७—स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। उक्त सात भगो में मौलिक अस्ति और नास्ति दो भग है। शेष चार या सात भग अस्ति-नास्ति की ही अवस्थाए विशेष हैं। अस्ति और नास्ति एक नही हो सकते हैं। क्योंकि दोनो विरोधी धर्म हैं।

उपरोक्त सात भगो मे पहला भंग विधि के आधार पर है। इस भग मे घट के अस्तित्व का विधि-पूर्वक विवेचन किया गया है।

दूसरे भंग मे निषेध की भाषा का व्यवहार किया गया है।

पहले भग मे विधि की स्थापना की गई है और दूसरे में उसका प्रतिपेध किया गया है ।

तीसरे भग मे क्रमश दोनो का प्रतिपादन किया गया है ।

चौथा भग विधि और निषेध को युगपत् प्रतिपादन करता है । और युगपत् प्रतिपादन करना वाणी की शक्ति से वाहर है, अत इस भग को अवक्तव्य भग कहते है ।

पाचवाँ भग विधि और युगपत् विधि – निषेध का प्रतिपादन करता है । यह भग पहले और चौथे भग के सयोग से वना है ।

छठा भग निपेध और अवक्तव्य का प्रतिपादन करता है । अत. वह दूसरे और चौथे के सयोग से वना है ।

सातवां भग उभयात्मक और अवक्तव्य का प्रतिपादन करता है । अत वह तीसरे और चौथे के सयोग से वना है ।

इस तरह जब हम कहते हैं कि कथचित् घट है तो उसका यह अर्थ नही है कि घट के पूरे रूप के सबध मे हमे सशय है । यह कथन सशय की भापा मे नही, निश्चय की भापा मे है । जैनो ने वस्तु का विवेचन स्याद्वाद की भापा मे किया है । अत वे एक अपेक्षा को ले कर प्रतिपादन करते हैं । परन्तु उस अपेक्षा मे उन्हे किसी तरह का सशय नही है । पूरे निश्चय के साथ वे वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं । घट कथचित् है, इसका अर्थ इतना ही है कि वह किसी अपेक्षा से है । क्योकि 'है' के साथ 'नही है' यह भी जुडा हुआ है । यदि 'है' केवल इतना ही मानेंगे, 'नही है' का सर्वथा तिरस्कार कर देगे तो ससार के सभी पदार्थ घट रूप हो जाएँगे । फिर घट-पट का भेद रह ही नही जायगा । अत. कथचित् या स्यात् कहने का तात्पर्य यह है कि घट स्वरूप की अपेक्षा से है और पर रूप की अपेक्षा से नही है, इसी वात को दार्शनिक भापा मे यो कह दीजिए कि घट घटत्व रूप से सत् है और पटत्व रूप से असत्

है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से स्वरूप और पररूप का विवेचन करना भी अप्रासगिक नही होगा। जैसे घट का द्रव्य मिट्टी है, वह मिट्टी से बनता है। अत. जिस द्रव्य से घट बना है उस द्रव्य की अपेक्षा से सत् है और शेप द्रव्य की अपेक्षा से असत् है। जिस क्षेत्र मे घट स्थित है उस क्षेत्र की अपेक्षा से वह सत् है और अन्य सभी क्षेत्रो की अपेक्षा से असत् है। जिस काल मे घट मौजूद है उस काल की अपेक्षा से सत् है, शेप काल की अपेक्षा से असत् है। भाव का तात्पर्य है- पर्याय या आकारविशेष। जिस पर्याय या आकारविशेष का घट है, उस पर्याय एव आकार की अपेक्षा से वह सत् है, शेष पर्यायो एवं आकारो की दृष्टि से असत् है। अस्तु, प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा से सत् है और परद्रव्य, परक्षेत्र, पर-काल और परभाव की अपेक्षा से असत् है। इसलिए कथचित् या स्यात् शब्द का प्रयोग इस बात को सूचित करने के लिए किया जाता है, न कि सशय के कारण। स्यात् शब्द लगा देने से वस्तु की सापेक्षता का पता लग जाता है। इस के अभाव में एकान्तवाद के प्रयोग होने का भय बना रहता है। अत. अनेकान्त या स्याद्वाद की भाषा मे स्यात् या कथचित् का प्रयोग होना जरूरी है।

आक्षेप और समाधान

कुछ विचारक स्याद्वाद की आलोचना करते हुए उसे पागलो का प्रलाप कहते है। यह उनके अज्ञान या साम्प्रदायिक अभिनिवेष का ही कारण हो सकता है। अन्यथा वे ऐसा कहने का साहस नही करते। हमे यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि दार्शनिको ने स्याद्वाद को समझने का प्रयत्न ही नही किया। उन्होने जो स्याद्वाद की आलोचना की वह भी सुने - सुनाये विचारो पर से ही की है, ऐसा प्रतीत होता

है। किसी भी दार्शनिक ने जैनों के स्याद्वाद का अनुशीलन करके आलोचना की हो ऐसी सभावना कम ही लगती है। यदि ऐसा होता तो उनकी आलोचना का दूसरा रूप होता। उस दार्शनिक युग की वात छोड़िए, आज भी जैन दर्शन के ग्रन्थो का प्रकाशन हो गया और वे सर्वत्र उपलब्ध भी है, फिर भी वहुत से विद्वान् दूसरे दार्शनिको द्वारा विरोधी के रूप मे व्यक्त किए गए विचारों को पढ कर ही जैन दर्शन एव स्याद्वाद पर अपने विचार वना लेते हैं। यही कारण है कि स्याद्वाद के सवध मे उन्हें भ्रम वना रहता है। क्योकि विरोधी दर्शन में स्याद्वाद के संवंध मे जो कुछ कहा गया उस मे पूरी वास्तविकता हो, ऐसा नही कहा जा सकता। प्रत्येक दर्शन की वास्तविक मान्यता का यथार्थ ज्ञान करने के लिए उसी दर्शन के ग्रथ पढना आवश्यक है। अत स्याद्वाद के स्वरूप को समझने के लिए जैन दर्शन एव जैनागमो का अध्ययन करना आवश्यक है। अन्यथा स्याद्वाद के सही रूप का ज्ञान नही हो सकेगा।

वौद्ध दर्शन के प्रमुख विचारक धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को उन्मत्तो-पागलो का वकवाद कहा है और जैनों को निर्लज्ज कहा है§। आचार्य शान्तिरक्षक ने भी तत्त्व-सग्रह मे ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। उसने कहा है— स्याद्वाद जो सत् और असत्, एक-अनेक, भेद-अभेद सामान्य-विशेष जैसे विरोधी विचारो का सुमेल करता है, वह उन्मत्तो की वौखलाहट है *। इसी प्रकार शकराचार्य जैसे विद्वान् ने भी स्याद्वाद को एक तरह का पागलपन माना है $।

§ प्रमाणवार्तिक १, १८२-१८५।

* तत्त्व-सग्रह ३११-३२७।

$ शाकर-भाष्य २, २, ३३।

स्याद्वाद की आलोचना करते हुए इन विचारको ने जिन युक्तियो का आश्रय लिया है, उन का निर्देश करते हुए हम आगे की पक्तियो मे एक-एक का समाधान करेंगे।

१– कुछ विचारको का कहना है कि विधि और निषेध दो विरोधी धर्म हैं। अत वे एक ही वस्तु मे युगपत् नही पाए जा सकते। जैसे एक ही वस्तु मे नील और अनील वर्ण नही देखे जाते। अत यह कहना गलत है कि एक ही वस्तु मे भिन्न-अभिन्न, सदसत्, वाच्यावाच्य धर्म युगपत् पाए जाते हैं। इस तरह अन्य विरोधी धर्म भी एक वस्तु मे युगपत् नही पाए जा सकते। परन्तु स्याद्वाद इस वात को अभिव्यक्त करता है कि दो विरोधी धर्म एक ही वस्तु मे युगपत् रह सकते है। इसलिए वह दोषयुक्त है।

हमारा रात-दिन का अनुभव इस वात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि एक ही वस्तु मे युगपत् दो विरोधी धर्म देखे जाते है। एक अपेक्षा से किसी द्रव्य मे§ एकत्व का आभास मिलता है तो दूसरी अपेक्षा से अनेकत्व का परिज्ञान भी होता है। यह सत्य है कि एकत्व अनेकत्व से भिन्न है, न एकत्व अनेकत्व वनता है और न अनेकत्व एकत्व वनता है। पर दोनो विरोधी धर्म एक वस्तु मे युगपत् पाये जाते है, इसमे विरोध जैसी वात नही। वौद्धो ने भी चित्रज्ञान माना है। जव एक ज्ञान मे चित्रवर्ण का प्रतिभास होता है और उस के होने मे किसी तरह की वाधा एव विरोध नही है, तव फिर एक पदार्थ मे दो विरोधी धर्म की की सत्ता मानने मे क्या आपत्ति है ? नैयायिक भी चित्रवर्ण की सत्ता को स्वीकार करते है। उनकी मान्यतानुसार एक ही वस्त्र मे सकोच–

§ द्रव्य की अपेक्षा से सुवर्ण में एकत्व है और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सस्थान इन पर्यायो की अपेक्षा से उसमें अनेकत्व है।

विस्तार हो सकता है । एक ही वस्त्र रक्त - अरक्त, पीत - अपीत हो सकता है, तब फिर एक ही वस्तु मे एक और अनेक, नित्य और अनित्य आदि की सत्ता को मानने से इन्कार करने का क्या कारण है ? हमे लगता है कि इसके पीछे एक मात्र अपनी मान्यता का आग्रह एव साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही कारण है, जिसके कारण दार्शनिक एक वस्तु में विरोधी धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्याद्वाद पर दोषारोपण करते हैं। परन्तु उनका यह प्रयास सूर्य पर धूल फेंक कर उसे प्रच्छन्न करने जैसा बाल-प्रयास ही कहा जा सकता है । क्योकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि उसमे अनेक धर्मो को स्वीकार किये बिना उसका स्वरूप स्पष्ट ही नही हो सकता और न हमारा व्यवहार ही चल सकता है ।

२-कुछ विचारको का तर्क है कि यदि वस्तु को भेदाभेद उभयात्मक मानेंगे तो उस मे यह दोष आएगा कि वस्तु की एकरूपता नही रह पाएगी। क्योकि भेद का आश्रय अलग होगा और अभेद का आश्रय अलग। इस तरह उसकी एकरूपता नष्ट हो जायेगी !

यह तर्क भी गलत है। क्योकि भेद और अभेद अलग-अलग वस्तु या वस्तु-अशो में नही है। वे एक ही वस्तु में है। जो वस्तु एक अपेक्षा से भेदात्मक है, वही वस्तु दूसरी दृष्टि से अभेदात्मक है। जैसे हम एक ही वस्त्र को सकोच और विकासशील कहते हैं तो उस का यह अर्थ नही है कि उसका एक कोना सकोचशील है और दूसरा कोना विकासशील। परन्तु उसका तात्पर्य यह है कि वह पूरा वस्त्र सकोचशील और विकासशील है। अथवा जो भाग सकोचशील है वही विकासशील है और जो भाग विकासशील है वही सकोचशील। इसी तरह भेद-अभेद विरोधी धर्म एक ही वस्तु मे रहते है, विभिन्न वस्तुओ मे नही, अतः उन का आश्रय भिन्न मानने की आवश्यकता नही । एक ही वस्तु के

आश्रय मे अनेक धर्म अनुभव सिद्ध है, इस के लिए किसी अपर प्रमाण की आवश्यकता नही है।

३—वह धर्म जिस मे भेद माना जाता है तथा वह धर्म जिस मे अभेद स्वीकार किया जाता है, दोनो का परस्पर क्या सबध है ? यदि भिन्न है तो पुन यह प्रश्न उठता है कि वह भेद जिसमे उठता है उससे भी वह भिन्न है या अभिन्न ? इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और यही दोप अभिन्न मानने पर आयेगा।

स्याद्वाद पर अनवस्था का दोषारोपण करना गलत है । क्योकि जैन दर्शन यह नही मानता कि भेद और अभेद भिन्न है और भेद और अभेद जिस मे रहता है वह धर्म अलग है । वस्तु के परिणामी (परिवर्तनशील) स्वभाव को भेद कहते है और अपरिणमनशील स्वभाव को अभेद कहते है। भेद और अभेद कोई बाहर से आकर वस्तु के साथ नही जुड़ते। परन्तु वस्तु स्वय भेदाभेदात्मक है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु अभेदात्मक है तो पर्याय की अपेक्षा भेदात्मक है। ऐसी स्थिति मे इस तरह के सबध का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। जब उस के भेद और अभेद के सबध का प्रश्न ही नही उठता तब उस पर अनवस्था का दोप लगाना तो स्वत ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है।

४—जहा भेद है वहा अभेद है और जहा अभेद है वहा भेद है। भेद और अभेद का भिन्न–भिन्न आश्रय न होने से दोनो एक बन जाएँगे। इस तरह सकट दोष उत्पन्न होगा।

यह कथन भी सत्य से परे है। आश्रय एक होने का तात्पर्य यह नही है कि आश्रित भी एक हो जाए। बौद्ध भी तो इस बात को मानते है कि एक ही ज्ञान मे चित्रवर्ण का आभास होता है, फिर भी सभी वर्ण एक नही होते। न्याय-वैशेषिको की मान्यतानुसार एक ही वस्तु मे सामान्य और विशेष रहते है, फिर दोनो एक रूप नही हो

जाते। जब उनमे एकरूपता नही आती तो क्या कारण है कि स्याद्वाद के द्वारा मान्य एक ही वस्तु मे स्थित दो विरोधी धर्मो का आश्रय एक होने से भेद और अभेद मे एक रूपता आ जायगी ? अस्तु, यह मानना भ्रम है कि आश्रय एक होने पर दोनो विरोधी धर्म एक हो जाते हैं। क्योकि भेद और अभेद दोनो एक नही, भिन्न हैं। दोनो की अलग-अलग प्रतीति होती है। अत दोनो का आश्रय एक होने पर भी दोनो को पृथक्-पृथक् मानना चाहिए।

५—कुछ दार्शनिक स्याद्वाद पर यह दोष लगाते है कि जहाँ भेद है, वहाँ अभेद है और जहां अभेद है, वहा भेद है। इस तरह भेद और अभेद आपस में बदले जा सकते है। इससे व्यतिकर दोष लग जायगा।

यह कथन भी स्याद्वाद एव वस्तु के स्वरूप को नहीं समझने का परिणाम है। स्याद्वाद व्यतिकर दोष से दूषित नही है। भेद और अभेद दोनो धर्म वस्तु मे स्वतन्त्र रूप से रहते हैं। दोनों का अपना-अपना अस्तित्व है। फिर दोनो की अपने-अपने स्वरूप मे प्रतीति होती है। अत. एक दूसरे का एक दूसरे मे परिवर्तन होने की कल्पना करना मिथ्या है। स्याद्वाद भेद को भेद रूप से और अभेद को अभेद रूप से स्वीकार करता है।

६—तत्त्व भेदाभेदात्मक होने से किसी निश्चित धर्म का निर्णय नही हो पाएगा। और निश्चित निर्णय के अभाव में सशय उत्पन्न हो जायगा। सशय तत्त्व ज्ञान का विरोधी है। इस तरह स्याद्वाद से तत्त्व ज्ञान नही हो सकेगा?

स्याद्वाद को सशय ज्ञान समझना भारी भूल है। भेदाभेदात्मक ज्ञान का होना सशय नही है। सशय तब होता है, जब किसी धर्म का निर्णय न हो। यह समझ मे न आ रहा हो कि वस्तु भेदात्मक है या अभेदात्मक, वहाँ सशय ज्ञान होता है और उस स्थिति मे तत्त्व का सही

निर्णय नही हो पाता है। परन्तु स्याद्वाद मे ऐसे ज्ञान को अवकाश नही है। उस मे तो वस्तु का स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है। वस्तु का भेद रूप भी निश्चित है और अभेद रूप भी निश्चित है। जैन दर्शन में वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए जो स्यात् शब्द का व्यवहार होता है, कई दार्शनिक उसे शायद के अर्थ मे समझकर उसे संशयात्मक ज्ञान मानने लगते हैं। शंकराचार्य जैसे विद्वान् ने भी स्यात् शब्द के अर्थ को समझने मे भारी भूल की है। स्यात् शब्द का अर्थ शायद नही है। उस का अर्थ अपेक्षा या दृष्टि है। जब हम यह कहते हैं कि वस्तु स्यात् भेदात्मक है, स्यात् अभेदात्मक है। हमारा कहने का अभिप्राय यह नहीं कि वस्तु शायद भेदात्मक है या शायद अभेदात्मक। हमारा तात्पर्य यह है कि वस्तु द्रव्य की अपेक्षा से अभेदात्मक है और पर्याय की अपेक्षा से भेदात्मक है। और दोनो विवक्षा मे ज्ञान निश्चयात्मक है। जैन दर्शन को वस्तु के भेदाभेद होने मे ज़रा भी संशय नही है। अतः स्याद्वादपूर्वक होने वाला ज्ञान निश्चयात्मक है। अतः संशय के आश्रय मे रहे हुए जितने भी दोष हैं, वे इस पर लागू नही होते।

सुप्रसिद्ध विद्वान् आनन्दशंकर ध्रुव की भी मान्यता है कि स्याद्वाद संशयवाद नही है। वे वजनदार शब्दो मे कहते हैं— स्याद्वाद का सिद्धांत संशयवाद तो नही ही है। वह मनुष्य को विशाल-उदार दृष्टि से पदार्थ को देखने के लिए प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थों का किस प्रकार से अवलोकन किया जाए यह सिखाता है *। यह वस्तु का एकान्त अस्तित्व नही मानता और न वह उस प्रकार के स्वीकरण को सर्वथा अस्वीकार ही करता है। वह कहता है कि वस्तु है या नही, यह दोनो आपेक्षिक दृष्टि से कहे जा सकते हैं। भारत के माने हुये दार्शनिक उपराष्ट्र पति डा० राधा कृष्णन ने भी उसी बात को पुष्ट करते हुए

* कन्नोमल, सप्तभंगी न्याय, प्रस्तावना पृ ८

लिखा है— "वास्तविकता का सच्चा और नचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही हो सकता है और उस प्रतिपादन की शक्यता वह स्वीकार करता है। प्रत्येक सिद्धांत सत्य होता है, परन्तु कुछ निश्चित संयोगो मे ही अर्थात् परिकल्पना मे ही। वस्तु अनेक धर्मी होने के कारण कोई भी बात निश्चय रूप मे नही कही जा सकती हैं। वस्तु के विविध धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिए विधि - निषेध सबधी शब्द प्रयोग सात प्रकार से होता है। यही स्याद्वाद सिद्धांत है§। इस तरह भारतीय एव पाश्चात्य दार्शनिको का भी अभिमत है कि स्याद्वाद सशयवाद नही, प्रत्युत वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने का एक प्रशस्त मार्ग है।

७- कुछ विद्वान यह तर्क देते हैं कि स्याद्वाद एकान्तवाद के आधार पर ही स्थित रह सकता है। स्याद्वाद की मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। उन सापेक्ष धर्मों के मूल मे जब तक कोई एक ऐसा तत्त्व न हो कि जो सब सापेक्ष धर्मो को एक सूत्र मे बांध सके, तब तक वे धर्म स्थित नही रह सकते। अत उन सब को एक सूत्र में आबद्ध रखने वाला धर्म होना चाहिए, जो स्वय निरपेक्ष हो। और ऐसे निरपेक्ष तत्त्व की सत्ता स्वीकार करने पर स्याद्वाद का महल धराशायी हो जायगा।

स्याद्वाद को एकान्तवाद कहना उसके अर्थ को नही समझना है। स्याद्वाद एक सापेक्ष दृष्टि है। वह वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखती है। स्याद्वाद वस्तु के सामान्य स्वरूप को भी स्वीकार करता है और विशेष स्वरूप को भी। वह यह नही कहता कि वस्तु मे एकरूपता है ही नही। वह वस्तु की एक रूपता को भी स्वीकार करता है। परन्तु

§ History of Indian Philosophy.
Dr Radha Krishnan
Part I. Page 302.

उससे वह एकान्तवादी नही हो जाता। क्योकि जव वह एक अपेक्षा से एक रूपता स्वीकार करता है, तव दूसरी अपेक्षा से उस मे अन्तर्निहित अनेक रूपता को भी ध्यान मे रखता है, वह उस का तिरस्कार नही करता। जैसे स्थानाग सूत्र मे 'एगे आया' एक आत्मा है कहा गया, वहा अनेक आत्मा के तथ्य को आखो से ओझल नही किया है। एक आत्मा है कहने का तात्पर्य इतना ही है कि आत्म द्रव्य की अपेक्षा से सभी आत्माए समान हैं, उनमे सामान्य की अपेक्षा से एक रूपता होने के कारण एक कहा गया। परन्तु इस का यह अर्थ समझना भारी भूल है कि एक आत्मा का निरूपण करते समय अनेक आत्मा के सिद्धात को भूला दिया गया या अनेक आत्मा की मान्यता के विरुद्ध कहा गया। 'एगे आया' की मान्यता मे अनेक आत्मवाद का जरा भी विरोध नही है। क्योकि दोनो मान्यताएँ सापेक्ष हैं, अत वे आपस मे कभी नही टकराती है। सामान्य—द्रव्य समानता की दृष्टि से एक आत्मा है तो विशेप— व्यक्ति की दृष्टि से अनेक आत्मा है। एक के उच्चारण के साथ अनेक जुडा हुआ है और अनेक के साथ एक। अत स्याद्वाद एक को मानता है वहा अनेक का तिरस्कार नही करता है, इस कारण उस पर एकान्तवादी होने का दोषारोपण करना गलत है।

८—कुछ तार्किको का यह तर्क है कि वस्तु कथचित् यथार्थ है और कथचित् अयथार्थ है। इस मान्यता से स्याद्वाद स्वय कथचित् सत्य और कथचित् मिथ्या हो जायगा। और इस स्थिति मे स्याद्वाद के द्वारा तत्त्व का वास्तविक ज्ञान हो सकेगा, यह कैसे माना जा सकता है? क्योकि जो प्रमाण कथचित् मिथ्या है, वह सही ज्ञान कराने मे वाधक ही होता है।

यह हम ऊपर बता चुके है कि स्याद्वाद तत्त्व विश्लेपण करने की एक सापेक्ष दृष्टि है। अनेक धर्मयुक्त तत्त्व को उसी रूप मे देखने का

नाम स्याद्वाद है। जो वस्तु जिस रूप मे स्थित है उसे तद्रू यथार्थ स्वीकार करना, तथा तदितर रूप मे अयथार्थ मानने का नाम स्याद्वाद है। इस अपेक्षा से स्याद्वाद भी यदि एक दृष्टि से अयथार्थ या असत्य है, तो वैसा मानने मे हमे कोई आपत्ति नही है। हम इस वात को मानते है कि स्याद्वाद भी कथचित् सत्य है और कथचित् मिथ्या। अनेकान्त दृष्टि से स्याद्वाद सत्य है, यथार्थ है और एकान्त की अपेक्षा से वह अयथार्थ है, मिथ्या हैं। जिस वस्तु का जिस दृष्टि से प्रतिपादन हो सकता है, उस दृष्टि से उसका विवेचन करने मे स्याद्वाद सदा तत्पर है। स्याद्वाद को समझने के लिये स्याद्वाद की दृष्टि से देखने पर ही उस का यथार्थ रूप समझ मे आ सकता है। अत स्याद्वाद अनेकान्त दृष्टि की अपेक्षा से यथार्थ है। क्योकि वस्तु अनेक धर्मयुक्त है, इसलिए उसका विवेचन अनेकान्त दृष्टि से ही हो सकता है, एकान्त दृष्टि से नही। इस कारण अनेकान्त की अपेक्षा वह सत्य है, यथार्थ है और उस से वस्तु का यथार्थ ज्ञान होने मे किसी तरह की वाधा उपस्थित नही होती और एकान्त दृष्टि से वह अयथार्थ है। इसलिए एकान्त दृष्टि से तत्त्व का विश्लेषण करना जैनो को इष्ट नही है।

९—कुछ विचारको का कथन है कि सप्तभगी में प्रयुक्त पीछे के तीन भग व्यर्थ हैं। यदि एक दूसरे के सयोग से सख्या वढ़ाना हो तो सात ही क्यो अनन्त भग वना सकते हो!

हम ऊपर इस वात को स्पष्ट कर चुके हैं कि मौलिक भग दो हैं— १ अस्ति और २ नास्ति। शेष सभी भग विवक्षाभेद से वनते हैं। यहा तक कि तीसरा और चौथा भग भी पूर्ण स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। यह ठीक है कि जैनाचार्यो ने सात की सख्या को स्वीकार किया है, और सात भंग मानने का कारण भी विस्तार से वताया है।

परन्तु जैन दर्शन की मौलिक मान्यता सात की नही, दो की है। और भगवती सूत्र मे अस्ति और नास्ति दो भग के आधार पर सात भग बनाए हैं और गागेय अनगार के प्रश्नोत्तर के आधार पर आचार्यों ने सैकडो भग बनाए है और आगे कहा गया कि इस तरह हम सख्यात, असख्यात, अनन्त भग बना सकते है। परन्तु मूल भग दो ही हैं। बौद्धो एव कुछ वैदिक दर्शनो मे भी चार भग माने हैं। वे चारो भग अस्ति और नास्ति इन दो पर ही आधारित है। और इस का कारण यह है कि वस्तु न एकान्त रूप से अस्ति रूप है और न एकाततः नास्ति रूप। क्योकि वस्तु उभयात्मक है। एक अपेक्षा से वह अस्ति रूप दिखाई देती है और दूसरी अपेक्षा से देखने पर नास्ति रूप से प्रतीत होती है। और दोनों रूप समान है। न अस्ति नास्ति से बलवान है और न नास्ति अस्ति से अधिक बलिष्ठ है। दोनो समान रूप से वस्तु की यथार्थता को प्रकट करते है। इसलिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करने के लिए दोनो की सत्ता को स्वीकार करना जरूरी है। अत अस्ति और नास्ति दो भग मुख्य है, शेष भग उसी के आधार पर स्थित हैं। वस्तु को समझने को कोटिये—श्रेणिये सात है, इसलिए सात भग माने गए है।

१०—दर्शन ग्रन्थो मे स्याद्वाद पर यह भी आक्षेप किया गया है कि स्याद्वाद को स्वीकार करने वाले केवलज्ञान के अस्तित्व को नही मान सकते। क्योकि केवलज्ञान एकान्त रूप से पूर्ण होता है! उसको उत्पत्ति के लिए बाद मे किसी की अपेक्षा नही रहती!

तत्त्व की दृष्टि से स्याद्वाद और केवलज्ञान मे अन्तर नही है। वस्तु का ज्ञान जिस रूप मे केवली करते है, उसी रूप मे स्याद्वादी भी करता है। पदार्थ का ज्ञान करने की दृष्टि दोनो की भिन्न नही है। दोनो मे भेद सिर्फ इतना ही है कि केवलज्ञानी जिस वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान से

जानेगा, स्याद्वादी छद्मस्थ उसे परोक्ष—श्रुत ज्ञान से देखेगा। केवलज्ञान पूर्ण है, वह साक्षात् आत्मा से होता है, उसमे किसी तरह का आवरण नहीं होता, परन्तु इसका पूर्ण होने का यह अर्थ नही है कि वह एकान्त-वादी होता है। केवली भी वस्तु के स्वरूप को सापेक्ष दृष्टि से ही जानेगा। क्योकि वस्तु सापेक्ष है, अनेक धर्म युक्त है और केवली उस वस्तु के द्रव्य एव पर्याय सभी रूपो का प्रत्यक्षत अवलोकन करते है। वे वस्तु मे रहे हुये सामान्य और विशेष उभय धर्मो को देखते है, अत केवल ज्ञान को अनेकान्त से भिन्न एकान्त मानना युक्ति सगत नही कहा जा सकता।

दूसरे मे केवलज्ञान भी उत्पाद्, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। वह भी परिणामी नित्य है। उसकी पर्यायो मे परिवर्तन होता रहता है। जैसे काल अन्य पदार्थों पर वर्तता है, वैसे वह केवलज्ञान पर भी वर्तता है। जैन केवलज्ञान को कूटस्थ नित्य नही, परिणामी नित्य मानते है। काल की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु की तीन — अतीत, वर्तमान और अनागत अवस्थाये है। केवलज्ञान वस्तु की तीनो काल की अवस्थाओ को जानता-देखता है। परन्तु वह इन तीनो अवस्थाओ को जिस रूप में आज देखता है, कल उन्ही तीनो अवस्थाओ को भिन्न रूप से जानेगा-देखेगा। क्योकि आज का जो वर्तमान है वह कल का अतीत वन जायगा और कल का जो अनागत था वह वर्तमान हो जाएगा। इस तरह वस्तु की पर्यायों को आज उसने वर्तमान रूप से जाना था, कल उन्हे ही अतीत रूप से जानेगा और जिन्हे आज भविष्य रूप से देखता है उन्हे कल वर्तमान रूप से देखेगा। इस तरह काल भेद से केवलज्ञान मे भी अतर होता है और इस अतर के साथ-साथ अथवा वस्तु की अवस्थाओ के परिवर्तन के साथ-साथ ज्ञान की अवस्था—पर्यायो मे परिवर्तन होता

है। अस्तु केवलज्ञान एकान्तवादी और कूटस्थ नित्य नही, प्रत्युत परि-णामी नित्य है। इसलिए स्याद्वाद और केवलज्ञान मे कोई मौलिक अन्तर या विरोध नही है। छद्मस्थ और केवली का दोनो ही ज्ञान स्याद्वाद पूर्वक होते हैं और दोनो ज्ञान वस्तु का अनेकान्त दृष्टि से अवलोकन करते है।

इतने लम्बे विवेचन के वाद हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि स्या-द्वाद पागलो का प्रलाप या उन्मत्तो की बौखलाहट नही। वस्तु के सही रूप को जानने का यथार्थ साधन है। दार्शनिक ग्रन्थों मे हम स्पष्ट रूप से देखते है कि एकान्तवाद का आग्रह रख कर चलने वाले दार्श-निको को भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्याद्वाद का सहारा लेना ही हो-ता है। इस को माने विना वस्तु के पूर्ण रूप को न जाना जा सकता है और न दुनिया का व्यवहार ही चल सकता है। हम यह प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि हमारे सभी व्यवहार सापेक्ष के आधार पर ही चलते है। यदि हम एकान्त को स्वीकार कर ले तो व्यवहारिक जगत मे एक क्षण भी नही टिक सकते, हमारा सारा व्यवहार ही समाप्त हो-जायगा। इस ससार की एव संसार मे स्थित पदार्थों तथा व्यवहार की सापेक्षता को देखकर वैज्ञानिको ने भी सापेक्षवाद को स्वीकार किया है। अत जैनो का सापेक्ष सिद्धात कपोल कल्पित नही, प्रत्युत् वैज्ञा-निक आधार पर आधारित है।

राजनैतिक संघर्षों का समाधान—स्याद्वाद

स्याद्वाद दार्शनिक समस्याओं का सही समाधान रहा है। जैना-चार्यो ने सभी दर्शनो का, विचारों का समन्वय करके दार्शनिक सघर्षो को समाप्त करने का प्रयत्न भी किया है। परन्तु वर्तमान मे दार्शनिक युग प्राय. समाप्त हो गया है। दार्शनिक संघर्ष भी धीरे-धीरे समाप्त

होते जा रहे हैं। वर्तमान युग वैज्ञानिक युग है। और इस युग में राजनीति की प्रमुखता है। इसलिए आज हमे दार्शनिक संघर्षों की जगह राजनैतिक संघर्ष दिखाई देते हैं। राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय दोनो दृष्टियो से राजनैतिक सघर्ष के अखाड़े बने हुए हैं और जिनमे राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनेता एक दूसरे को परास्त करने के लिए जी जान से व्यस्त रहते हैं। कुछ दिन पूर्व केरल मे कम्यूनिस्ट पार्टी की सरकार को अपदस्थ करने के लिए लडी गई लडाई, जिसमे विरोधी पार्टी के नेता सफल रहे तथा अन्य प्रातो मे सरकारी पार्टी एव गैर सरकारी पार्टियो मे विधान सभा एव उसके बाहर चलने वाला संघर्ष इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि पार्टी के नेता राष्ट्र हित की अपेक्षा पार्टी के स्वार्थ को सर्वोपरि महत्त्व देते है। यही कारण है कि सरकारी पार्टी के सदस्यो पर यह पाबन्दी लगा दी जाती है कि वे सरकार से विरोधी विचार रखते हुए भी उसके विरोध मे मत नही दे सकते। चाहे सत्य हो या असत्य पार्टी का समर्थन करना एव उस के बहुमत की प्रतिष्ठा को बनाए रखना प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है और विरोधी पार्टी का लक्ष्य यह रहता है कि हर बात मे सरकार का विरोध करना, भले ही वह सत्य भी क्यो न हो। यही कारण है कि इन पार्टियों के एकागी दृष्टि कोण एव स्वार्थो की चक्की मे जनता कुचली जाती है।

यही स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे है। विश्व में अभी रूस और अमेरिका दो विशेष शक्तिशाली गुट माने जाते हैं। एक साम्यवादी विचारों का समर्थक और परिपोषक है, तो दूसरा पूजीवादी एवं साम्राज्यवादी विचारधारा का। दोनो विश्व को अपनी दृष्टि से चलाना चाहते हैं। उन्हे अपने दृष्टिकोण के सिवाय अन्य का दृष्टिकोण नज़र ही नही आता। कुछ दिन पूर्व रूस के प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव ने अमे-

रीका की यात्रा की। उन्होने U. N. O (सयुक्त राष्ट्र सघ) मे भाषण दिया था। अपने उक्त भाषण मे निश्शस्त्रीकरण के संबध मे रूस की तरफ से एक प्रस्ताव रखने की घोषणा करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा "सभी देश चार वर्ष के अन्दर - अन्दर पूर्ण निश्शस्त्रीकरण करले। सभी स्थल, जल और नभ सेनाए समाप्त कर दी जाए, विदेशी सैन्य प्रधान कार्यालय और युद्ध मन्त्रालय खत्म कर दिये जाए, सैनिक शिक्षा के संस्थान वन्द कर दिये जाएं, विदेशो सैनिक अड्डे समाप्त कर दिये जाए अणुवस्त्र नष्ट कर दिए जाए और उनका उत्पादन आगे से निपिद्ध कर दिया जाए * । विश्व शान्ति के लिए प्रस्तुत किए गए ख्रुश्चेव के विचारो से हम पूर्णत. सहमत है। गाँधी और विनोवा की अहिसामय भापा मे ख्रुश्चेव ने भी वोलना शुरु किया है, इस के लिए हम उन्हे वधाई देते है। परन्तु अपने इन विचारो को मनाने के लिए उन्होने जो अपने भाषणों मे धमकिये दी है, उस से हम सहमत नही है। विश्व के सामने अपने विचार रखने का हमे पूरा अधिकार है, परन्तु उन्हे मनाने के लिए किसी पर दवाव डालना तथा उस के लिए आग्रह करना उपयुक्त नही कहा जा सकता। अमेरीका मे दिए गए अपने एक भाषण मे ख्रुश्चेव ने धमकी भरे शब्दो मे कहा— "यदि आप लोग निश्शस्त्रीकरण के लिए तैयार नही और आप शस्त्रो की घुडदौड जारी रखना चाहते है,तो ठीक है। हम इस चुनौती को स्वीकार करते हैं। हम मे भी ताकत है और हम आधुनिक से आधुनिक हथियार तैयार कर सकते हैं‡। इस तरह के वाक्यो मे यह सदेह वना रहता है कि सेना आदि को समाप्त करने की वात केवल प्रचार मात्र

* The Times Of India (daily) 19-9-59, Page, 1 Col 4

‡ हिन्दुस्तान (दैनिक) सितम्वर २१, १९५९।

तो नही है !

हम यह देख चुके हैं कि संघर्ष का मूल कारण एकांगी दृष्टि है। ख्रुश्चेव के पक्ष के समर्थक राष्ट्र उन के प्रस्ताव को महत्त्व देते है, तो अमेरिकन गुट के राष्ट्र उसके विरोध की तैयारी में लगे हैं। प्रत्येक राजनेता अपने विचारों को सही और दूसरे के विचारो को गलत सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अस्तु सघर्ष का अन्त केवल उच्च आदर्शों का प्रदर्शन करने मात्र से नही होगा, उसके लिये आवश्यकता इस बात की है कि अपने विचारों को रखने के साथ हम अपने विरोधी विचारों का भी आदर करे। उनकी सर्वथा उपेक्षा न करके उनके विचारो को उनकी दृष्टि से परखने का प्रयत्न करे। आज आवश्यकता इस बात की है कि सापेक्षवाद को दार्शनिक एव वैज्ञानिक क्षेत्र मे ही सीमित न रखकर उस का राजनैतिक, सामाजिक एव परिवारिक जीवन मे भी विस्तार करे। जब सभी क्षेत्रो में स्याद्वाद या सापेक्षवाद का प्रयोग करने लगेगें तो सारी समस्याएं सुलझते देर नही लगेगी, वर्तमान में राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय एव सांप्रदायिक क्षेत्रों में बढ़ रहा तनाव स्वय ही निर्मूल हो जायगा।

विचारकों की दृष्टि में — स्याद्वाद

इस तरह हमने देखा स्याद्वाद सभी दृष्टियों से सत्य या वास्तविकता को जानने का साधन है। अब हम स्याद्वाद के सबध मे कुछ विचारको के विचार प्रस्तुत करेंगे—

प्रो० हर्मन जेकोबी

"जैन धर्म के सिद्धांत प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान और धार्मिक पद्धति के अभ्यासियो के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस स्याद्वाद सिद्धांत से सर्वसत्य विचारो का द्वार खुल जाता है।

इण्डिया आफ़िस लण्डन के प्रधान पुस्तकालय के अध्यक्ष डॉ. थामस

न्याय शास्त्र मे जैन न्याय का बहुत ऊँचा स्थान है। स्याद्वाद का विषय वडा गंभीर है। वह वस्तुओ की भिन्न - भिन्न परिस्थितियो पर अच्छा प्रकाश डालता है।

आचार्य आनंद शंकर बापू भाई ध्रुव

स्याद्वाद मनुष्य को विशाल और उदार दृष्टि से पदार्थ को देखने के लिए प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थों का किस प्रकार से अवलोकन किया जाए यह सिखाता है।

स्याद्वाद का सिद्धात वौद्धिक अहिसा है। वुद्धि या विचारो से भी किसी का न अनिष्ट चिन्तन करना और न किसी को बुरा कहना ही स्याद्वाद का सुखद परिणाम है।

उपराष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन्

वास्तविकता का सच्चा और सचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही हो सकता है। वस्तु अनेकधर्मी होने के कारण कोई भी वात निश्चय रूप मे नही कही जा सकती। वस्तु के विविध धर्मों को अभिव्यक्त करने के लिए विधि-निषेध सवधी शब्द का प्रयोग सात प्रकार से होता है—जिसे जैन परिभाषा मे सप्त भगी कहते है। यही स्याद्वाद सिद्धात है।

महात्मा गांधी

जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हू, उसी प्रकार मै उसे मानता हू। मुझे अनेकान्त वड़ा प्रिय है।

श्री काका कालेलकर

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद अहिसा धर्म का एक उज्ज्वल रूप है। इस की तात्त्विक, दार्शनिक और तार्किक चर्चा बहुत हो चुकी है। इसमे अब किसी को दिलचस्पी नही रही है। परन्तु सास्कृतिक क्षेत्र मे, अन्तर्राष्ट्रीय राज्य मे, गोरे, काले, पीले या गेहू वर्णी भिन्न-भिन्न वर्णो के सबध के बारे मे अगर हम समन्वयवाद को चलायेगे और स्याद्वाद को नया रूप देंगे, तो जैन संस्कृति फिर से सजीवन और तेजस्वी बनेगी। अगर इस क्षेत्र मे जैन समाज ने कुछ पुरुपार्थ करके दिखलाया तो बिना कहे दुनिया भर के मनीषी जैन शास्त्रों का अध्ययन करेंगे और इस नव प्रेरणा का उद्गम कहा है उसे ढूढेंगे!

महामहोपाध्याय पं० राम मिश्र शास्त्री

स्याद्वाद जैन धर्म का अभेद्य किल्ला है। जिस के अन्दर प्रतिवादियो के मायावी गोले प्रवेश नही करते।

स्व. पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी

प्राचीन ढर्रे के हिन्दू धर्मावलम्बी बड़े-बडे शास्त्री तक अब भी नही जानते कि जैनियो का स्याद्वाद किस चिडिया का नाम है? धन्यवाद है जर्मनी, फ्रास और इग्लैड के कुछ विद्यानुरागी विशेपज्ञो को जिन की कृपा से इस (जैन) धर्म के अनुयायिओ के कीर्ति कलाप की खोज की और भारतवर्ष के इतर जनो का ध्यान आकृष्ट किया। यदि ये विदेशी विद्वान् जैनो के धर्म ग्रथो की आलोचना न करते, उन के प्राचीन लेखको (ग्रन्थो) की महत्ता प्रकट नही करते, तो हम लोग शायद आज भी पूर्ववत् अज्ञान के अन्धकार मे ही रहते।



नयवाद

प्रश्न– हम देखते हैं कि जैनों ने भी कई जगह एकांत-वाद का सहारा लिया है। जैनों का मान्य नयवाद एकांत-वाद का ही एक रूप है। क्योंकि हरेक नय एकांत दृष्टि से सोचता है। अतः फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जैन एकांतवादी नहीं; अनेकांतवादी है ?

नयवाद को एकान्तवाद समझना उसके यथार्थ ज्ञान का नही होना है ऐसा कहना चाहिए। नयवाद एकान्तवाद नही है। वह एकान्त दृष्टि से नही प्रत्युत, एक अपेक्षा से या एक दृष्टि से सोचता है और उस के एक दृष्टि से सोचने मे दूसरी दृष्टि का अस्तित्व भी उस के सामने बना रहता है। अत हम यो कह सकते हैं कि वह अपनी दृष्टि से विचार करता है, परन्तु दूसरी दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा नही करता या दूसरी दृष्टि को सर्वथा मिथ्या नही कहता। अत नयवाद एकान्त नही अनेकान्त मूलक है। स्याद्वाद—अनेकान्तवाद और नय-वाद मे कोई विरोध नही है।

नय और प्रमाण

वस्तु का परिज्ञान दो तरह से होता है— सकलादेश और विकलादेश से। जिस ज्ञान से वस्तु के पूरे रूप का परिबोध होता है उसे सकलादेश कहते हैं, आगमिक एव दार्शनिक भाषा मे उसे स्याद्वाद या प्रमाण कहते है। वस्तु मे स्थित अनेक धर्मो मे से जो एक धर्म की विवक्षा करता है, उसे विकलादेश कहते है और आगमिक भाषा मे नय कहते है। स्याद्वाद या प्रमाण वस्तु के सम्पूर्ण रूप को देखता है

और नयवाद वस्तु के एक अश का अवलोकन करता है। नयवाद वस्तु के किसी एक अश को लेकर उसका प्रतिपादन करता है। उसके दूसरे अश से उसका कोई मतलब नही रहता। वह दूसरे पहलू का न विधान करता है और न निषेध ही। यदि वह वस्तु के दूसरे अशो का— जो उसकी परिधि से वाहर है, वर्णन करने लगे तो फिर वह नय नही रह कर प्रमाण या स्याद्वाद वन जायगा। और यदि वह वस्तु के दूसरे अग का निषेध करने लगे तो वह नयाभास हो जायगा, क्योकि वस्तु मे दूसरे अश (धर्म) का अस्तित्व है, फिर भी उस अस्तित्व का निषेध करना मिथ्या वकवास करना है। इस मिथ्या दूषण से वह नय भी सम्यक् नय न रहकर मिथ्या नय या असम्यक् नय वन जायगा। अस्तु नयवाद वस्तु के एक धर्म का ही विवेचन करता है, वह वस्तु के दूसरे धर्मों का न प्रतिपादन करता है और न निषेध करता है। इस का अर्थ यह नही है कि नयवाद वस्तु के एक धर्म को ही जानता है, अन्य को नही जानता। वह भी वस्तु को अनेक धर्म युक्त जानता-मानता है। वस्तु को अनेक धर्म युक्त जानकर ही वह उस के एक अश—धर्म की विवक्षा करता है। क्योकि उसके विवेचन की मर्यादा एक अश तक ही सीमित है, फिर भी वह दूसरे अशो—धर्मों का तिरस्कार नही करती हैं, इसलिए नयवाद भी सम्यक् है और वस्तु को जानने का—चाहे अश रूप से ही, यथार्थज्ञान है।

द्रव्य और पर्याय अथवा सामान्य और विशेष

वस्तु अनेक धर्म युक्त है। अत. उसका विवेचन अनेक दृष्टियो से किया जा सकता है। वे अनेक दृष्टिएँ दो भागो मे विभक्त की जा सकती हैं—सामान्य दृष्टि और विशेष दृष्टि या द्रव्यार्थिक और पर्यार्यार्थिक। इन दो दृष्टियो मे सारी दृष्टियो का समावेश हो जाता है।

क्योकि वस्तु द्रव्य और पर्याय युक्त है। अत सामान्य— अभेद मूलक जितनी दृष्टिया हैं उन सबका द्रव्य मे और भेदमूलक जितनी दृष्टियाँ हैं उनका पर्याय मे समावेश हो जाता है। दो दृष्टियाँ मे सभी दृष्टियाँ समाविष्ट हो जाती है। इसलिए नय के भी मुख्य दो भेद माने हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। शेष सभी इनके ही भेद-उपभेद है। भगवान् महावीर ने तत्त्वों का विश्लेषण करते समय इन दोनो नयो का आधार लिया है। भगवती सूत्र मे वस्तु की नित्यता-अनित्यता का जो विवेचन मिलता है,वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से ही किया गया है। द्रव्य को अपेक्षा से जीव नित्य—शाश्वत है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य—अशाश्वत है। इसी तरह स्थानाग सूत्र के प्रथम स्थान मे जो 'एगे आया' का तथा भगवती आदि अन्य आगमों मे अनन्त जीवो का जो उल्लेख किया गया है, वह भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से ही किया गया है। सामान्य दृष्टि से आत्मा एक है, तो विशेष दृष्टि से आत्माएँ अनन्त है। द्रव्यार्थिक नय आत्म द्रव्य को अपेक्षा से सबको अभेदात्मक मानता है और पर्यायार्थिक नय विभिन्न पर्यायो एवं सब आत्माओ के स्वतत्र अस्तित्व की अपेक्षा से सब के भेद का ज्ञान करता है। इन दोनो दृष्टियो को सामने रख कर ही भगवान् महावीर ने कहा कि "आत्मा एक भी है और अनेक भी।" दोनो दृष्टियाँ अपनी—अपनी दृष्टि से वस्तु में रहे हुए अनेक धर्मों मे से एक धर्म को स्वीकार करती है, परन्तु दूसरे का विरोध नही करती इसलिए इन मे आपस में सघर्ष नही होता और इसी कारण इन को। सम्यक् नय कहा गया है।

****

द्रव्य और प्रदेश

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि की तरह द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि से भी वस्तु का विवेचन किया जा सकता है। यह हम वता चुके है कि द्रव्यार्थिक दृष्टि एकता की सूचक है और प्रदेशार्थिक दृष्टि अनेकता को व्यक्त करती है। पर्यायार्थिक दृष्टि भी अनेकता का सूचन करती है। फिर भी पर्यायार्थिक और प्रदेशार्थिक दृष्टि एक नही है। पर्याय और प्रदेश मे अन्तर यह है कि पर्याय—द्रव्य की देश और कालकृत अनेक अवस्थाएँ है और प्रदेश द्रव्य के अवयव है। परमाणु जितने स्थान को घेरता है वह एक प्रदेश। जेनदर्शन की मान्यतानुसार कुछ द्रव्यो के प्रदेश नियत हैं और कुछ द्रव्यो के अनियत। जीव—आत्माके प्रदेश सर्व देश और सर्व काल मे नियत है। उन की संख्या मे न अभिवृद्धि होती है और न ह्रास ही। यह वात अलग है कि वे जिस शरीर मे स्थित रहते है, उसके अनुरूप छोटे-वडे हो सकते है, परन्तु आत्म प्रदेशो की सख्या मे कोई परिवर्तन नही होता। वे सकोच - विस्तार वाले है, जैसा छोटा या वडा शरीर मिलता है उसी के अनुरूप आत्म प्रदेशो का सकोच या विस्तार कर लेते है। जैसे दीपक छोटे कमरे मे अपने जितने प्रदेशो को फैलाता है, उतने ही प्रदेशो को वड़े कमरे मे फैला देता है। कमरे के छोटे और वड़े होने मात्र से दीपक के प्रदेशो में कोई अन्तर नही पड़ता, उसी तरह शरीर के छोटे - वडे होने से आत्म प्रदेशो की सख्या मे कोई अन्तर नही आता। आत्म प्रदेशो की तरह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के प्रदेश भी नियत है। पुद्गलास्तिकाय के प्रदेश अनियत है, स्कन्ध के अनुसार उसके प्रदेशो मे अन्तर होता रहता है। पर्याय हमेशा अनियत रहती है। क्यो कि उसमे सदा परिवर्तन होता रहता है।

श्रमण भगवान महावीर ने जिस तरह पर्याय दृष्टि से वस्तु का विवेचन किया है, उस तरह प्रदेश दृष्टि से भी निरूपण किया है। उन्होंने अपना उदाहरण देते हुए कहा है कि मैं द्रव्य की दृष्टि से एक हूं, ज्ञान और दर्शन रूप पर्यायो की दृष्टि से दो हू और प्रदेशो की दृष्टि से अक्षय, अव्यय और नित्य हू। क्योंकि आत्म प्रदेशो की सख्या मे कभी भी न्यूनाधिकता नही होती। वस्तु की अनेकता को सिद्ध करने के लिए भी प्रदेश दृष्टि का उपयोग किया गया है। द्रव्य दृष्टि से आत्मा एक है, परन्तु प्रदेश दृष्टि से आत्मा अनेक है, क्योंकि आत्म प्रदेश असख्यात है। इसी तरह धर्मास्तिकाय द्रव्य दृष्टि मे एक है और प्रदेश दृष्टि से अनेक है, क्योंकि वह असख्यात प्रदेशी है। अन्य द्रव्यो के सबध मे भी ऐसा ही समझना चाहिए। इस तरह द्रव्य और प्रदेश दृष्टि से भी वस्तु के स्वरूप का परिबोध होता है।

व्यवहार और निश्चय

वस्तु जिस रूप में परिलक्षित हो रही है, तद्रूप ही है या उससे भिन्न रूप मे है ? यह प्रश्न प्राचीन काल से दार्शनिको के सघर्ष का कारण बना रहा है। कुछ दार्शनिक वस्तु के दो रूप मानते हैं— प्रातिभासिक और पारमार्थिक। चार्वाक आदि भूतवादी विचारक परमार्थ और प्रतिभास रूप मे कोई भेद नही करते। उनके विचार से इन्द्रिय से दिखाई देने वाला तत्त्व ही पारमार्थिक–सत्य है। भगवान महावीर ने उभय रूपो को स्वीकार किया है। इन्द्रिय की सहायता से दिखाई देने वाला वस्तु का स्थूल स्वरूप है, इसके अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म स्वरूप भी होता है, वह आंखो से दिखाई नही देता। श्रुत या आत्म प्रत्यक्ष से देखा जाता है। वस्तु का स्थूल रूप व्यवहार दृष्टि से सत्य है और सूक्ष्म रूप निश्चय दृष्टि से सत्य है। व्यवहार दृष्टि इन्द्रिय आश्रित

होने से स्थूल है और निश्चय दृष्टि इन्द्रियातीत होने से सूक्ष्म है। परन्तु दोनो दृष्टिएं सम्यक् हैं।

भगवती सूत्र में गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं कि पतले गुड (फाणित) मे कितने वर्ण, गध, रस और स्पर्श होते हैं? भगवान महावीर ने इस का उत्तर निश्चय और व्यवहार दृष्टि से दिया है। उन्होने कहा—व्यवहार दृष्टि से गुड मधुर है, मीठा है और निश्चय दृष्टि से उसमें ५ वर्ण २ गध, ५ रस और ८ स्पर्श पाए जाते हैं *। इसी तरह गध, रस से युक्त अन्य पदार्थों के संबध मे भी दोनो दृष्टियो से उत्तर दिया है। इस तरह निश्चय के साथ उन्होने व्यवहार को भी सत्य माना है। उन्होंने निश्चय—परमार्थ के आगे व्यवहार को झुठलाया नही। यही नयवाद एव स्याद्वाद दृष्टि का महत्त्व है।

नय के भेद

स्थानाग सूत्र के सातवे स्थान मे और अनुयोग द्वार सूत्र मे सात नयो का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार सूत्र मे शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय को शब्द नय माना है। शेष चार के लिए कोई नाम निर्देश नही किया। पीछे के आचार्यों ने सात नयो को स्पष्टत दो भागो मे बाट दिया— १—अर्थ नय और २—शब्द नय। अन्तिम तीन नयों को आगम मे शब्द नय कहा गया है, अत. पहली चार नयो को अर्थ नय मान लिया गया। १ नैगम, २ संग्रह, ३ व्यवहार और ४ ऋजू सूत्र नय अर्थ को विषय करते हैं, अतः वे अर्थ नय हैं और शब्द को अपना विषय बनाने वाले शब्द, समभिरूढ और एवंभूत शब्द नय हैं।

आचार्य सिद्धसेन के मतानुसार वचन के जितने प्रकार हो सकते-

* भगवती सूत्र, श० १८, उ० ६।

है, नय के भी उतने ही भेद होते हैं और जितने नय के भेद है उतने ही मत है §। इस दृष्टि से नय के अनन्त भेद हो सकते हैं। परन्तु अनन्त भेदो का वर्णन करना हमारी शक्ति के बाहर है। यो द्रव्य और पर्याय इन दो रूपो में सारे भेद समाविष्ट हो जाते है। परन्तु द्रव्य और पर्याय को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके अवान्तर भेद किए गए हैं। इस सबध मे हमे तीन विचारधाराए दिखाई देती है। आगम और दिगम्बर परम्परा सीधे तौर पर नयो के सात भेद मानती है— १ नैगम २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ शब्द, ६ समभिरूढ और ७ एव भूत ‡। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ६ नय मानते है, वे नैगम नय को स्वतत्र नही स्वीकार करते हैं §। तत्त्वार्थ सूत्र मे नय के ५ भेद किए है—१ नैगम, २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र और ५ शब्द*। इस मे पहली नैगम नय के दो भेद किए है— देश परिपेक्षी और सर्व परिपेक्षी और शब्द नय के साप्रत, समभिरूढ और एवभूत तीन भेद माने है। परन्तु इन सब मे सात भेद वाली आगम परम्परा अधिक प्रसिद्ध है।

नैगम नय

नैगम नय वस्तु को सामान्य और विशेष उभयात्मक दृष्टि से स्वीकार करता है। क्योकि सामान्य और विशेष एक दूसरे से संवद्ध है।

---

§ जावइया वयणवहा, तावइया चेव होंति नयवाया।
जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया॥
—सन्मति तर्क, प्रकरण ३, ४७

‡ स्थानाग सूत्र ७, ५५२, तत्त्वार्थ राजवर्तिक १, ३३

§ सन्मति तर्क मे नय प्रकरण।

* तत्त्वार्थ १, ३४-३५

एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व घट ही नहीं सकता। इसलिए नैगम नय उभयात्मक स्वरूप की विवक्षा करता है[†]। कभी वह सामान्य को मुख्य मानकर विवक्षा करता है, तो कभी विशेष को मुख्य मानकर। जिस समय सामान्य को मुख्य मानकर विवक्षा करता है, उस समय विशेष गौण हो जाता है और जब विशेष को मुख्य आधार मानता है, तब सामान्य गौण हो जाता है। उस के विवेचन में एक मुख्य और दूसरा गौण रहता है, परन्तु वह ग्रहण उभयात्मक स्वरूप का करता है। यह बात अलग है कि कभी सामान्य की प्रधानता होती है और विशेष की अप्रधानता, तो कभी विशेष का प्रधान स्थान होता है और सामान्य का अप्रधान। परन्तु, नैगमनय उभय स्वरूप का ग्रहण करता है, एक का नहीं।

इस से यह प्रश्न उठता है कि जब वस्तु को उभयात्मक रूप से जानता है, तब फिर वह विकलादेश—नय कैसे रहा? वस्तु के उभयात्मक स्वरूप को स्वीकार करने वाला ज्ञान सकलादेश होता है। अत इस दृष्टि से नैगम को नय नहीं, सकलादेश–प्रमाण मानना चाहिए!

नैगम सकलादेश—प्रमाण नहीं विकलादेश—नय ही है। क्योंकि सकलादेश में वस्तु के सब धर्मों का समान रूप से ग्रहण होता है। उस में प्रमुखता और गौणता का भाव नहीं होता और नैगम वस्तु के उभय धर्मों को प्रमुख और गौण रूप से ही स्वीकार करता है। अत वह सकलादेश नहीं, विकलादेश—नय ही है, ऐसा मानना चाहिए।

कुछ आचार्य नैगम को सकल्पमात्र ग्राही भी मानते हैं*। किसी

† नैगमो मन्यते वस्तु, तदेतदुभयात्मकम्,
निर्विशेषं न सामान्य, विशेषोऽपि न तद विना ॥ —नय कर्णिका

* अर्थ संकल्पमात्र ग्राही नैगमः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ३,२

व्यक्ति के द्वारा किए जाने वाले कार्य का सकल्प मात्र नैगम नय है। जैसे कोई व्यक्ति वाजार मे कागज खरीदने जाता है, मार्ग मे उससे कोई पूछे कहा जा रहे हो, तो वह कहता है कि जरा लेख लिखना है। जवकि अभी तो वह कागज लाने जा रहा है, लेख लिखने मे तो अभी वहुत समय पडा है, उस वीच मे और कोई वाधा भी उपस्थित हो सकती है। फिर भी उस का वचन सत्य कहा जाता है। क्योकि लेख लिखने का सकल्प करके ही वह कागज खरीदने चला है। इस तरह सकल्प मात्र को भी नैगम नय कहते है।

संग्रह नय

सग्रह नय सामान्य ग्राही होता है §। वह वस्तु के अभेद स्वरूप को ग्रहण करता है। यह हम देख चुके है कि वस्तु भेदाभेद—सामान्य-विशेप उभय रूप है। परन्तु, सग्रह नय सामान्य को ही अपना विषय वनाता है। यह नय पर और अपर के भेद से दो प्रकार का है। पर में वह अस्तित्व रूप से सभी पदार्थो का सग्रह कर लेता है। क्योकि जीव अजीव आदि जितने भी पदार्थ है, सवका अस्तित्व—सत्ता है। अत सत्ता रूप से वह सभी पदार्थो को एक मानता है $। क्योकि सत्ता सव मे समान रूप से है। जैसे नीलादि आकार वाले सभी ज्ञान 'ज्ञानसामान्य' के भेद है, उसी तरह जीवाजीवादि सभी पदार्थ सत् होने से सत्ता सामान्य की दृष्टि से एक है।

यह हम देख चुके हैं कि द्रव्य मे रहने वाली सत्ता पर सामान्य है। परन्तु द्रव्य मे स्थित जो द्रव्यत्व सामान्य है, वह अपर सामान्य है। इसी तरह गुण मे जो सत्ता है वह पर सामान्य है और जो गुणत्व

§ सामान्य मात्र ग्राही परामर्श सग्रह। —प्रमाण नय तत्त्वालोक ७,१३

$ सर्वमेक सद्विशेषात्

सामान्य है वह अपर सामान्य है। द्रव्य के और भी कई भेद-प्रभेद होते है। जैसे जीव द्रव्य सत्ता की दृष्टि से पर सामान्य है, तो जीवत्व की दृष्टि से अपर सामान्य है। सत्ता की दृष्टि से सभी द्रव्यों के साथ उस का भी सग्रह हो जाता है। परन्तु जीवत्व की अपेक्षा से वह अन्य सभी द्रव्यों से भिन्न है, फिर भी अपर सामान्य की दृष्टि से वह एक भी है। क्योंकि सभी जीव जीवत्व की दृष्टि से समान हैं। इसी सग्रह नय को ध्यान मे रख कर कहा गया कि आत्मा एक है †। इस तरह द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपेक्षाओ से जितने अपर सामान्य है तथा सत्ता की दृष्टि से जो पर सामान्य है अथवा यो कहिए जितने भी प्रकार के सामान्य या अभेद हो सकते हैं, उन सबका ग्रहण करने वाला सग्रह नय है।

व्यवहार नय

सग्रह नय ने जिस अर्थ को ग्रहण किया है, उस का विधि पूर्वक अवहरण—पृथक्करण करना व्यवहार नय है §। सग्रह नय अभेद को ग्रहण करना है और व्यवहार नय भेद को स्वीकार करता है। सग्रहनय द्वारा स्वीकृत सामान्य किस रूप मे है, इस तथ्य का विश्लेषण करने के लिए व्यवहार नय विशेष को स्वीकार करता है। ये दोनों नय द्रव्य को ही ग्रहण करते है। परन्तु, सग्रह नय द्रव्य को अभेद रूप से स्वीकार करता है और व्यवहार नय भेद रूप से। सग्रह नय सत्ता की अपेक्षा से सभी पदार्थों को पर सामान्य रूप से ग्रहण करता है। व्यवहार नय उसी का पृथक्करण करते हुए कहता है कि सत् क्या है ? वह

† एगे आया।—स्थानाग सूत्र, १, १

§ अतो विधिपूर्वकमवहरण व्यवहार।

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक, १, ३३ ६।

द्रव्य है या गुण? द्रव्य है तो जीव द्रव्य है या अजीव द्रव्य ? जीव द्रव्य में भी नरक है, देव है, मनुष्य है, तिर्यञ्च है या मुक्त–सिद्ध जीव है। नरक मे प्रथम नरक का नारक है या दूसरी, तीसरी यावत् सातवी नरक का ? इस तरह वह अभेद पूर्वक स्वीकृत पदार्थों को भेद पूर्वक विवक्षा करता है। क्योकि लोक व्यवहार भेद पूर्वक ही चल सकता है, अभेद पूर्वक नहीं। और इस नय का मुख्य उद्देश्य व्यवहार सिद्धि है $। इसलिए यह भेद को अपना विषय बनाता है। उक्त तीनो नय द्रव्य को अपना विषय बनाते हैं, अत. द्रव्यार्थिक नय है और आगे कहे जाने वाले चारों नय पर्याय को अपना विषय बनाते हैं, इसलिए पर्यायार्थिक नय हैं।

ऋजु सूत्र नय

भेद—पर्याय की दृष्टि से जो पदार्थ का विश्लेषण करता है, वह ऋजुसूत्र नय है*। यह नय भूत और भविष्य का ग्रहण न करके मात्र वर्तमान का ग्रहण करता है। क्योंकि पर्याय वर्तमान मे ही अवस्थित रहती है। भूत और भविष्य मे द्रव्य स्थित रहता है, परन्तु पर्याय स्थित नहीं रहती। मनुष्य कई बार वर्तमान को ही स्वीकार करता है, भूत और भविष्य को देखता तक नहीं। इसका यह अर्थ नही है कि भूत और भविष्य सर्वथा असत्य है। वह भूत और भविष्य की सत्ता तो मानता है, परन्तु जब वह वर्तमान का ही

$. व्यवहारानुकूल्यात् प्रमाणानां प्रमाणता,
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसंगत: ॥

* भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मत ।
लघीयस्त्रय ३, ६, ७०-७१

अपना प्रवृत्ति क्षेत्र बनाता है, तब ऐसा समझना चाहिए कि उसका प्रयोजन वर्तमान से होता है। क्योकि वस्तु की पर्याय प्रति क्षण बदलती रहती है। अत. जिस क्षण मनुष्य कार्य मे प्रवृत्त है, उस क्षण की पर्यायों मे और अगले क्षण की पर्यायो मे अतर हो जाता है। वर्तमान की अवस्था वर्तमान तक ही सीमित है। इसीलिए वर्तमान की स्थिति एक समय की कही गई है और पर्याय भी अपने स्वरूप मे एक समय तक स्थित रहती है, दूसरे समय मे उसमे परिवर्तन हो जाता है। अस्तु काल की अपेक्षा से अवस्थाएँ भिन्न है, यदि उन पर्यायो मे भिन्नता नही हो, तो सभी काल की अवस्थाए एक हो जायगी। इसी तरह वस्तु की भिन्नता से भी अवस्था मे भेद होता है। एक वस्तु की अवस्था दूसरी वस्तु की अवस्था से भिन्न होती है। 'जैसे हस श्वेत–सफेद है' इस वाक्य मे हस मे और श्वेतपन में जो विभिन्नता नही दीख रही है उसे बताने के लिए ऋजू सूत्र नय कहता है कि हस अलग है और उसका श्वेतपन या उज्ज्वलपन अलग है। यदि ऐसा न माना जाए तो हंस और बुगला एक हो जाएगे। क्योकि दोनो श्वेत हैं, अत. श्वेत वर्ण के जितने भी पशु-पक्षी होगे वे एक हो जाएगे। इस तरह ऋजू सूत्र नय क्षणिकवाद को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि मे प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। क्योकि प्रत्येक वस्तु की पर्याये प्रतिक्षण बदलती रहती है। काल और वस्तुभेद की तरह यह नय देश–क्षेत्र भेद से भी वस्तु मे भेद मानती है।

शब्द नय

उपरोक्त चारो नय अर्थ को अपना विषय बनाते हैं, अत. अर्थ नय है। प्रस्तुत शब्द नय और इसके बाद के दो नय भी शब्द को अपना विषय बनाते हैं, अतः तीनो शब्द नय है।

शब्द नय–काल, कारक, लिग, संख्या आदि के भेद से अर्थ का

भेद मानता है §। काल तीन हैं— भूत, वर्तमान और भविष्य। कारक सात हैं— कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, संबंध, अधिकरण। लिंग तीन है— पुर्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग। संख्या के भी तीन भेद हैं—एकवचन, द्विवचन और बहुवचन। इत्यादि भेद से शब्द के अर्थ मे भी भेद हो जाता है। काल की अपेक्षा से अर्थ भेद का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है— "काशी नगरी थी और काशी नगरी है" उक्त दोनों वाक्यों मे जो अर्थ भेद परिलक्षित होता है, वह शब्द नय की दृष्टि से है। इस तरह कारकादि के भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शब्द नय कालदि के भेद से अर्थ मे भेद मानता है। परन्तु वह शब्द भेद से अर्थ भेद नही मानता है। जैसे कुंभ और कलश दो भिन्न शब्द है, फिर भी शब्द नय उस के अर्थ मे भेद नही मानता है। शब्द नय अनेक पर्याय—अनेक शब्दों द्वारा सूचित वाच्यार्थ को एक ही पदार्थ समझता है *। अस्तु वह कालदि के भेद से ही अर्थ भेद मानता है, शब्द भेद से नही।

समभिरूढ़ नय

शब्द नय कालादि के भेद से अर्थ भेद मानता है। एक काल या एक लिंग वाले पर्यायवाची शब्दो मे वह भेद नही करता है। परन्तु जब यह भेद बुद्धि कुछ आगे बढ़ती है, तो वह शब्द भेद से भी अर्थ भेद मानने लगती है, यह दृष्टि समभिरूढ नय के नाम से जानी जाती है।

§ कालादि-भेदेन ध्वनेरर्थ भेद, प्रतिपद्यमान शब्द।

—प्रमाणनय तत्त्वालोक, ७, ३२

* अयं शब्दनयोऽनेकैः पर्यायैरेकमेव च।

मन्यते कुम्भ-कलश-घटाद्येकार्थ वाचक.॥

—नयकर्णिका, १४

वह व्युत्पत्ति के भेद से पर्यायवाची शब्दो के अर्थ मे भी भेद स्वीकार करता है §। यह नय केवल कालादि के भेद पर ही अर्थ भेद मानना प्रर्याप्त नही समझता। इस की दृष्टि मे जहां शब्द भेद है वहा अर्थ भेद अवश्य है †। उदाहरण के लिए निर्ग्रन्थ, श्रमण और मुनि तीन शब्द ले। शब्द नय की दृष्टि से इन तीनो शब्दो के अर्थों मे कोई अन्तर नही है, क्योंकि तीनो का लिंग एक है। परन्तु समभिरूढ़ को यह बात मान्य नही है। वह कहता है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद नही मानेंगे तो तीनो शब्द एक हो जाएगे। अस्तु तीनों शब्दो के अर्थ मे अन्तर है, क्योकि तीनो शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न है। 'निर्गतो ग्रथीर्यस्य स निर्ग्रन्थः'। 'श्रमं करोतीति श्रमण.'। 'मौन धारयतीति मुनि.'। इस तरह तीनों शब्द अपने-अपने भिन्न अर्थों को लिए हुए हैं, अत. वे एक नहीं हो सकते। द्रव्य और भाव ग्रथि– गाठ का त्याग करने वाले का अर्थ निर्ग्रंथ है, श्रम–तपस्या करने वाला यह श्रमण शब्द का अर्थ है और मौन धारण करने वाला यह मुनि शब्द का अर्थ है। इस तरह समभिरूढ नय शब्द भेद से अर्थ मानता है।

एवंभूत नय

प्रस्तुत नय समभिरूढ नय से भी एक कदम आगे रखता है। समभिरूढ़ि नय व्युत्पत्ति भेद से अर्थ मानता है, परन्तु एवभूत नय कहता है कि जिस समय व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ घटित होता हो उस समय ही उस

§– पर्याय-शब्देषु निरुक्ति भेदेन, भिन्नमर्थ समभिरोहन् समभिरुढ.।

—प्रमाण नय तत्त्वालोक, ७, ३६।

† पर्यायशब्द भेदेन भिन्नार्थस्याविरोहणात्,
नय. समभिरुढ स्यात्, पूर्ववच्चास्य निश्चय.॥

—श्लोकवार्तिक

शब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिए‡। यथा—जिस समय वाह्य एव आभ्यान्तर ग्रन्थि—परिग्रह की गाँठो से रहित हो उस समय ही निर्ग्रन्थ कहना चाहिए, परन्तु जिस समय राग-द्वेप मे परिणति हो रही हो या वाह्य पदार्थों के सग्रह मे प्रवृत्ति कर रहा हो, उस समय निग्रन्थ नही कहना चाहिए। जिस समय श्रम या तपश्चर्या कर रहा हो, उस समय श्रमण और जिस समय मौन धारण कर रखा हो, उस समय मुनि कहना चाहिए।

सप्त नयों का पारस्परिक संबंध

यह हम देख चुके हैं कि पीछे की नय का विषय पहले की नय के विषय से सकुचित होता जाता है। नैगम नय का दायरा सबसे विस्तृत है। क्योकि वह सामान्य एव विशेष उभय को ही अपना विषय बनाता है। कभी सामान्य को प्रमुखता देता है और विशेष को गौणता, तो कभी विशेष को प्रधानता देता है और सामान्य को अप्रधानता। सग्रह नय का क्षेत्र पूर्व नय से सीमित हो जाता है। वह केवल सामान्य को ही स्वीकार करता है। व्यवहार नय सग्रह द्वारा स्वीकृत विषय का ही कुछ विशेषताओ के आधार पर विभाजन करता है। ऋजुसूत्र नय का विषय व्यवहार नय से भी कम है,क्योकि व्यवहार नय त्रिकालिक विपय का अस्तित्व स्वीकार करता है, परन्तु ऋजुसूत्र नय केवल वर्तमान को ही स्वीकार करता है। शब्द नय का क्षेत्र उससे भी सीमित है, क्योकि वह कालादि के भेद से ही शब्द के अर्थ मे अतर मानता है। समभिरूढ नय व्युत्पत्ति भेद से अर्थ मानता है और एवभूत नय शब्द की व्युत्पत्ति के अनुरूप जिस समय प्रवृत्ति हो रही हो उस समय ही उस व्यु-

‡ "क्रिया परिणतार्थ चेदेवम्भूतो नयो वदेत्।

—द्रव्यानुयोग तर्कणा

त्पत्ति सिद्ध अर्थ को मानताहै। इस तरह एवंभूत नय का दायरा सब से छोटा है। इस तरह सातो नय एक दूसरे के साथ सबद्ध है। उत्तर-उत्तर नय पूर्व-पूर्व नय पर आधारित है। और पूर्व-पूर्व नय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर नय सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है।

स्याद्वाद और नयवाद का सम्बन्ध

जैनदर्शन के चिन्तन की दृष्टि काफी विस्तार से पाठको के सामने आ गई है। इतने विस्तृत विवेचन के वाद यह स्पष्ट हो गया कि नय-वाद एकान्तवादी नही है। नयवाद,स्याद्वाद दृष्टि को सामने रख कर ही विवेचन करता है। यह तो एक विवेचन करने की शैली है कि वह कभी सामान्य की दृष्टि से वस्तु का विवेचन करता है, तो कभी विशेष की अपेक्षा से। कभी उसकी दृष्टि मे द्रव्य की प्रमुखता होती, तो कभी पर्याय की प्रमुखता रहती है। इसी अपेक्षा से सातो नय को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो भागों मे विभक्त किया गया है। प्रथम के तीन सा-मान्य की ओर अधिक झुके हुए हैं, तो पीछे के चार नयो मे विशेष की ओर अधिक झुकाव है। सामान्य और विशेष या द्रव्य और पर्याय ये दोनो ही वस्तु मे स्थित हैं। स्याद्वाद भी दोनो को स्वीकार करता है और नयवाद भी दोनो दृष्टियो को सामने रखता है। अतर सिर्फ वि-वेचन करने का है, दोनों की विवेचन शैली – पद्धति मे अन्तर है। वह यह कि स्याद्वाद वस्तु के समग्र रूप का विवेचन करता है और नयवाद वस्तु के एक अश का विवेचन करता है। परन्तु दोनो की दृष्टि सापेक्ष है। अत. स्याद्वाद एव नयवाद मे कोई सैद्धातिक भेद नही है।



तत्त्व-मीमांसा
द्वितीय अध्याय

प्र०– संसार में तत्त्व (पदार्थ) कितने हैं ?

उ० जैन दर्शन मे तत्त्वो की सख्या नव मानी है । आगम मे नव तत्त्वो का उल्लेख मिलता है । और तत्त्वार्थ सूत्र मे सात तत्त्वो का उल्लेख किया है। परन्तु, इस से मान्यता मे कोइ अन्तर नही आता। केवल सख्या गिनने का अन्तर है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष ये नव तत्त्व है। सात तत्त्व स्वीकार करने वाले पुण्य-पाप को अलग नही गिनते। इसका अर्थ यह नही है कि वे पुण्य-पाप को मानते ही नही। वे भी पुण्य-पाप को स्वीकार करते है †। परन्तु, उस की गणना आस्रव या वध तत्त्व मे कर लेते है। शुभ और अशुभ परिणामो से शुभ-अशुभ कर्मों का वन्ध होता है। ये शुभाशुभ परिणाम भाव पुण्य-पाप है। और उन से वन्धने वाले शुभाशुभ कर्म द्रव्य पुण्य - पाप हैं। अत सैद्धातिक दृष्टि से नव और सात तत्त्व मानने मे कोई अन्तर नही पडता । यदि मूल तत्त्व नव मान लेते है तो फिर किसी तत्त्व के अवान्तर भेद नही करने पडते है और सात की सख्या मानते हैं तो वन्ध के दो अवान्तर भेद करके नव की गणना को पूरा कर दिया जाता है । चाहे किसी भी तरह से माने जैन मान्यता के अनुसार तत्त्वो की सख्या नव है। इस में ससार के सभी

† शुभ. पुण्यस्य, अशुभ पापस्य।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ६, ३–४.

पदार्थों का समावेश हो जाता है।

इसमे भी मूल तत्त्व दो ही हैं— एक जीव और दूसरा अजीव या यो भी कह सकते हैं, एक जड और दूसरा चेतन। शेष सात तत्त्व इन्ही के अवान्तर भेद हैं। सभी पदार्थों का सरलता से वोध हो सके इसलिए तत्त्वो का वर्गीकरण किया गया है। अन्यथा विश्व का कोई भी ऐसा पदार्थ नही है, जो जड़-चेतन से पृथक् किसी तीसरी किस्म का हो। सभी पदार्थ चेतन या जड दो ही रूपो मे पाए जाते है।



आत्म मीमांसा

भारतीय चिन्तनधारा का विकास आत्म तत्त्व को केन्द्र मान कर हुआ है। चार्वाक का विचार,चिन्तन-मनन एव सिद्धात भी इसमे वाधक नही है। चार्वाक दर्शन का गहराई से अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि उसने आत्मा की चेतना शक्ति को मानने से इन्कार नही किया है किन्तु उसने सिर्फ चेतन के स्वरूप की व्याख्या अपने ढग से की है। उसने आस्तिक माने जाने वाले सभी भारतीय दर्शनो से विपरीत दिशा मे सोचा है। उसे नास्तिक एव अनात्मवादी कहने का यही कारण है कि उसने आत्मा को चेतन तो माना है, परन्तु उस चेतन (आत्मा) की स्वतत्र एव पृथक सत्ता को नही माना। इस तरह सभी भारतीय दर्शन आत्मा को आधार मानकर चले है। अत प्रत्येक भारतीय के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्मा के सवध मे भी सोचे-समझे एव जाने। इस विचार को सामने रखते हुए हम ज़रा विस्तार से भारतीय दर्शनो की आत्मा विषयक मान्यता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

किसी वस्तु के स्वरूप का परिज्ञान करने के पहले उसके

अस्तित्व के विषय मे यह जान लेना अत्यावश्यक है। इस दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का विचार करने के पहले हम इस बात पर विचार करेंगे कि आत्मा के अस्तित्व के विषय मे भारतीय चिन्तको की क्या दृष्टि रही है।

भारतीय चिन्तनधारा मे आज श्रमण एवं ब्राह्मणो का साहित्य उपलब्ध है। श्रमणो एवं ब्राह्मणो की बढती हुई आध्यात्मिक प्रवृत्ति एव अध्यात्म चिन्तनधारा के प्रवाह मे आत्म विरोधी चिंतको की विचारधारा एव साहित्य प्रवाहमान हो गया। ब्राह्मणो ने अनात्मवादियो के विषय मे प्रासगिक रूप से जो कुछ कहा उसी का वेदो से ले कर उपनिषदो तक मे उल्लेख मिलता है। जैनागमो एव पिटको(बौद्धग्रन्थो) में भी विरोधी विचार धारा के खण्डन के रूप मे अनात्मवादियो के सिद्धांत का उल्लेख किया गया है। अनात्मवादियो केसिद्धांत को सही जानकारी देने वाला कोई ग्रन्थ नही है। दार्शनिकटीका ग्रन्थो से इतनी जानकारी मिलती है कि दार्शनिक ग्रथो के रचना काल मे अनात्मवादियो ने अपने विचार वृहस्पति सूत्र के रूप मे रखे थे। किन्तु दुर्भाग्य से आज वह ग्रथ भी उपलब्ध नही है। अत आत्मा के सम्वध मे उनकी मान्यता क्या रही है, इस की जानकारी आत्मवादी विचारको के शास्त्रो एव दार्शनिक ग्रन्थो मे उल्लिखित आधार पर ही की जा सकती है।

अनात्मवादी चार्वाक यह नही कहता है कि आत्मा नहीं है, वह आत्मा का या उसकी चेतना शक्ति का अभाव नही मानता। उस को मान्यता यह है कि एक या एकाधिक (अनेक) जितने भी पदार्थ या तत्त्व हैं, उनमे आत्मा नाम का कोई स्वतत्र या मौलिक तत्त्व नही है। कई तत्त्वो के सयोग से आत्मा मे चेतना शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह उन्ही तत्त्वो का एक रूप है, उनसे भिन्न कोई स्वतत्र शक्ति नही है। इसी बात को लक्ष्य मे रखते हुए उद्योतकर ने न्यायवार्तिक मे कहा

है कि आत्मा के अस्तित्व के संबंध मे दार्शनिको मे सामान्यत मतभेद नहीं है। मतभेद या विवाद है तो वह आत्मा के स्वरूप को मानने के संबंध में है। कोई शरीर को ही आत्मा मानते हैं,कोई बुद्धि को,कोई इन्द्रियों को, कोई मन को और कोई संघात को आत्मा समझते हैं । कुछ ऐसे विचारक भी है कि जो इन सबसे पृथक आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानते हैं। * इससे स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के सभी विचारको ने आत्मा को मानने से इन्कार नही किया। आत्मा के विषय मे उनका कोई मतभेद नहीं है, मतभेद है उसके स्वरूप को लेकर।

मानव जब तक चिंतन की गहराई मे नही उतरता, अपने अंदर नही झांकता-देखता, तब तक उसकी दृष्टि, उसकी विचारधारा, उस की सोचने-समझने की शक्ति बाह्य पदार्थों तक ही सीमित रहती है। और जब तक मनुष्य बाहरी पदार्थों की ओर ही देखता - विचारता है तब तक वह उन्हे ही मौलिक तत्त्व के रूप मे स्वीकार करता है। क्योंकि उनके अतिरिक्त उसके सामने अन्य कोई द्रव्य है ही नही जिस पर वह कुछ सोचे - विचारे। यही कारण है कि उपनिषदो मे कई ऐसे विचारको का अभिमत देखने को मिलता है, जिन्होने जल§ वायु* जैसे इन्द्रिय ग्राही पदार्थों को विश्व के मूल तत्त्व के रूप मे स्वीकारा है। उन की विचार शक्ति आत्मा के अमूर्त स्वरूप तक पहुची ही नही। आत्मा की बात तो दूर रही, भौतिक तत्त्वो मे भी वे सूक्ष्म शक्तियो का साक्षात्कार करने मे असफल रहे। उन की निगाह मूर्त और उस मे भी स्थूल पदार्थों को ही देख सकी और वे उन्ही की अनुभूति कर सके। पर इतना तो मानना होगा कि यह उन के चिन्तन की पहली भूमिका

* न्यायवार्तिक पृ. ३६६.

§ बृहदारणयक ५, ५, १ * छान्दोग्योपनिषद,४, ३

थी। विश्व को जानने की जिज्ञासा मानव मन मे जग चुकी थी। उस का मन-मस्तिष्क चिन्तन के क्षेत्र मे अगडाई लेने लगा था।

जव मानव मनन के क्षेत्र मे आगे वढा, जरा गहराई मे उतरा तो उसने मूर्त पदार्थों को मौलिक तत्त्व न मान कर असत् §, सत् ‡, आकाश † आदि सूक्ष्म एव वुद्धिग्राह्य पदार्थों को स्वीकार किया। वह कुछ आगे तो वढा, परन्तु अभी तक भौतिक पदार्थों से ऊपर नही उठा। उसका चिन्तन जडत्व पर ही अटक गया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस ने इन वाह्य तत्त्वो को ही मौलिक माना हो और इन्ही अतीन्द्रिय तत्त्वो में से ही आत्मा की उत्पत्ति की हो।

जव चिन्तक की चिन्तन धारा वाह्य पदार्थों से हट कर अदर की ओर मुड़ी, या यो कहिए कि जव साधक विश्व के मूल को वाहर नही, अपितु अपने भीतर ही शोधने लगा, तव उसने प्राण § तत्त्व को मौलिक तत्त्व के रूप में स्वीकारा। और प्राण तत्त्व से विकास करके वह ब्रह्म या आत्माद्वैत तक पहुच गया हो, ऐसा लगता है।

आत्मिक चिन्तन की उत्क्राति के इस स्वरूप का समर्थन आत्मा से संवद्ध मिलने वाले विभिन्न नामो से होता है। आचारांग सूत्र में जीव के लिए भूत, सत्व, प्राण जैसे शब्दो का जो व्यवहार देखने को मिलता है, वह चिन्तन धारा के आत्मा तक पहुचने के इतिहास को प्रस्तुत करता है। प्राचीन विचारक किसी एक तत्त्व को ही विश्व का मूल या मौलिक तत्त्व मानते थे। उन्होने दो या दो अधिक मौलिक तत्त्वो को कभी नही स्वीकारा। अत उन्हें हम आत्म अद्वैतवादी कह सकते हैं।

इस आत्म अद्वैत विचार धारा के समय मे एवं उससे भी पहले

§ छान्दोग्य उपनिषद्, ३, १९, १. ‡ छान्दो० ६, २.

† छान्दो० १, ९, १; ७, १२. § छान्दो०, १, ११, ५; ४, ३, ३; ३, १५, ४.

द्वैत विचारधारा भी प्रवाहमान थी। इस के प्रमाण पाली त्रिपिटक, जैन आगम एवं सांख्य दर्शन आदि ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। बौद्ध, जैन और सांख्य के विचार में विश्व के मूल में केवल एक ही जड़ या चेतन मौलिक तत्त्व नहीं, बल्कि जड़ और चेतन ऐसे दो मौलिक तत्त्व हैं, जिसके आधार पर यह विश्व खड़ा है। जैनों ने उसे जीव और अजीव के रूप में स्वीकार किया, सांख्य ने पुरुष और प्रकृति के रूप में माना और बौद्धों ने उसे नाम और रूप कहकर पुकारा।

सांख्य जैनों की तरह व्यक्ति भेद से अनेक जीव-चेतन मानता है। परन्तु यह प्रकृति–जड़ को एक मूल तत्त्व मानता है। जैन चेतन की तरह जड़ को भी एक नहीं, अनेक तत्त्व स्वीकार करते हैं। न्याय-दर्शन और वैशेषिक दर्शन भी जड़ और चेतन दो तत्त्व मानते हैं और जड़ को सांख्य की तरह एक मौलिक तत्त्व न मान कर जैनों की तरह अनेक तत्त्व स्वीकार करते हैं। ये सभी बहुवादी आत्मा को मानते हैं, परन्तु कुछ ऐसे बहुवादियों का वर्णन भी मिलता है, जो आत्मा को स्वतन्त्र एवं मौलिक तत्त्व नहीं स्वीकार करते। दार्शनिक टीका ग्रन्थों एवं आगमों में चार्वाक, नास्तिक, बार्हस्पत्य और लोकायत आदि मतों का खण्डन करते हुए लिखा है कि इन लोगों की मान्यता है कि इस लोक में पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश ये पांच महाभूत हैं और इन से एक आत्मा उत्पन्न होता है और उनके नाश के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है, आत्मा नाम का कोई मौलिक एवं स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है §।

इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आत्म स्वरूप की मान्यता

§ सूत्रकृतांग १, १, १, ७-८।

मे जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उस मे चिन्तन का एक विकास क्रम सन्निहित है। उपनिषद् मे यह विकास क्रम और स्पष्ट हो जाता है।

भूतवादी

मनुष्य ने पहले वाह्य शक्तियो की महान् ताकत को देख कर उन्हे विश्व का मूल कारण माना हो ऐसा लगता है। परन्तु मनुष्य को इतने मात्र से सतोष नही हुआ, उसने अपना ध्यान दुनिया के भौतिक पदार्थों पर से हटा कर अपने अदर लगाया, तो उसे जीवन मे महान् स्फूर्ति का दर्शन हुआ। उस ने अन्य भौतिक पदार्थों को अपेक्षा अपने अन्दर अधिक स्फूर्ति का अनुभव किया। और वह इस निर्णय पर पहुँचा हो कि मेरा शरीर ही आत्मा है। देह के अतिरिक्त कोई आत्म तत्त्व हो ऐसा दिखाई नही पड़ता। छान्दोग्य उपनिषद् मे एक कथा दी है कि असुरो मे वैरोचन और देवो मे से इन्द्र प्रजापति के पास आत्म स्वरूप जानने को गए। प्रजापति ने उन के सामने दो पानी से भरे वर्तन रख कर उस मे देखने को कहा और फिर पूछा कि तुम क्या देख रहे हो? दोनो ने उत्तर दिया कि नख से ले कर शिखा तक अपना ही स्वरूप। प्रजापति ने कहा, बस यही आत्मा है। इस से असुरों को तो सतोष हो गया, वे देह का परिपोषण करने मे व्यस्त रहने लगे, परन्तु इन्द्र को इस उत्तर से सतोप नही हुआ। देहवादियो की मान्यता है कि अन्न से ही शरीर वना है और अन्न से ही वह वढता है, अत. आत्मा अन्नमय ही है "अन्नमय एव प्राणा"*।

जैन और वौद्ध दोनो के शास्त्रो मे इस मत को तज्जीवतज्छरी-

* तैत्तरीय २, १, २।

रवादी कहा है। बौद्धो के दीघनिकाय और जैनो के रायपसेणीय सूत्र मे नास्तिक राजा प्रदेशी का विस्तृत वर्णन मिलता है कि वह आत्मा को देह से भिन्न नही मानता था। उस ने आत्मा को खोजने के लिए अनेक प्रयत्न किए फिर भी वह उस मे असफल रहा। इस का कारण स्पष्ट है कि वह आत्मा को देह या भौतिक तत्त्व मान कर ही अन्वेषण करता रहा, उस को साकार रूप मे पाने का प्रयत्न करता रहा। यदि वह आत्मा को चेतन, अमूर्त एव शरीर से पृथक मान कर उस का अन्वेषण करता, तो उस के अन्वेषण की प्रक्रिया और ही होती। फिर वह उसे देह मे नही शोधता, बल्कि अपने अदर झाक कर देखता, चिंतन की गहराई मे पहुचने का प्रयत्न करता। जैसा कि केशी श्रमण के प्रतिबोध के बाद उसने प्रयत्न किया था और वह उस मे सफल भी रहा। इस तरह कुछ विचारक देह को ही आत्मा मानते थे। उन की स्थूल दृष्टि शरीर के आगे नही देख सकी और न उनका चिन्तन ही आत्म-स्वरूप तक पहुच सका।

प्राणात्मवादी

कुछ विचारको ने देह को ही आत्मा माना। परन्तु, कई चिंतको को इतने मात्र से सतोष नही हुआ। वे ज़रा चिन्तन की गहराई मे उतरे, तो उन का ध्यान सबसे पहले प्राण की तरफ गया। निद्रा के समय शरीर और इन्द्रिए सो जाती है, तब भी प्राण जागृत रहता है अर्थात् श्वासोच्छ्वास निरन्तर चलता रहता है, उसका कार्य उस समय भी बन्द नही होता। अत. उनकी दृष्टि प्राण तक पहुची और उन्होने प्राण को आत्मा स्वीकार किया।

शरीर का बहुत कुछ कार्य इन्द्रियो पर आधारित है। इसलिए

कुछ साधको की दृष्टि इन्द्रियो पर भी गई और उन्होने इन्द्रियो को आत्मा माना । बृहदारण्यक मे इस का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि इन्द्रिया स्वय कार्य करने मे समर्थ है। इस तरह इन्द्रियो को आत्मा मानने की परपरा चली । इस का खण्डन दार्शनिक एव टीका ग्रन्थो मे मिलता है। इस से यह स्पष्ट है कि किसी समय किसी व्यक्ति की यह मान्यता रही हो । इस मत के विचारकों का यह विश्वास था कि मृत्यु प्राण की नही, वल्कि इन्द्रियो की होती है । मृत्यु इन्द्रियो को थका देती है, शिथिल कर देती है और निष्प्राण वना देती है। इस तरह इन्द्रियो के मध्य मे निवसित प्राण का मृत्यु कुछ नही विगाडती । इन्द्रियो की गति वन्द होने के कारण प्राण रुक जाता है और मनुष्य मर जाता है। इस प्रकार इन्द्रियो ने ही प्राण का स्थान ले लिया और ये ही आत्मा मानी जाने लगी । जैनागमो मे भी दस प्राण मे इन्द्रियो को भी प्राण माना है, परन्तु उन्हे आत्मा से भिन्न स्वीकार किया है ।

मनोमय आत्मा

मानव चिन्तन इन्द्रियो और प्राण तक ही सीमित नही रहा । वह आगे भी सोचता रहा और उसी चिन्तन की गहराई मे उसने मन को देखा । वह सोचने लगा मन इन्द्रियो एव प्राणो से भी महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रियो एव प्राण का सचालक मन ही है। मन का सम्पर्क होने पर ही इन्द्रिया अपने विषय को ग्रहण कर सकती है, उस के अभाव मे कोई इन्द्रिय किसी विषय को ग्रहण करने मे स्वतन्त्र नही है, अत मन ही आत्मा है या विश्व का मूल तत्त्व है।

यह नित्तात सत्य है कि इन्द्रिय एव प्राण की अपेक्षा मन सूक्ष्म है। परन्तु वह भौतिक (जड) है या अभौतिक (चेतन्य) इस विषय

को लेकर दार्शनिको मे काफी मतभेद रहा है। फिर भी इतना तो मानना होगा कि कुछ विचारक मन को अभौतिक मानते थे । न्याय-वैशेषिक दर्शन मे मन को अणु मानते हुए भी उसे पृथ्वी आदि भूतो के अणु से विलक्षण माना है ‡ । साख्य दर्शन ने ऐसा माना है कि जीवन मे भूतो की निष्पत्ति होने से पहले ही प्राकृतिक अहकार मे से मन का उद्भव हो जाता है, इस से भूतों की अपेक्षा मन की सूक्ष्मता का सकेत मिल ही जाता है । वैभाषिक बौद्धो ने तो मन को विज्ञान का समनन्तर कारण स्वीकार किया है § । तैत्तरीय उपनिषद् मे "अन्योन्तरात्मा मनोमय." इस वाक्य से मन को आत्मा माना है। बृहदारण्यक* एव छान्दोग्य § उपनिषद् मे मन को परम ब्रह्म सम्राट और ब्रह्म कहा है।

इस तरह कुछ विचारक मन को अभौतिक तत्त्व के रूप मे स्वीकारते थे । जैनो ने इन्द्रियो की तरह मन को भी प्राण माना है और १० प्राणो मे उसका भी समावेश किया गया है † । और उसे सब से सूक्ष्म माना है फिर भी उसे भौतिक ही माना है। क्यो कि अन्य इन्द्रियो की तरह उसका निर्माण भी परमाणु के समूह रूप स्कधो से होता है ।

‡ न्याय सूत्र, ३, २, ११; वैशेषिक सूत्र, ७, १, २३ ।

§ षण्णामनन्तरातीन विज्ञानं यद्धि तन्मन ।

—अभिधर्मकोष, १, १७

* बृहदा० ४, १, ६ ।

§ छांदो० ७, ३, १ ।

† श्रुत इन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय, घ्राण इन्द्रिय, रसना इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य बल प्राण ।

जब विचारकों ने मन के आगे सोचना शुरु किया तो उन्हे लगा कि मन भी स्वय निर्णय करने में समर्थ नही है, वह भी किसो के द्वारा सचालित है । मन और प्राण प्रज्ञा के द्वारा ही अपने - अपने विषय की जानकारी कर सकते है । अत कौषीतकी उपनिषद् मे प्राण को प्रज्ञा या प्रज्ञा को प्राण कहा गया हैं * । इसी तरह तैत्तरीय उपनिषद् में विज्ञानात्मा को मनोमय आत्मा कहा है और ऐतरेय उपनिषद् मे प्रज्ञान ब्रह्म की जो पर्याये गिनाई गई हैं, उस में मन भी शामिल है । इस से स्पष्ट होता है कि मन के साथ प्रज्ञा, प्रज्ञान और विज्ञान का सबंध रहा हुआ है । उक्त तीनो शब्द एकार्थक हैं । मन भी सूक्ष्म है, परन्तु उसे कुछ दार्शनिक भौतिक मानते हैं और कुछ अभौतिक । पर जब से प्रज्ञा, प्रज्ञान या विज्ञान को आत्मा माना जाने लगा तब से आत्मा को भौतिक से अभौतिक मानने लगे ।

प्रज्ञा को इन्द्रियो का अधिष्ठाता अवश्य माना गया परन्तु अभी तक प्रज्ञा के स्वयं प्रकाशक रूप की ओर किसी का ध्यान नही गया । वह सब इन्द्रियो का स्वामी है, फिर भी इन्द्रियो की सहायता के बिना किसी विषय की जानकारी नहीं कर सकता । सुषुप्तावस्था मे इन्द्रिय सुप्त रहती है, अत. उस समय ज्ञान नही होता । इसी तरह दूसरे जन्म मे जब तक इन्द्रियो की प्राप्ति नहीं हो जाती,तब तक प्रज्ञा अपना काम नही कर सकती । इन्द्रिया प्रज्ञा के आधीन है,ऐसा मानने पर भी यह कहा जाता है कि वह इन्द्रियो के सहयोग बिना कुछ भी नही कर सकती । इस का कारण यह है कि उन्होंने प्रज्ञा और प्राण को एक माना है और जब तक प्राण को ही प्रज्ञा मानने का आग्रह है, तब तक

* यो वै प्राण. सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण ।

—कौषीतकी, ३, २, ३, ३ ।

उन्हे प्रज्ञा का स्वय-प्रकाशक रूप ध्यान में न आए, यह स्वाभाविक ही है।

जैनो ने प्राण और प्रज्ञा को भिन्न माना है । प्राण परमाणु के समूह से बना स्कध है और प्रज्ञा या ज्ञान आत्मा का गुण है । प्राणों की सख्या बदल भी सकती है, कभी कम - ज्यादा भी हो सकती है और कभी उसका अभाव भी हो सकता है (सिद्ध अवस्था मे) परन्तु ज्ञान आत्मा मे सदा काल बना रहता है, उस का अभाव कभी नही होता । अत. प्राण एव प्रज्ञा एक नही, भिन्न तत्त्व हैं।

प्रज्ञा का काम जानना है। इसलिए वह स्वय प्रकाशक है । जो ज्ञान स्वय को नहीं जानता वह पर को भी नही जान सकता। जैसे दीपक दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी तरह अपने को भी प्रकाशित करता है। जैसे दीपक या सूर्य को देखने के लिए दूसरे दीपक या सूर्य को लाने की आवश्यकता नही होती है। इसी तरह स्वय को जानने के लिए दूसरे के ज्ञान की भी आवश्यकता नही है। उस का अपना ज्ञान स्वयं को भी देखता-जानता है और पर को भी। जो ज्ञान पर को जान सकता है पर स्वय को नही जानता, वह ज्ञान नहीं हो सकता। क्योकि जो पर को जानेगा वह स्वय को भी देखेगा ही अर्थात् यो भी कहा जा सकता है कि स्वय को जाने बिना पर का ज्ञान नही होता।

इतना होते हुए भी अन्वेषण चलता रहा और जब आत्मा के शुद्ध चैतन्य एवं आनन्द रूप तक पहुचे तो कहा गया कि आत्मा— अन्नमय आत्मा अर्थात् जिसे शरीर कहते है, उससे पृथक है। शरीर रथ है और उस रथ को चलाने वाला रथी रथ से भिन्न है। उसी तरह इस शरीर का संचालक ही आत्मा है। आत्मा और शरीर दोनो पृथक हैं। आत्मा के अभाव मे इन्द्रिए एवं प्राण कुछ नही कर सकते। इसलिए आत्मा

प्राण का भी प्राण है। प्रश्नोपनिषद मे यहां तक कहा गया कि प्राण का जन्म आत्मा से ही होता है। इस तरह आत्मा को शरीर, प्राण, मन और इन्द्रियो से पृथक और उन सब का सचालक माना गया। और उसे पुरुष, चेतन, ब्रह्म, आनन्द आदि नामो से पहचाना गया है।

उस पुरुष या आत्मा को अजर, अक्षर, अमृत, अमर अव्यय, अज, नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अनन्त माना है §। और यह भी माना है कि वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त, महत् तत्त्व से परे, ध्रुव है। ऐसे आत्मा को जान-समझ कर मनुष्य मृत्यु के मुख मे से मुक्त हो जाता है*।

उपनिषदों का आत्मवाद एवं तथागत बुद्ध का अनात्मवाद

जब हम आत्मा के विकास क्रम पर दृष्टि डालते है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पहल विचारको की दृष्टि बाह्य पदार्थो पर अटकी रही। उसके बाद चिन्तन बढता गया और विचारको ने शरीर, प्राण, इन्द्रिय एव मन से अतिरिक्त आत्म तत्त्व को स्वीकार किया। और यह भी माना कि वह इन्द्रिय ग्राह्य नही बल्कि अतीन्द्रिय है। इस बात को मानने के बाद उसके स्वरूप को जानने की इच्छा जागृत हुई और सभी विचारको ने आत्मा के स्वरूप को जानने एव उस की व्याख्या करने मे अपनी सारी शक्ति लगा दी। और उस मे वे इतने तल्लीन हो गए कि आत्मानन्द के सामने उन्हे सारे सुख फीके लगने लगे। यहा तक कि आत्म विद्या के सामने स्वर्ग के सुख भी तुच्छ प्रतीत होने लगे। अत. आत्मा की शुद्ध ज्योति का दर्शन करने के लिए उन्होने ससारिक ऐश्वर्य एव सुख साधनो को त्याग कर कठोर तपश्चर्या

§ कठोपनिषद्, ३, २।

* वही, १, ३, १५।

के मार्ग को सहर्ष स्वीकार किया। नचीकेता जैसा सुकुमार वालक भी मृत्यु के वाद आत्मा की क्या स्थिति होती है,इसे जानने के लिए इतना व्याकुल हो उठा कि उसे धन-सपति एवं स्वर्ग का विपुल ऐश्वर्य भी भुलावे मे नही डाल सका। आत्म विद्या को जानने के लिए वह यमराज के सारे प्रलोभनो को ठुकरा देता है। मैत्रेयी के सामने भी जव अपने पति की सपति का अधिकार लेने का प्रसग आया, तो उसने उस प्रस्ताव को ठुकरा कर आत्म विद्या की शोध मे अपना जीवन लगाना चाहा। उसने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि जिस धन-वैभव से मैं अमर नही वन सकती उसे लेकर क्या करू? उसने अपने पति से कहा कि आप मुझे वह विद्या सिखाएं, जो मुझे अजर-अमर वना सके।

इस तरह वाह्य सुखो से हटकर आत्म तत्त्व को जानने की प्रवल जिज्ञासा विचारको मे वढने लगी। और परिणाम स्वरूप वैदिक क्रिया-काण्ड के प्रति विचारकों की अरुचि होने लगी। वे अपना ध्यान शुष्क क्रिया-काण्ड से हटा कर आत्मा के प्रत्यक्षीकरण मे लगाने लगे। परन्तु आत्मा के अमूर्त स्वरूप को प्रत्यक्ष में न देख सकने के कारण विचारको में आत्म स्वरूप के विषय मे एक रूपता नही रही। जिस विचारक के चिन्तन में जो कुछ सूझा उसी का उस ने प्रतिपादन किया। इससे कुछ विचारकों के मन मे आत्म तत्त्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगी। तथागत वुद्ध के विचारो मे यह प्रतिक्रिया स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। क्योंकि सभी उपनिषदों का सार यह है कि विश्व के मूल में एक शाश्वत आत्मा – व्रह्म तत्त्व है, और कुछ नही। उपनिषद् के ऋषियो ने यहा तक कह दिया कि जो व्यक्ति अद्वैत तत्त्व को न मान कर द्वैत या भेद की कल्पना करते हैं, अपने सर्वनाश को निमन्त्रण देते

हैं §। इस तरह के एकान्त नित्य-शाश्वत और अद्वैत आत्म स्वरूप की मान्यता बढने लगी। और विचारक स्पष्ट दिखाई पडने वाले द्वैत को मिथ्या बताने लगे, तब उस का विरोध होने लगा। तथागत बुद्ध विरोधी के रूप मे सामने आए। यह बात अलग है कि उन्हे अनात्म-वाद के सिद्धात को फैलाने मे कितनी सफलता मिली। इस का मूल्यांकन करना ऐतिहासिको का काम है। हम तो यहा इतना ही बताना चाहते है कि तथागत बुद्ध आत्म विरोधी चिन्तन लेकर मैदान मे उतरे और उनने वजनदार शब्दों मे अद्वैतवाद एवं नित्यवाद का खण्डन किया।

तथागत बुद्ध आत्म तत्त्व को विल्कुल अस्वीकार नही करते है। परन्तु उपनिषदो मे आत्मा को जिस प्रकार से एकान्त नित्य, अद्वैत और विश्व का एकमात्र मौलिक तत्त्व माना गया है, बुद्ध ने उस का विरोध किया है और उन्होने वजनदार शब्दो मे कहा है कि आत्मा एकान्त नित्य नही है। यदि उसे एकात नित्य माना जाए तो उस मे कार्य-कारित्व भाव घट नही सकेगा।

आगमो एव दार्शनिक ग्रन्थो मे वर्णित भूतवादियो एव चार्वाक आदि के अनात्मवाद और बुद्ध के अनात्मवादके सिद्धात मे इतना ही साम्य है कि दोनो पक्ष आत्मा को सपूर्ण रूप से स्वतन्त्र द्रव्य और नित्य या शाश्वत नही मानते। उभय पक्ष इस बात मे भी सहमत है कि आत्मा उत्पन्न होता है। परन्तु बुद्ध और चार्वाक की मान्यता मे भेद यह है कि बुद्ध पुद्गल-आत्मा, जीव या चित्त नाम की एक स्वतन्त्र

§ मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
—बृहदा० ४, ४, १९, कठो० ४, ११।

वस्तु भी मानते है और भूतवादी चार या पाच भूत से अतिरिक्त आत्मा नाम की किसी स्वतन्त्र वस्तु को नही मानते। बुद्ध भी जीव या पुद्गल को अनेक कारण से उत्पन्न होने वाला मानते हैं और इस कारण उसे परतंत्र भी मानते हैं परन्तु उसकी उत्पति मे विज्ञान (चैतन्य) और विज्ञानेतर दोनों प्रकार के कारण मौजूद रहते हैं। जबकि भूतवादियो का कहना है कि चार या पांच भूतो के अतिरिक्त कोई भी चैतन्य कारण नही है, जिससे आत्मा की उत्पत्ति होती है। बुद्ध चार या पांच भूतो की तरह विज्ञान को भी एक मूल तत्त्व मानते हैं और वह जन्य होने से अनित्य है, अशाश्वत है। और वे चैतन्य-विज्ञान की सन्तति को अनादि मानते हैं। जलधार की तरह वह एक रूप से परिलक्षित होने पर भी एक दूसरे जल बिन्दु की तरह भिन्न है। ऐसी विज्ञान धारा को बुद्ध ने माना है, परन्तु भूतवादियो को किसी भी तरह की भूतेतर चैतन्य शक्ति मान्य नही है और न वे विज्ञानधारा को ही मानते हैं।

तथागत बुद्ध ने रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान, इन्द्रियो, इन्द्रियो के विषय और उन से होने वाले ज्ञान, मन, मानसिक धर्म और मनोविज्ञान इन सभी विषयो पर सोचा-विचारा है और अन्त मे सभी को अनित्य, दु ख और अनात्म रूप से बताया है। वे अपने से पूछते हैं कि उक्त विषय नित्य है? तो उत्तर मिलता कि नही अर्थात् दुनिया मे कोई भी वस्तु नित्य नही है। तब फिर पूछते कि अनित्य वस्तु सुख रूप होती है या दु ख रूप? उत्तर मे कहते हैं—दु ख रूप। तब फिर प्रश्न होता क्या दु ख रूप तत्त्व आत्मा हो सकते हैं? उत्तर निषेध की भाषा में होता अर्थात् ये सारे विषय अनात्मा है। ससार में शाश्वत सुख रूप आत्मा जैसी कोई चीज ही नही है, यह बात वे

श्रोताओं को समझा देते थे ‡।

तथागत बुद्ध अनात्मवादी है परन्तु उच्छेदवादी नही, क्योकि वे चार्वाक आदि की तरह एकान्तत आत्मा का उच्छेद नही करते। बुद्ध को चार्वाक का एकान्त देहात्मवाद भी मान्य नही और उपनिषद का एकान्त सर्वान्तर्यामी नित्य, ध्रुव, शाश्वत आत्मा भी मान्य नहीं। उन के विचार मे आत्मा शरीर से एकान्त अभिन्न है ऐसा भी कहना उचित नहीं और एकान्त भिन्न ऐसा मानना भी उपयुक्त नहीं। उन्हे भूतवादियों का भौतिकवाद भी एकान्त प्रतीत होता है और उपनिषद् का कूटस्थ नित्य आत्मवाद भी एकांत दिखाई देता है। इसलिए उन का मार्ग दोनों वादों के बीच का या मध्यम मार्ग है। जिसे वे 'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'—अमुक वस्तु की अपेक्षा से अमुक वस्तु का निर्माण हुआ ऐसा कहते हैं।

बुद्ध के मत में ससार में सुख-दु ख आदि अवस्थाएं, कर्म, जन्म, मरण, बन्ध-मुक्ति आदि सभी बातें हैं। परन्तु इन सब का कोई स्थिर आधार नहीं। ये सब अवस्थाए पूर्व पूर्व के कारणों से उत्पन्न होती हैं और एक अभिनव कार्य को उत्पन्न करके नष्ट हो जाती है। बुद्ध को न तो पूर्व के कार्य का सर्वथा उच्छेद इष्ट है और न नित्यत्व ही इष्ट है। पदार्थ की उत्तर अवस्था पूर्व से सर्वथा असबद्ध है, अपूर्व है ऐसा भी नही कहा जा सकता। क्योकि उभय अवस्थाएं कार्य-कारण की शृंखला मे आबद्ध है। पूर्व की पर्यायो का संस्कार उत्तर की पर्यायो को मिल जाता है, इस से वे तद्रूप ही हैं अथवा उत्तर पूर्व से अभिन्न है, ऐसा भी उन्हें इष्ट नही हैं, क्योकि इस सिद्धांत को मानने से द्रव्य का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है। इससे बुद्ध के क्षणिकवाद को गहरा धक्का पहुचता है। अतः बुद्ध ने यह कर इस प्रश्न को टाल दिया कि पूर्व

‡ देखो सयुनिकाय १२ ७०, दीघनिकाय-महानिदानसुत, १५।

अवस्था उत्तर अवस्था से न तो सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न है, परन्तु अव्याकृत है $।

दार्शनिकों का आत्मवाद

उपनिषद् काल के वाद अनेक वैदिक दर्शनो की परपरा स्थापित हुई है। और आत्मा के सबध मे उन का दृष्टिकोण उपनिषदो से भिन्न रहा है। उपनिषदों मे भी अनेक विचार परपराए सुरक्षित है, परन्तु उन सव मे एक वात सामान्य रूप से पाई जाती है; वह है अद्वैतवाद। भले ही भूतवादी हो या चेतनवादी, सभी विश्व के मूल मे भूत या चेतन एक ही तत्त्व मानते हैं। ऋगवेद मे भी विश्व के मूल तत्त्व को एक माना है, परन्तु उन्होने उसका भूत या चेतन नाम नही रखा*। ब्राह्मण काल मे उसे प्रजापति का नाम दिया गया और उपनिषदो मे उसे सत्, असत्, आकाश, जल, वायु, प्राण, मन, प्रज्ञा, आत्मा, ब्रह्म आदि अनेक नाम से जाना-पहचाना गया। परन्तु सभी विचारको ने अद्वैतवाद को नही छोडा। परन्तु वैदिक दर्शन मे सभी को अद्वैतवाद स्वीकार नही है। न्याय-वैशेषिक, साख्य, पूर्व मीमासा आदि दर्शनो ने विश्व के मूल मे जड़ और चेतन दो मूल तत्त्वो को स्वीकार किया है और आत्मा को भी एक नही, अनेक माना है तथा जड से भिन्न चेतन स्वरूप स्वीकार किया है।

जैन दर्शन ने भी विश्व के मूल मे जीव और अजीव या जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्वो को स्वीकार किया है। चेतन के शुद्ध स्वरूप को अमूर्त माना है। फिर भी सासारिक आत्माओ को मूर्त और अमूर्त दोनो

$ मिलिन्द प्रश्न २, २५—३३।

* तदेक।

—ऋगवेद १०, १२९

रूप मे स्वीकार किया है। ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा या आत्म द्रव्य की अपेक्षा वह अमूर्त है, परन्तु कर्म के साथ सवद्ध होने से वह व्यवहार दृष्टि से मूर्त भी है। वुद्ध ने भी पुद्‌गल (आत्मा) को मूर्त और अमूर्त कहा है। परन्तु, अन्य सभी दार्शनिको ने चेतन को अमूर्त ही माना है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व के मूल मे भूत (जड़) या चेतन एक ही तत्त्व नही, वल्कि जड़ और चेतन दो मौलिक तत्त्व हैं और दोनो ही तत्त्व स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आत्मा एक है या अनेक

यह हम ऊपर स्पष्ट वता आए हैं कि उपनिषद् काल मे अद्वैतवाद का महत्त्व रहा है। वेदात में भी अद्वैतवाद ही देखने को मिलता है। आचार्य शकर ने भी ब्रह्मसूत्र भाष्य में अद्वैतवाद को ही परिपुष्ट किया है। सभी ने एक आत्मा के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, परन्तु दुनिया में जो अनेक आत्माएं स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी, उन का वे एकदम तिरस्कार नही कर सके। इस की झलक हमे ब्रह्मसूत्र की विभिन्न व्याख्याओ मे स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। परन्तु इन सव व्याख्याकारो मे एकमत नही रहा, इस से वेदात दर्शन मे हमें विचार भेद से अनेक परपराए दृष्टिगोचर होती है।

अन्य वैदिक दर्शनो ने भी आगम के रूप में वेद और उपनिषदो को माना है। परन्तु उन्ही को अक्षरश. आधार मान कर अपने दर्शन शास्त्रो की रचना नही की। इससे उन दार्शनिको ने भी जैनो की तरह जड और चेतन दो तत्त्वो तथा अनेक आत्माओ के सिद्धांत को माना। इस से स्पष्ट है कि ये वैदिक दर्शन वेद वाह्य विचारधारा से प्रभावित हुए हैं। इन पर प्राचीन साख्य एवं जैनो का असर मालूम होता है। प्राचीन साख्य दर्शन जैन दर्शन के काफी निकट था। उस समय वह वेद वाह्य दर्शन गिना जाता था। वाद के विचारकों ने उसे वैदिक विचाराधार

का कुछ पुट देकर वैदिक दर्शन का रूप दे दिया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और सभी इतिहासवेत्ता इस बात से भली-भांति परिचित है।

वेदान्त में विभिन्न विचार भेद

शंकराचार्य का मायावाद

आचार्यशकर का मानना है कि वास्तव मे ब्रह्म एक ही है, ससार मे और कोई मूल तत्त्व नही है। एक ब्रह्म होते हुए जो अनेक जीवात्मा दिखाई देती है, वह अज्ञान एव माया के कारण परिलक्षित होती है। जैसे रज्जू मे सर्प का ज्ञान भ्रम से होता है, उसी तरह अनेक जीवो का जो भान होता है, वह भी भ्रम है। जबकि रज्जू सर्प नही, न सर्प रूप से उत्पन्न ही हो सकती है और न वह सर्प को उत्पन्न ही करती है, फिर भी उसमे सर्प का भ्रम होता है। इसी तरह ब्रह्म न तो अनेक जीव रूप से उत्पन्न होता है और न अनेक जीवो को उत्पन्न करता है, फिर भी संसार मे अनेक जीव दृष्टिगोचर होते है, यह अविद्या है, माया है। इस प्रकार अनेक जीव मायिक है, मिथ्या है। इसी कारण उन्हे ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। जब तक अज्ञान है, तब तक अनेक जीव दिखाई देते है। अज्ञान का पर्दा फटते ही जीव ब्रह्म स्वरूप मे मिल जाता है, फिर द्वैत नही रह जाता। इस तरह आचार्य शकर के मत को 'केवलाद्वैतवाद' कहते हैं। क्योकि यह केवल ब्रह्म को ही सत्य मानता है, और किसी को नहीं §। आचार्य शकर की दृष्टि से सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है, माया है। 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' यह इनकी मान्यता है। इसलिए इन के मत को मायावाद भी कहते हैं।

§ एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति।

सत्योपाधिवाद

भास्कराचार्य ने आचार्य शकर से विपरीत दिशा मे सोचा है । भास्कराचार्य भी एक ब्रह्म को मानते है, परन्तु प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले अनेक जीवो को आचार्य शंकर की तरह मिथ्या नही मानते । आचार्य भास्कर की मान्यता है कि निरूपाधिक ब्रह्म अनादि कालीन सत्य उपाधि के कारण अनेक जीव रूप में प्रकट होता है। नित्य, शुद्ध, मुक्त और कूटस्थ ब्रह्म जिस कारण से अनेक जीवो के रूप मे अवतरित होता है, उसे उपाधि कहते हैं। उस उपाधि के कारण से ब्रह्म अनेक जीवो के रूप में दिखाई देता है, इस से उन्हे औपाधिक रूप से जीव समझना चाहिए। अर्थात् जब वे निरूपाधिक हो तब उन्हे ब्रह्म और सोपाधिक हो तब जीव कहना-मानना चाहिए। आचार्य भास्कर इस उपाधि को सत्य मानते हैं, इस कारण उनके मत को भी 'सत्योपाधिक' कहते हैं।

विशिष्टाद्वैतवाद

आचार्य रामानुज के विचार से ब्रह्म–कारण और कार्य दोनो है । सूक्ष्म चिद् और अचिद् की दृष्टि से विशिष्ट ब्रह्म कारण और स्थूल चिद् और अचिद् की अपेक्षा से वह कार्य है । दोनो विशिष्टो को एक्य मानने के कारण रामानुज के मत को विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं। क्योकि ब्रह्म के सूक्ष्म चिद् के विभिन्न स्थूल परिणाम स्वरूप अनेक जीव हैं और उस का सूक्ष्म अचिद्रूप स्थूल जगत के रूप में प्रकट होता है। जीव अनेक हैं, नित्य हैं, अणुपरिमाण हैं और जीव एव जगत ब्रह्म का ही कार्य होने से मिथ्या नही, सत्य है। मुक्त अवस्था में जीव ब्रह्म रूप बन कर उसके सान्निध्य मे रहता है। जीव और ब्रह्म दोनो कार्य-कारण रूप से भिन्न होते हुए भी एक हैं। क्योंकि कार्य कारण का ही परिणाम

है। अत दोनो एक हैं,अद्वैत है।

द्वैताद्वैत–भेदाभेदवाद

आचार्य निम्बार्क की दृष्टि से चित् और अचित् ये ब्रह्म के दो रूप है। उक्त दोनो रूप ब्रह्म से भिन्न भी हैं,और अभिन्न भी है। जिस तरह वृक्ष और पत्तों मे, दीप और प्रकाश मे भेदाभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और चिद् एव अचिद् रूप दोनो मे भेदाभेद संबंध है। जगत ब्रह्म की शक्ति का रूप है, अत. सत्य है। जीव ब्रह्म का अश है और अग अगी का भेदाभेद सवध है। ऐसे जीव अनेक है, नित्य है और अणुपरिमाण है। यह भी रामानुज की तरह मुक्त दशा में जीव का भेद मानते हैं, पर उसे ब्रह्म से भिन्न नही, अभिन्न ही मानते है। अत इनके मत को द्वैताद्वैत या भेदाभेदवाद कहते हैं।

भेदवाद

आचार्य माध्व वेदान्ती है, फिर भी उन का विचार अन्य वेदान्तियो से भिन्न दिशा मे प्रवहमान हुआ है। ब्रह्म सूत्र की व्याख्या उन्हो ने अपने विचार के अनुरूप की है। उन्होने आचार्य शकर आदि के विचारो के खूटे से अपने दिमाग को बाध कर नही सोचा। यह सत्य है कि रामानुज आदि आचार्यो ने शंकर की तरह अनेक जीवो एव जगत को मिथ्या नहीं कहा है। परन्तु अद्वैत की सुरक्षा सब ने की है और सबने अद्वैत का ही समर्थन किया है। परन्तु आचार्य माध्व ने द्वैत का समर्थन किया है। उन्हो ने ब्रह्म को निमित कारण और जीव को उपादान कारण माना है। वे जीवो मे ही परस्पर भेद है इतना ही नही, परन्तु यह भी मानते है कि जीव ब्रह्म से भी भिन्न है। उन के विचार से जीव अनेक हैं, नित्य हैं, अणु परिमाण है। ब्रह्म की तरह जीव भी सत्य है, केवल वह उस के अधीन है।

अविभागाद्वैतवाद

विज्ञान भिक्षु का कहना है कि प्रकृति और पुरुष—जीव ब्रह्म से अलग दिखाई देने पर भी उससे विभक्त—अलग रह नही सकता। जीव अनेक है, नित्य है, व्यापक है। जीव और ब्रह्म का सबध पिता—पुत्र का—सा सबध है। जैसे जन्म के पहले पुत्र पिता मे ही समाविष्ट था, उसी तरह जीव पहले ब्रह्म मे समाहित था। जन्म के समय वह ब्रह्म मे से प्रकट होता है और प्रलय के समय फिर से उसी मे लीन हो जाता है। ब्रह्म की इच्छा-आकाक्षा से जीव का प्रकृति के साथ सबध होता है और जगत की सृष्टि होती है।

शैवमत

वेदान्त एव उपनिषद् को मानने वालो के अतिरिक्त एक और दर्शन है, जो वेदान्त को न मानते हुए भी अद्वैतवाद को मानता है। वे शिव के उपासक शैव है और उनके दर्शन को 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन कहते है उनके विचार से ब्रह्म के स्थान मे अनुत्तर नाम का एक तत्त्व है। यह तत्त्व सर्वशक्तिमान और नित्य है। उसे शिव और महेश्वर भी कहते है। जीव और जगत ये दोनो शिव की इच्छा से उसमे से प्रकट होते है। इस कारण जीव और जगत दोनो मिथ्या नही, सत्य है।

जीव को एक और अनेक मानने के सबध मे समस्त दार्शनिको मे दो विचार धाराए काम कर रही है। उपनिषद्, वेदान्त—माध्वाचार्य को छोडकर और शैव अद्वैतवाद को मानते है और शेष न्याय-वैशेषिक, साख्य, पूर्व-मीमासक आदि वैदिक दार्शनिक और बौद्ध, आजीविक, जैन आदि अवैदिक दार्शनिक अनेक जीव मानते हैं अर्थात् द्वैतवाद को मानते है।

जैनों का द्वैतवाद

जैनो ने विश्व की रचना मे जीव और अजीव दो मूल तत्त्व माने है और जीव भी एक नही, अनेक माने हैं । विशेषावश्यक भाष्य में भगवान महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करने के पहले इन्द्रभूति गौतम की शकाओ का निराकरण करते हुए भगवान महावीर ने विश्व के मूल मे एक ब्रह्म मानने की वात को तात्त्विक एव व्यवहारिक दृष्टि से अनुचित वताया और अनन्त जीवो के स्वतत्र अस्तित्व को वास्त-विक वताया ।

गौतम ने प्रश्न किया था कि जैसे लोक मे सर्वत्र एक आकाश व्याप्त है, उसी तरह नारक, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च गतियो मे स्थित विभिन्न जीवो में एक ही आत्मा मान लें, तो क्या आपत्ति है ? इस का स्पष्टी करण करते हुए भगवान महावीर ने कहा— हे गौतम ! ऐसा होना संभव नही है। आकाश सर्वत्र एक इसलिए मान्य है कि उस मे सर्वत्र एक समान लक्षण पाया जाता है। परन्तु जीव या आत्मा के सवध मे ऐसी वात नही है। प्रत्येक जीव एक दूसरे से विलक्षण है। इसलिए उन्हे सर्वत्र एक है, ऐसा नही माना जा सकता। क्योकि लक्षण भेद से वस्तु का भेद स्वत सिद्ध हो जाता है । इसका साधक प्रमाण इस प्रकार दिया जा सकता है— जीव अनेक—भिन्न हैं, क्यो कि उनमे लक्षण भेद है, जैसे—घट-पट आदि । क्योकि जो वस्तु भिन्न-अनेक नही होती उसमे लक्षण भेद भी नही होता, जैसे— आकाश ।

यदि जीव को एक ही माना जाए तो फिर ससार-मोक्ष आदि की व्यवस्था वन ही नही सकेगी। और जो हम एक व्यक्ति को दु खी और दूसरे को सुखी तथा किसी को वन्धन युक्त और किसी को मुक्त—सिद्ध अवस्था मे देखते या अनुभव करते हैं, यह प्रत्यक्ष व्यवहार भी गलत

ठहरेगा। क्योकि एक ही समय मे एक जीव सुखी और दूसरा दु खी रह नहीं सकता। इसी तरह एक बन्धन युक्त और दूसरा मुक्त भी नही बन सकता। क्योकि एक ही जीव मे,एक ही समय मे एक सुखी,दूसरा दु.खी यह विरुद्ध अनुभूति नही हो सकती। परन्तु प्रत्यक्ष मे ऐसा देखा जाता है, अत जीव एक नही, विभिन्न हैं, अनेक है, अनन्त हैं, ऐसा मानना चाहिए।

इन्द्रभूति द्वारा दिया गया यह तर्क भी विचारणीय है कि आप (महावीर) जीव का लक्षण उपयोग मानते हैं और यह उपयोग लक्षण दुनिया के समस्त जीवो मे एक-सा है, तो फिर उन विभिन्न जीवो मे विलक्षणता एव अनेकता मानने का क्या कारण है ? उत्तर मे कहा गया कि सामान्य रूप से उपयोग लक्षण सभी जीवो मे समान है, फिर भी प्रत्येक जीव मे उपयोग भी विशेष-विशेष प्रकार का परिलक्षित होता है या यो कह सकते हैं कि उपयोग का उत्कर्ष एव अपकर्ष जीवो मे अनन्त प्रकार का देखा जाता है, इससे स्पष्ट है कि सभी जीवो का उपयोग अलग-अलग है। यदि सब जीवो को एक जीव रूप माना जाय तो सबका ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग एक समान होगा,परन्तु हम प्रत्यक्ष मे अनुभव करते हैं कि एक जीव का ज्ञान-दर्शन रूप उपयोग दूसरे जीव से भिन्न है अर्थात् किसी मे ज्ञान का उत्कर्ष देखने को मिलता है, तो किसी मे अपकर्ष।

दूसरी बात यह है कि जीव को एक मान ले तो फिर उसे सर्व व्यापक भी मानना होगा,जैसे कि आकाश। और उसे सर्व व्यापक मानने से यह दोष आएगा कि उसमे सुख-दु.ख, बध-मुक्ति आदि बाते घटित नही होगी। एक जीव के दु खी होने पर सभी दु खी और एक के सुखी होते ही सब सुखी हो जाएगे। ऐसा कहना चाहिए कि आत्मा को एक मान लेने पर ससार में सुख रह ही नही जाएगा, समस्त ससारी जीव दु खी

ही नजर आएगे। क्योकि संसार मे नारकी और तिर्यन्च जीव ही अधिक है और प्रायः ये सब दु खी होते हैं, अत. फिर तो सारा ससार दु खी ही होना चाहिए। क्योंकि किसी व्यक्ति के सारे शरीर मे रोग फैला हुआ हो और मात्र एक अगुली ही रोग मुक्त रही हो, तो भी उस का सारा शरीर रोग युक्त ही कहा जाता है $। अत ससार के अधिक भाग के जीव दु ख ग्रस्त होने से सभी जीव दु खी प्रतीत होने चाहिए, परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही देखा जाता। एक के सुखी होने पर या मुक्त होने पर न दूसरा सुखी या मुक्त होता है और न एक के दु खी होने पर दूसरा दु खी ही होता है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि जगत के सभी जीव एक नही, अनेक हैं. स्वतन्त्र है।

प्रश्न– जैन दर्शन जीवों को अनेक मानता है,परन्तु स्थानांग सूत्र में 'एगे आया' अर्थात् आत्मा एक है, ऐसा माना है। एक जगह आत्मा को एक मानना और दूसरी जगह अनेक मानना, क्या यह इस बात का प्रतीक नहीं कि जैनागमों में भी आत्मा के सम्बन्ध में एक मान्यता नहीं है।

उत्तर– जनो की मान्यता एक रूप ही है। उसमे विरोध जैसी कोई बात नही है। आत्मा को जो एक और अनेक माना गया है उस मे केवल अपेक्षा भेद है, सैद्धान्तिक भेद या विरोध नही हैं। सिद्ध और ससारी सभी आत्माए असख्यात् प्रदेशी है और सब का उपयोग लक्षण है। अत समान गुण की अपेक्षा से उन्हे एक कहा है और वह भी समान स्वरूप की अपेक्षा से न कि व्यक्ति की अपेक्षा से। यह हम

$ विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १५८१ से १५८४।

पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि जीव का उपयोग लक्षण सामान्य रूप से एक है,परन्तु विशेष दृष्टि से सब जीवो का उपयोग लक्षण उत्कर्ष एव अपकर्ष की अपेक्षा से अनेक प्रकार का है,अत. जैनो द्वारा मान्य एक एव अनेक आत्मा के सिद्धात मे कोई विरोध नही है। स्वरूप मे समानता होने पर भी सब की अनुभूति पृथक - पृथक है। अत जैनो का 'एगे आया' का सूत्र अनेक जीववाद को भी परिपुष्ट करता है।

यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि जीवो को एक नही अनेक मानेगे, तो फिर यह भी मानना होगा कि ससार एक दिन जीव रहित हो जायगा? क्योकि जीव अनादि काल से मोक्ष जाते रहे है, अभी भी जाते है और भविष्य मे भी जाते रहेगे। इस से एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि सारे जीव मुक्ति मे चले जाए और दुनिया खाली हो जाए।

इसका समाधान यह है कि ससार मे जीव अनन्त है और अनन्त सख्या का अर्थ ही यह है कि उसका कभी अन्त नही होता। अनन्त मे से अनन्त घटाने पर भी वह अनन्त ही रहता है। जैसे उदाहरण के तौर पर प्याज के छोटे से छोटे टुकडे को लेते है, उस मे असख्यात गोले है, प्रत्येक गोले मे असख्यात पर्त हैं, प्रत्येक पर्त मे सख्यात शरीर है और प्रत्येक शरीर मे अनन्त जीव है। यह एक प्याज के टुकड़े की बात है, इस तरह पूरे प्याज मे भी अनन्त जीव है और पूरे प्याज मे ही नही समस्त निगोद योनि के जीव भी अनन्त हैं। परन्तु सभी अनन्त आपस मे तरतम भाव वाले हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्त का कभी अत नही आता। अनन्त काल तक अनन्त जीव मोक्ष जाते रहेगे,फिर भी ससार के जीव अनन्त ही रहेगे। गणित ने इस बात को और स्पष्ट कर दिया है। दशमलव के तरीके से आप एक अक मे से

$\frac{1}{10}, \frac{1}{100}, \frac{1}{1000}$ ...... आदि सख्याओ को हज़ारो, लाखो, करोडो वर्षो तक घटाते रहे, फिर भी एक का अंक समाप्त नही होता। यह वात गणित का विद्यार्थी भली - भाति जानता है, फिर भी सर्व साधारण की समझ मे सरलता से आ जाए, इसलिए हम यहां एक गणित का उदाहरण भी दे देते है।

हम एक (Unity) का दसवा भाग लेवे, फिर $\frac{1}{100}$, फिर $\frac{1}{1000}$ और इसी प्रकार $\frac{1}{10000}$ आदि आप अपनी इच्छानुसार भाग ले सकते है। हजारो वर्षो तक एक को उक्त भागो से विभक्त कर सकते हैं। एक मे से आप सव रकमो (Terms) को घटाते (Subtract) चले जाए तव भी एक (Unity) समाप्त नहीं होगा अर्थात् कभी भी शून्य (Zero) नही आयगा। यह पद्धति इस प्रकार है—

$$1-\left(\frac{1}{10}+\frac{1}{100}+\frac{1}{1000}+\frac{1}{10000}+\ldots\ldots\text{(Infinity times)}\right)$$

$$\therefore\ 1-\left(\frac{1}{10}+\frac{1}{_2}+\frac{I}{10^3}+\frac{I}{10^4}+\ldots\ldots\ldots \infty \text{ times}\right.$$

क्योकि $\frac{1}{100}=\frac{1}{10^2}, \frac{1}{1000}=\frac{1}{10^3}, \frac{1}{10000}=\frac{I}{10^4}$ और ∞ का अर्थ है अधिक से भी अधिक (Infinity)। इन को हम Terms in the Geometrical progression or in short G. P. series कहते हैं। आप F. A के Standard की Algebra की पुस्तक में G P. series to infinity का sum देख सकते हैं, इस का Formula (हल करने का तरीका) इस प्रकार है, $\int \infty=\frac{a}{I-r}$

Where $\int \infty$=sum to infinity (सारे भागो की जोड़)

a=G. P. series मे पहली रकम

r=Common ratio of any two

Successive terms of the G P. series

परन्तु यहां a= पहली रकम $= \frac{1}{10}$

r= Common ratio$=\frac{1}{10}$

इसलिए $\int \infty = \frac{a}{1-r} = \frac{\frac{1}{10}}{1-\frac{1}{10}} = \frac{\frac{1}{10}}{\frac{10-1}{10}} = \frac{\frac{1}{10}}{\frac{9}{10}}$

$= \frac{1}{10} \div \frac{9}{10} = \frac{1}{10} \times \frac{10}{9} = \frac{1}{9}$

परन्तु हमे चाहिए $1 - \left[\frac{1}{10} + \frac{1}{10^2} + \frac{1}{10^3} + \ldots\ldots\right]$ या $1 - \int \infty$

क्योकि $\int \infty = \frac{1}{10} + \frac{1}{10^2} + \frac{1}{10^3}$ या $1 - \frac{1}{9}$

क्योकि $\int \infty = \frac{1}{9}$ ऊपर देखे और $1 - \frac{1}{9} = \frac{8}{9}$

इस से यह स्पष्ट हो गया एक (Unity) मे से उपरोक्त हिस्से घटाते रहने पर भी एक की सख्या समाप्त नही होती है। भले ही उसमे से infinity (अनन्त) वार ही क्यो न Subtract कर दिया जाए। अस्तु हम ऐसा कह सकते हैं कि एक मे से थोड़ा-थोड़ा करके हजारो वर्षो तक घटाने रहने पर भी एक

समाप्त नही होता।† इसी तरह अनन्त भी एक ऐसी संख्या है कि उसमे से अनन्त निकाल लेने पर भी उसका अत नही आता। अत. जीवो को अनन्त मान लेने से कोई दोष नही आता। इसलिए अनुभव से यह सिद्ध हो गया हैं कि जीव एक नही,अनन्त ही है।

आत्मा का परिमाण

आत्मा के आकार के संबन्ध मे उपनिषदों मे अनेक कल्पनाएं दिखाई देती हैं। इन सब परिकल्पनाओ के बाद सभी ऋषियो का झुकाव जीव को व्यापक मानने की ओर रहा है। इस तरह अधिकाश वैदिक दर्शन-जीव को व्यापक मानने के पक्ष मे हैं। रामानुजाचार्य आदि कुछ विचारक जिन्होंने आचार्य शंकर के बाद ब्रह्म सूत्र की व्याख्या की है, उन्होने ब्रह्म-आत्मा को व्यापक और जीव-आत्मा को अणु माना है। चार्वाक चैतन्य को देह परिमाण मानता है और बौद्धो ने भी पुद्गल (आदमा) को देह परिमाण माना है। जैन तो आत्मा को देह परिमाण मानते ही हैं। उपनिषदों मे भी आत्मा को देह परिमाण-मानने का उल्लेख मिलता है। कौषीतकी उपनिषद्, ४, २० में कहा है कि जिस तरह म्यान में तलवार व्याप्त है,उसी तरह आत्मा शरीर मे नख से ले कर चोटी तक व्याप्त है। इसी तरह तैतरीय उपनिषद् में अन्नमय,प्राणमय, मनोमय,विज्ञानमय और आनन्दमय ये सब आत्मा शरीर प्रमाण बताएं हैं।

आत्मा को शरीर से सूक्ष्म मानने वाले मत भी थे। कुछ

† आदरणीय प्रोफेसर श्री के० बी० चावला, M. A
Malwa Engineering College, Sanewal.
(Ludhiana) के सौजन्य से।

विचारकों का मानना था कि आत्मा चावल या जव के दाने जितना वडा है*। कुछ का कहना था कि वह अगुष्ट परिमाण है‡। कुछ की दृष्टि मे यह आया कि वह वेंत जितना वडा है†। कुछ चिन्तक उसे अणु से भी अणु मानने लगे§। और आखिर मे जब यह माना जाने लगा कि आत्मा अवर्णनीय है, तव ऋषियो ने उसे "अणोरणीयान महतो-महीयान" कह कर सन्तोष माना।$

जैनों ने संसार में स्थित आत्मा को देह परिमाण मानने के साथ-साथ उसे व्यापक भी माना है। यो तो आत्मा देह परिमाण ही है,परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से उसे व्यापक माना है। जिस समय केवली समुद्घात करता है उस समय वह अपने आत्म प्रदेशों को सम्पूर्ण लोकाकाश मे फैला देता है। अस्तु इस दृष्टि से आत्मा भी व्यापक है, अन्यथा आत्मा देह परिमाण ही है।

जीव को सर्व व्यापक न मानकर देह व्यापक मानने का कारण यह है कि उसके गुण शरीर मे ही प्रत्यक्ष देखे जाते है। जिस प्रकार घट के गुण घट से वाहर न होने से वह सर्व व्यापी नही माना जाता,उसी तरह आत्मा के गुण भी शरीर से वाहर परिलक्षित नही होते हैं, इस कारण वह देह से वाहर नही माना जा सकता। क्योकि जहा जिस वस्तु की अनुपलब्धि होती है, वहा वह पदार्थ नही माना जाता है। जैसे पट को घट रूप नही माना जा सकता, क्योकि वहा घटत्व की अनुपलब्धि है।

* वृहदा० ५, ६, १।

‡ कठो० २, २, १२।

† छान्दो० ५, १८।

§ मैत्री उपनिषद् ६, ३८।

$ कठो० १, २, २०।

इसी प्रकार देह के बाहर आत्मा नही पाई जाती, क्योंकि वहा आत्मत्व की अनुपलब्धि है। किसी भी प्रमाण से आत्मा के गुण देह के बाहर दिखाई नही देते, इसलिए उसे सर्व व्यापक मानना उपयुक्त नहीं है। इस के अतिरिक्त जीव का कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख आदि सब उसमे तभी घटित हो सकते है, जबकि उसे असर्वगत—देहव्यापी और अनेक माना जाए ‡।

आत्मा अणु या चावल या जव के दाने या अगुष्ठ या वेंत परिमाण भी नही है। यदि आत्मा अणु रूप है, तो वह सारे शरीर मे नही रहकर शरीर के किसी एक खास विभाग मे रहेगा। इस से वह शरीर के किसी भी भाग मे होने वाली सुख-दुःखानुभूति को नही वेद सकेगा। क्योकि यह हम प्रत्यक्ष मे देखते है कि शरीर के किसी अग मे लकवा आदि बीमारी होने से चेतना विलुप्त हो जाती है, तो उस अग मे ठडे या गर्म किसी भी तरह के स्पर्श की या सुई चुभाने पर उस की वेदना की अनुभूति नही होती है। उसी तरह यदि आत्मा अणुरूप है तो वह शरीर के जिस भाग मे है, उसे छोडकर अन्य भाग मे किसी तरह के स्पर्श आदि की अनुभूति नही होनी चाहिए। परन्तु शरीर के हर भाग में स्पर्श आदि की अनुभूति होती है। इस से स्पष्ट है कि आत्मा अणु रूप नही, बल्कि शरीर परिमाण है, शरीर के चप्पे-चप्पे मे व्याप्त है।

चावल, जव, अगुष्ठ या वेंत परिमाण माना जाए तो मनुष्य आदि कई बड़े शरीरधारी प्राणियो के पूरे शरीर में व्याप्त न होकर उसके एक भाग मे ही प्राप्त होगी। इससे उसमे उपरोक्त दोष आयगा। और सूक्ष्म—छोटे जीवो के शरीर मे समा नही सकने से वह शरीर के बाहर रहेगी और यह अनुभव से विरुद्ध है। क्योकि आत्मा के गुण शरीर के

‡ विशेषावश्यक भाष्य, १५८५–१५८७।

बाहर उपलब्ध नही होते। अत. आत्मा को सर्वव्यापक एव अणु आदि परिमाण मानना अनुभव एव प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणो से विरुद्ध है।

शुद्ध आत्मा का इन्द्रियगोचर कोई आकार नही है। क्योकि वह अरूपी है। परन्तु कर्मों के साथ सवद्ध होने से उसे जिस तरह का साधन मिलता है,उसमे अपने आत्म प्रदेशो को फैला देती है। जैसे—एक दीपक अपने प्रकाश से पूरे कमरे को जगमगा देता है, परन्तु जब उसी दीपक को छोटी-सी कटोरी के नीचे रखा जाता है, तो वह उतने-से स्थान को ही प्रकाशित कर पाता है। जैसे—दीपक का प्रकाश साधन के अनुसार थोडे एव विस्तृत भाग मे फैलता रहता है। इसी तरह आत्म प्रदेश भी स्वभाव से सकोच-विस्तार वाले होते हैं। इसलिए उन्हे जैसा साधन मिलता है, उसी के अनुरूप फैल एव सिकुड़ जाते है। अस्तु ससारी आत्मा शरीर व्यापी है, ऐसा मानना चाहिए।

आत्मा–जीव नित्यानित्य है

सांख्य का कूटस्थवाद

आत्मा अर्थात् जीव को नित्य माना जाए या अनित्य, इस सबध मे दार्शनिको में काफी मतभेद है। भूतवादी तो आत्मा–चेतना को अनित्य मानते हैं। क्योंकि वे शरीर को ही आत्मा मानते हैं, अत शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। परन्तु,जो दार्शनिक भूतो एव शरीर से आत्मा को अतिरिक्त मानते हैं, उनमे भी नित्यानित्य के सबध मे विभिन्न मान्यताए है।

साख्य दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। जबकि साख्य दर्शन परिणामवादी है। वह प्रकृति को परिणामी मानता है, परन्तु आत्मा को अपरिणामी ही मानता है। वह आत्मा मे किसी भी तरह की

परिणति नही मानता। उस का कहना है कि आत्मा सदा शुद्ध-बुद्ध एव उज्ज्वल है, उसमें किसी तरह का विकार पैदा नही होता। यहां तक कि मोक्ष भी आत्मा का नहीं प्रकृति का होता है।‡ क्योकि सुख-दुःख, ज्ञान आदि पुरुष (आत्मा) के धर्म नही, प्रकृति के धर्म है *। इस तरह सांख्य दर्शन ने आत्मा को कर्त्ता तो नही माना, पर उसे भोक्ता अवश्य माना है §। परन्तु इस भोग को लेकर आत्मा में परिणामीत्व घटित हो जाने की सभावना होने से कुछ सांख्य विचारको ने भोग को भी आत्मा का धर्म स्वीकार करने से इन्कार कर दिया†। इस तरह उन्होने आत्मा के कूटस्थ नित्यवाद को पूर्ण सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया।

नैयायिक-वैशेषिकों का नित्यवाद

नैयायिक-वैशेषिक द्रव्य और गुण को भिन्न मानते है। वे सुख-दुःख, ज्ञान आदि गुणो को आत्मा मे मानते है और उन सब गुणो को अनित्य मानते हैं। परन्तु उन ज्ञानादि गुणो की अनित्यता के कारण आत्मा की अनित्यता उन्हें स्वीकार नही है। उन की दृष्टि से आत्मा नित्य ही है। जैन दर्शन ज्ञानादि गुणो को आत्मा से अभिन्न मानता है और उनकी अनित्यता की अपेक्षा से आत्मा को भी अनित्य मानता है।

बौद्धों का अनित्यवाद

तथागत बुद्ध ने पुद्गल—जीव को एकान्त अनित्य माना है। प्रत्येक समय में विज्ञान आदि चित्क्षण नए-नए उत्पन्न होते है। और ये अभिनव विज्ञानक्षण उस पुद्गल से सर्वथा भिन्न नही है। इस तरह

‡ सांख्यकारिका ६२।
* सांख्यकारिका १०।
§ सांख्यकारिका १७।
† सांख्यतत्त्वकौमुदी १७।

पुद्गल—जीव उन की दृष्टि से नित्य नही है, परन्तु उसकी सन्तति अनादि काल से चली आ रही है और आगे भी प्रवहमान रहेगी । इस तरह द्रव्य रूप से नित्यता तो नही, परन्तु सन्तति नित्यता तो बोद्धो को भी अभीष्ट है, मान्य है। कार्य-कारण की परपराको सतति कहते है । यह परपरा कभी विशृखिलित नही हुई और भविष्य में भी नही होने वाली है । कुछ बौद्ध चिन्तको की दृष्टि मे निर्वाण—मुक्ति के समय यह परपरा समाप्त हो जाती है, परन्तु कुछ विचारको का मानना है कि निर्वाण दशा में भी विशुद्ध चित्त की परपरा विद्यमान रहती है । इस अपेक्षा से ऐसा लगता है कि सतति नित्यता बौद्धो को भी मान्य है ।

वेदान्त का परिणामी नित्यवाद

वेदान्त में ब्रह्म को एकान्त नित्य माना है । जीव के संबध मे व्याख्याकारो मे कुछ विचार भेद है । आचार्य शकर ब्रह्म को सत्य और जीवात्मा को मिथ्या, माया मानते हैं । वह मायिक होते हुए भी आनदि कालीन अज्ञान के कारण अनादि तो है, परन्तु नित्य नही है। क्योकि अज्ञान का नाश होते ही वह जीवात्मा ब्रह्म रूप मे लीन हो जाता है और उसके जीव भाव का नाश हो जाता है। इससे ऐसा लगता है कि मायिक जीव ब्रह्म रूप से नित्य है और माया रूप से अनित्य है।

आचार्य शकर के अतिरिक्त वेदान्त के सभी व्याख्याकार जीवात्मा को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं । इस दृष्टि से भी जीवात्मा को परिणामी नित्य मानना चाहिए। जैन और मीमासक

भो जीव को परिणामी नित्य मानते है। वेदान्त और इनके परिणामी नित्यवाद मे अन्तर यह है कि जैन और मीमासक के मत मे जीव स्वतत्र हैं और उसमें परिणमन होता रहता है, परन्तु वेदान्तीयो की दृष्टि से जीव स्वतत्र नही वल्कि ब्रह्म का ही अश है, अत. उसमे जीव और ब्रह्म की अपेक्षा से परिणामीत्व समझना चाहिए।

कुछ दार्शनिको ने आत्मा को एकान्त नित्य माना है, तो कुछ ने एकान्त अनित्य। नित्य या अनित्य मानने वालो ने भी नर्क-स्वर्ग-मोक्ष आदि की कल्पना की है। अत यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानते है, तो उनमे सर्वथा एकरूपता आ जायगी, भेद जैसी कोई वात रह ही नही जायगी। इससे लोक-परलोक, स्वर्ग-नर्क एव मोक्ष की व्यवस्था घट नही सकेगी और एकान्त अनित्य मानने पर एकरूपता का सर्वथा नाश हो जायगा, भेद ही भेद अवशेष रह जायगा। दोनों अवस्थाओ मे आत्मा मे कृत-कारित्व घट नही सकेगा, लोक- परलोक की व्यवस्था भी वैठ नही सकेगी। अत. जीव को एकान्त नित्य मानना भी दोष युक्त है और एकान्त अनित्य मानना भी दोष युक्त है। अत जैनों ने जीव (आत्मा) को नित्या-नित्य माना है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से वह नित्य है। क्योकि अनात्म तत्त्वो से आत्मा का निर्माण नही होता है तथा आत्मा अपने स्वरूप का परित्याग करके कभी भी अनात्मा नही वनती। आत्मा में ज्ञानादि गुण भी अभेद रूप से है और उन ज्ञानादि की पर्यायो मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पुरातन पर्यायो का नाश होता है और नई पर्यायो का उत्पाद होता है, इस दृष्टि से आत्मा अनित्य भी है। क्योकि वे वदलने वाली पर्याये आत्मा से अभिन्न है।

अत. अपेक्षाकृत आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है । वह न तो सांख्य की तरह कूटस्थ नित्य है और न बौद्धो की मान्यतानुसार एकान्त अनित्य है । यह सत्य है कि उसकी पर्यायो मे परिवर्तन होता है । वह परिवर्तन द्रव्य की नित्यता को सुरक्षित रखते हुए होता है । अत आत्मा परिणामी नित्य है अर्थात् नित्यानित्य है । मीमासक दर्शन के प्रमुख विचारक कुमारिलभट्ट को भी यह परिणामी नित्यवाद स्वीकार है ।†

आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्ववाद

आत्मा कर्ता एवं भोक्ता है या नही, इस सबध मे सभी दार्शनिक एक मत नही है । उपनिषदो मे आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो उपलब्ध होते हैं । वहा जीव को फल प्राप्ति के लिए कर्म का कर्ता और उस कृत कर्म का भोक्ता भी कहा है ।‡ और यह भी माना है कि जीव न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुसक है । परन्तु अपने कर्म के अनुसार जिस-जिस योनि के शरीर को धारण करता है, वह उसके साथ सबद्ध हो जाता है और सकल्प, विषयो का स्पर्श, दृष्टि और मोह तथा इसी तरह अन्न-जल आदि से शरीर की उत्पत्ति एव अभिवृद्धि होती है । शरीर युक्त जीव स्वकर्म के अनुसार विभिन्न स्थानो मे परिभ्रमण करता है और कर्म के कारण ही प्रत्येक जन्म मे वह शरीर की अपेक्षा से भिन्न परिलक्षित होता है । §वृहदारण्यक में भी कहा है कि अच्छा कार्य करने वाला अच्छा और बुरा कार्य करने वाला बुरा होता है । "पुण्यो वै

† तत्त्व सग्रह, कारिका, २२३-२२७ ।

‡ श्वेताश्वर, ५, ७ ।

§ श्वेताश्वर, ५, १०-१२ ।

पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन।" * इस तरह जीव को कर्ता एव भोक्ता मानते हुए भी उपनिषत्कार ब्रह्म को – यह जीव जिसका अग है– अकर्ता एव अभोक्ता ही मानते है, वह केवल अपनी लीला का दर्शक है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नही है ।$

दार्शनिकों की मान्यता

सांख्य पुरुष को अकर्ता मानता है। वह ब्रह्म को नही मानता है। अत निरीश्वरवादी साख्य ने ब्रह्म के समान पुरुष को भी अकर्ता माना है। उसकी मान्यता है कि सुख-दु ख,स्वर्ग–नरक,पुण्य–पाप आदि कर्म पुरुष के नही होते है। यहां तक कि मोक्ष भी पुरुष का नही होता है। वन्ध-मोक्ष आदि सभी कार्य प्रकृति के होते है। वह पुरुष मे कर्तृत्व मानने से सर्वथा इन्कार करता है, परन्तु पुरुष मे भोक्तृत्व तो वह भी मानता है। कुछ साख्य विचारक पुरुष मे भोग भी नही मानते। क्योकि भोग मानने से फिर उसमे एकान्त नित्यता नही रह जाएगी। इसलिए वे पुरुष-आत्मा को कर्ता एव भोक्ता न मान कर, मात्र दृष्टा ही मानते है।

नैयायिक-वैशेषिक ने आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो माने है। वे आत्मा को एकान्त नित्य मानते हुए भी कर्म का कर्ता और कर्म जन्य फल का भोक्ता मानते है, यहा तक कि परमात्मा मे भी कर्तृत्व मानते हैं। क्योकि वह जगत का कर्ता है।

यहा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि नैयायिक-वैशेपिक आत्मा को नित्य मानते है। अत इनके मत मे आत्मा

* बृहदा० ३, २, १३।

$ मैत्रायणी, २, १०-११।

कर्ता एवं भोक्ता दोनों कैसे हो सकती है? यदि वह कर्ता है, तो सदा-सर्वदा कर्ता ही वनी रहेगी और भोक्ता है, तो वह सदा के लिए भोक्ता ही वनी रहेगी। कर्ता के वाद भोक्ता या भोक्ता के वाद कर्ता दोनो कैसे हो सकती है? यदि उसमे एक के वाद दूसरा रूप या धर्म पाया जाएगा, तो फिर वह एकान्त नित्य न रहकर परिणामी हो जाएगी? फिर उसमें अनित्यता भी आ जाएगी? इस शका का समाधान इस प्रकार किया गया है—आत्म द्रव्य नित्य है, फिर भी ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न आदि जो समवाय हैं, वह कर्तृत्व है अर्थात् आत्मा मे ज्ञानादि का समवाय सवध होना यही आत्मा का कर्तृत्व है। ‡ क्योकि आत्मा में जो ज्ञान का सवध होता है, वह उससे अलग भी हो जाता है। कारण कि ज्ञान स्वय उत्पन्न भी होता है और विनाश को भी प्राप्त हो जाता है। इसी तरह सुख-दुःख के सवेदन का जो समवाय है, वह आत्मा का भोक्तृत्व है।† यह सवेदन या सुख-दुःख का अनुभव भी ज्ञान रूप होने से यह भी आत्मा में स्वभावत. विनिष्ट होता है। इतना होने पर भी आत्मा स्वय विकृत नही होता। क्योकि उत्पत्ति और विनाश अनुभव के होते हैं, आत्मा के नही। मात्र समवाय सवध होने से आत्मा को भोक्ता कहते हैं, परन्तु इतना मानने मात्र से उसमे कर्तृत्व नही आ जाता है। क्योकि उस सवध के छूट जाने के वाद वह भोक्ता नही रह जाता है। इनकी दृष्टि मे द्रव्य और गुण में भेद है। अत. गुण मे परिवर्तन होने पर भी द्रव्य मे परिवर्तन नही होता है। परन्तु आत्मा को परिणामी नित्य मानने वाले जैनो की दृष्टि

‡ ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाना समवाय. कर्तृत्वम्। —न्यायवार्तिक, ३,१,६.

† सुख-दुःखसवित्समवायो भोक्तृत्वम्। —न्यायवार्तिक, ३,१,१.

से आत्मा की ज्ञानादि पर्यायो मे सदा एकरूपता नही रहती। वही आत्मा कर्ता रूप से परिणत होकर भोक्ता रूप से भी परिणत होता है। दोनो परिणतिया भिन्न होते हुए भी, दोनो अवस्थाओ मे आत्मा का अस्तित्व है। अत परिणति होने मात्र से आत्म द्रव्य मे एकान्त अनित्यता नही आ जाती। आत्मा का मूल रूप परिवर्तनीय सभी अवस्थाओ मे सुरक्षित रहता है। परन्तु ज्ञानादि पर्याये भी आत्मा से अभिन्न है, इसलिए पर्याय परिवर्तन की अपेक्षा से आत्मा को अनित्य भी मानते है। नैयायिक-वैशेषिक ज्ञानादि पर्यायो को आत्मा से भिन्न मानते हैं, परन्तु यह मान्यता वुद्धिगम्य नही कही जा सकती। यह सत्य है कि गुण और गुणी दो है, परन्तु यह भी सत्य है कि गुण गुणी से अभिन्न भी है। अत गुणो मे होने वाला परिवर्तन गुणी मे भी मानना चाहिए। इस दृष्टि से आत्मा एकान्त नित्य नही, वल्कि परिणामी नित्य ही सिद्ध होता है।

वौद्ध भी पुद्गल–आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता मानते है। उन के सिद्धातानुसार नाम-रूप का समुदाय पुद्गल–आत्मा है। एक नाम-रूप से दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है। जिस नाम-रूप ने कर्म किया है वह तो नष्ट हो जाता है, परन्तु जो दूसरा नाम-रूप उत्पन्न होता है वह पूर्व कृत कर्म का भोक्ता है। इस प्रकार सन्तति की अपेक्षा से पुद्गल–आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो पाए जाते है। इस सवध मे वौद्धो की यह कारिका सुप्रसिद्ध है—

> "यस्मिन्नेव हि सताने आहिता कर्मवासना,
> फलं तत्रैव सन्धत्ते कर्पासे रक्तता यथा।"*

जिस सन्तान मे कर्मवासना मानी है, उसी सन्तान मे कपास की

* स्याद्वाद मजरी में उद्धृत, कारिका १८.

रक्तता वत् फल भी उपलब्ध होता है।

धम्म पद मे भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि आत्मा ने स्वय पाप किया है और वह आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है §। और जो पाप करता है, उसे उस कटुक फल को भोगना ही पडता है *। इस ससार मे ऐसा कोई स्थान नही है, जहा पहुच कर मनुष्य कृत पाप के फल को बिना भोगे ही छूट जाए अर्थात् मनुष्य दुनिया के किसी भी भाग मे चला जाए, फिर भी उसे पाप का फल अवश्य भोगना होता है †। बुद्ध ने एक जगह अपने विषय मे भी कहा है कि आज से ९१ कल्प पहले मैंने अपनी ताकत से एक पुरुष को मारा था और उसी कर्म विपाक के परिणाम स्वरूप मेरे पैर मे काटा चुभा है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो मानते है। वे पुद्गल-आत्मा को भले ही अनित्य कहे, परन्तु सतति की दृष्टि से उसे नित्य माने बिना उनका भी काम नही चलता। इतने लम्बे विवेचन के बाद हम इस निर्णय पर पहुचे कि सबको घूम फिर कर परिणामी नित्यवाद पर ही आना पडता है। भले ही वे उसे शब्दो मे माने या न माने।

जैनो ने तो आत्मा मे कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्पष्ट रूप से माना है। आगमो मे कहा गया है कि आत्मा अनेक तरह के कर्म करता है ‡। कर्म से ही जीव नर्क, स्वर्ग, असुर आदि योनियो को

§ अत्तनाव कत पाप अत्तज अत्तसभव। —धम्मपद, १६१.

* करोन्तो पापक कम्म य होती कटुकफल। —धम्मपद, ६६.

† न अन्तलिक्खे, न समुद्दमज्झे, न पब्बतान विवरं पविस्स,
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थट्ठितो मुञ्चेय पापकम्मा।
—धम्मपद १२७

‡ कम्मा णाणाविहा कट्टु। —उत्तरा० ३,२।

प्राप्त करता है। और कर्म के ससर्ग से वह अनेक दुःख एव वेदना को वेदता है $। कृत कर्म को भोगे विना मुक्ति नही हो सकती। ‡ कर्म, करने वाले (कर्ता) का अनुगमन करता है § । आत्मा ही कर्म का कर्ता है और वही उसका नाश करने वाला है। † इस तरह अनेक वाक्यों से आत्मा को कर्म का कर्ता और भोक्ता सिद्ध किया है। जिस तरह उपनिषद् मे जीवात्मा को कर्म का कर्ता और भोक्ता कहने पर भी परमात्मा को उससे रहित माना है। उसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने भी जीव को व्यवहार दृष्टि से कर्ता और भोक्ता माना है, निश्चय दृष्टि से नही अर्थात् हम यो कह सकते हैं कि ससारी जीव कर्ता और भोक्ता है, परन्तु सिद्ध जीव कर्म के कर्तृत्व और फल के भोक्तृत्व से रहित है। * क्योंकि वहां कर्म वन्ध का कारण कषाय और योग नही है, इसलिए वहा कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभाव है।

इस तरह हमने देखा कि अनेक विचारक आत्मा को अनेक तरह से मानते हैं। कुछ विचारक आत्मा को एकान्त भौतिक मानते हैं और कुछ अभौतिक। अभौतिक मानने वाले विचारको मे भी आत्मा के स्वरूप को मानने मे एक रूपता नही है। कुछ विचारक आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं, कुछ एकान्त अनित्य मानते हैं, तो कुछ उसे परिणामी नित्य या नित्यानित्य मानते हैं। जिस की चर्चा हम ऊपर बहुत विस्तार से कर चुके हैं। सब विचारको ने अपनी-अपनी मान्यता के

$ उत्तरा० ३,३; ३,६।

‡ कडाण कमाण न मोक्ख अत्थि।—उत्तरा० १३,१०।

§ उत्तरा० १३,२३।

† उत्तरा० २०,३७।

* समयसार, ९३—९८।

अनुसार आत्मा मे कर्तृत्व एव भोक्तृत्व घटाने का प्रयत्न किया है। एक वात मे हम सभी आस्तिक विचारको को एकमत पाते है। वह यह कि सभी विचारक शुद्ध आत्मा अर्थात् निर्वाण अवस्था मे आत्मा को कर्म का कर्ता एवं भोक्ता नही मानते है। इस से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि सव दर्शनो का मूल उद्देश्य आत्मा को शुद्ध वनाने का रहा है।

जैन दर्शन का इस सवध मे अपना मौलिक चिन्तन है। यहा अधिक विस्तार मे न जाकर, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जहां अन्य दार्शनिक अपने-अपने पक्ष के समर्थन एव दूसरे पक्ष का खण्डन तथा विरोध करने मे अपनी सारी शक्ति लगा रहे थे, वहा जैन विचारक समन्वय की भावना लेकर सामने आए। उन्होने अपने पक्ष को, अपने विचारो को सप्रमाण रखा और दूसरे पक्ष की कमजोरियो को भी दिखाने का प्रयास किया, परन्तु किसी विचार की उपेक्षा नही की। उन्होंने प्रत्येक पदार्थ को अनेक दृष्टि विन्दु से सोचा - विचारा और दार्शनिको मे चले रहे विवाद को दूर करने का प्रयत्न किया। जैनो ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि आत्मा को नित्य या अनित्य मानना अपेक्षा से सत्य है। जव तक इस मान्यता के साथ अपेक्षा लगी है, तव तक वह मान्यता सत्य है। क्योंकि वह भी एक दृष्टि है, जिसे जैन परिभाषा मे नय कहते हैं। इसमे विचारक अपने विचारो की पुष्टि करता है, परन्तु साथ मे दूसरे के दृष्टि बिन्दु की सर्वथा उपेक्षा नही करता। उसे अपना मन्तव्य रखने का अधिकार है, परन्तु दूसरे पक्ष को एकान्त मिथ्या कहकर उसका तिरस्कार करना भी उचित नही है। जहा अपना मण्डन और दूसरे विचार की सर्वथा उपेक्षा या तिरस्कार किया जाता है, वहा दृष्टि मे विकार आ जाता है, इसलिए उसे नय नही कहकर नयाभास कहा है। अस्तु जव दार्शनिको की दृष्टि

एकांगी बन गई, तब ही संघर्ष प्रारंभ हुए। अन्यथा संघर्ष जैसी कोई बात नही थी। विचारभेद से एक दूसरे मे काफी अन्तर होने पर भी सभी भारतीय दर्शन आपस मे मेल भी खाते हैं, वे एक दूसरे के सर्वथा विरोधी नहीं हैं। भक्त कवि आनन्दघन जी ने भी कहा है—

"षड् दर्शन जिन अंग भणीजे, न्यास षडंग जो साधे रे
नमी जिणंद का चरण उपासक, षड् दर्शन जो अराधे रे॥"

अस्तु जैनो का यह आग्रह रहा है कि किसी भी वस्तु को एकान्त दृष्टि से नहीं, अनेकान्त दृष्टि से देखना चाहिए। आत्मा के संबंध मे भी उनका यही दृष्टि बिन्दु रहा है कि वह न एकान्त नित्य है और न एकान्त रूप से अनित्य। वह द्रव्य को दृष्टि से नित्य भी है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी है। इस अपेक्षावाद को मान लेने पर सारे संघर्ष समाप्त हो जाते हैं। और वैज्ञानिक दृष्टि भी यही कहती है कि प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा से समझना चाहिए, क्योकि दुनिया मे सभी पदार्थ सापेक्ष हैं।

इतनी विस्तृत विचार चर्चा के बाद हम यह स्पष्ट रूप से देख चुके हैं कि आत्मा शरीर से भिन्न है, असंख्यात प्रदेशी है और व्यक्तिश. अनन्त है। जैनागमो मे जीवो की गति एवं जाति (एकेन्द्रियादि) की दृष्टि से विभाजन करते हुए लिखा है—

जीव के मूल भेद दो हैं— १ सिद्ध और २ संसारी *। जो जीव कर्म बन्धन से आबद्ध है, जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह मे प्रवहमान है, एक गति से दूसरी गति मे परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी जीव है और जो इनसे मुक्त-उन्मुक्त हो चुके हैं, कर्म एवं कर्म जन्य शरीर आदि आवरणो को हटा चुके हैं, वे सिद्ध हैं। सिद्ध भगवान् के सिर्फ

* उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ४९।

शुद्ध आत्मा होती है । सिद्धशिला मे स्थित अनन्त जीवो मे किसी तरह का भेद नही होता, सभी समान गुण-धर्म वाले होते हैं । ससारी जीवों मे कर्मजन्य अनेक भेद-प्रभेद पाए जाते है। ससारी जीव के भी मुख्य रूप से दो भेद हैं – १ त्रस और २ स्थावर। त्रस वह हैं, जो त्रास--दु ख से वचने के लिए सुख के स्थान पर आ-जा सके और स्थावर वह है, जो एक स्थान पर स्थित रहे । त्रस जीवो के भी चार भेद हैं–१ द्वीन्द्रिय,२ त्रीन्द्रिय३ चतुरिन्द्रिय और ४पञ्चेन्द्रिय। स्थावर जीवो के पाच भेद हैं–१पृथ्वीकाय,२अपकाय–जल ३तेउकाय--अग्नि,४वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय । उत्तराध्ययन सूत्र मे अग्नि और वायु को त्रस काय मे गिना है । यह सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए । अग्नि और वायु की योनि स्थावर नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती है। अत. इस दृष्टि से ये स्थावर कहलाते है। परन्तु उक्त जीवो मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे जाने की गति देखी जाती है । वायु एव अग्नि की दशो दिशाओ मे गति है, पहुच है, इस अपेक्षा से इसे त्रस भी कहा गया है । ‡ प्रश्न पूछा जा सकता है कि पानी भी गतिशील है, प्रवहमान है, फिर उसे त्रस में क्यो नही गिना गया ? इस का कारण यह है कि पानी की अपनी गति नही है । उसमे द्रवत्व होने के कारण वह उस दिशा मे बहता है, जिस दिशा की भूमि नीची है । वह सदा ऊपर से नीचे की ओर वहता है,किन्तु नीचे से ऊपर की ओर वहने की उसकी अपनी शक्ति नही है, अत उसे गति एव नाम कर्म दोनो अपेक्षा से स्थावर माना है । इस तरह से पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा एव वनस्पति ये पाचो स्थावर सजीव हैं, सचेतन हैं । आगम मे इस वात को विस्तार से समझाया गया हे कि पृथ्वी आदि योनि मे सजीवता है,

‡ उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, ६९-७० ।

चैतन्य है। फिर भी कुछ लोगो को पृथ्वी आदि मे जीवत्व है, इस पर विश्वास नहीं होता। उन लोगो का कहना है कि द्वीन्द्रिय आदि जीवो की चेतनता व्यक्त है, स्पष्ट है। क्योंकि उन्हे सुख-दु.ख की अनुभूति होती है। परन्तु हमे पृथ्व्यादि एकेन्द्रिय जीवो में सुख-दु खादि की अनुभूति होती हुई स्पष्ट नजर नही आती है, उन जीवो की चेतना व्यक्त रूप से परिलक्षित नही होती है। अत उनमे जीव है, यह कैसे माना जाए?

किसी प्राणी–जीव में अभिव्यक्ति होती है और किसी मे स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति नही होती हैं। परन्तु, इतने मात्र से हम उनमे जीवत्व से इन्कार नही कर सकते। क्योंकि एक ऐसा व्यक्ति जिस के आख नही है, कान और नाक मे सुनने-सूघने की तथा जबान मे बोलने की शक्ति नही है और उस के हाथ-पैर भी नही है या कट गए हैं, वह व्यक्ति न गति कर सकता है, न कोई हरकत कर सकता है और न बोल कर अपने विचारो को अभिव्यक्त भी कर सकता है, ऐसी स्थिति में हम उसे सजीव कहेंगे या निर्जीव? उत्तर स्पष्ट है— सजीव। अभिव्यक्ति न होते हुए भी वह व्यक्ति सजीव है, तो क्या कारण है कि पृथ्व्यादि जीवो मे सजीवता को न माना जाए? केवल चेतना की अभिव्यक्ति न होने मात्र से हम किसी भी जीव को निर्जीव नहीं कह सकते हैं।

पानी और वनस्पति की सजीवता तो वैज्ञानिको ने भी मान ली है। विज्ञान वेताओ ने अपने प्रयोगो से प्रमाणित कर दिया है कि पानी की एक नन्ही-सी बूद मे अनेकों, अनगिणत जीव है। वनस्पति पर काफी प्रयोग हो चुके है। मनुष्य एव पशु-पक्षियो की तरह उसे भी रोग के कीटाणु आ घेरते है। और वनस्पति चिकित्सक उसे औपधों के द्वारा पुन. स्वस्थ करने या स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते हैं। दूसरे मे पानी एवं खाद के मिलने पर घास-फूस एवं पौधो मे अभिवृद्धि भी होती है। गौतम स्वामी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए— "वनस्पति

के जीव आहार कैसे करते हैं?" भगवान महावीर ने कहा कि "हे गौतम मूल मे स्थित जीव मूल को स्पर्श किए हुए है और वे पृथ्वीकाय से भी प्रतिवद्ध हैं, इसलिए वे पृथ्वीकाय का आहार करते है और उसे अपने शरीर रूप मे परिणमन करते है। इसी तरह कद के जीव मूल से प्रतिवद्ध होने से उससे आहार ग्रहण करते है।इसी तरह स्कध के जीव कद से, शाखा के जीव स्कध से और आगे प्रतिशाखा, पत्र, पुष्प, फल एव बीज मे स्थित जीव अपने पूर्व के जीवो से संवद्ध है और वे उसी क्रम से उन से आहार ग्रहण कर के उसे अपने शरीर रूप मे परिणत करते है।"§ रोग का होना तथा रोगिष्ट पौधे को निरोग करना एव उसके योग्य खुराक मिलने से पौधो की अभिवृद्धि होना, इस वात को प्रमाणित करता है कि उसमे जीवन है। ये सव चेतनता के, जीवन के लक्षण है। निर्जीव पदार्थ न कभी रोगी होते हैं, न उनके रोग का इलाज होता है और न उन मे अभिवृद्धि ही होती है। परन्तु, वनस्पति मे यह सव होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसमे आत्मा--चेतना है।

वनस्पति मे सजीवता की प्रतीक एक वात यह भी है--उक्त जीवो मे क्रोध, ईर्षा, प्रसन्नता-अप्रसन्नता आदि विकार भी पाए जाते है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. जगदीश चन्द्र वोस ने अपनी प्रयोगशाला मे वनस्पति पर प्रयोग कर के तथा उस के वाद जनता के सामने उस का प्रदर्शन करके सारी दुनिया को यह दिखा दिया कि पेड़-पौधो मे मनुष्य की तरह सुख-दु ख मे प्रसन्न एव अप्रसन्न होने के विकारी भाव मौजूद है। और इस तरह के प्रयोग कर के उस ने वैज्ञानिको को वनस्पति मे सजीवता मानने के लिए वाध्य कर दिया। उन्हो ने वैज्ञानिक साधनो के द्वारा विज्ञान वेताओ एव जनता को स्पष्ट दिखा दिया कि वनस्पति

§ भगवती सूत्र, शतक, ७, उद्देशक ३।

मे इर्षा, क्रोध, प्रसन्नता, नाराजगी आदि विकारी भाव हैं। कुछ पेड पौधे ऐसे है कि उनकी तारीफ करने पर, उनकी प्रशंसा के पुल बांधने पर, वे खिल उठते हैं और निन्दा करने पर मुरझा जाते हैं। अशोक वृक्ष के लिए कहा जाता है कि वह कामदेव के ससर्ग से स्खलित गति वाली, चपल नयन सयुक्ता, सोलह शृंगार सज्जिता नवयुवती के नुपुर से शब्दायमान सुकोमल चरण का सस्पर्श पा कर ही पल्लवित-पुष्पित होता है। लाजवन्ती का विकसित पौधा पुरुष के हाथ का स-स्पर्श पाते ही मुरझा जाता है। दक्षिण अफ्रीका के जगलो मे कुछ पौधे ऐसे हैं, जो अपने निकट आने वाले कीट-पतगो को हजम कर जाते हैं। इन सब उद्धरणो एव वैज्ञानिक प्रयोगो से यह स्पष्टत. सिद्ध हो जाता है कि वनस्पति सजीव है, चेतना युक्त है। उस में भी मनुष्य एव अन्य पशु-पक्षियो तथा कीडे-मकोड़ो की तरह आत्मा है।

यह हम पहले बता चुके है कि पानी की सजीवता को वैज्ञानिको ने भी मान लिया है। फिर भी कुछ लोग पानी को उपयोगी होने के कारण घी-तैल की तरह सजीव नही मानते। परन्तु यह तर्क उपयुक्त नही कहा जा सकता। उपयोगी होने मात्र से ही कोई पदार्थ सजीव से निर्जीव नही हो जाता है। हाथी-घोड़े आदि बहुत से जानवर उपयोगी हैं, फिर भी हम उन्हें सजीव मानते हैं। दूसरी बात यह है कि घी-तैल एवं पानी मे अन्तर है। दुनिया के सभी तरल पदार्थ निर्जीव नहीं होते। जब कोई आत्मा हथनी के गर्भ में आती है तो वह पहले-पहल तरल रहती है। शरीर विशेषज्ञो की यह मान्यता है कि मनुष्य या पशु के गर्भ मे उत्पन्न होने वाली आत्माए सर्वप्रथम तरल रूप मे ही पैदा होती हैं। उनमे सघनता एव अंगोपागो का आकार बाद में बनता है। अडे मे रहा हुआ जीव भी कुछ काल तक तरल रहता है। और इन

सब तरल पदार्थों को सजीव एव चेतन माना है । अस्तु तरल होने मात्र से पानी को निर्जीव नही, सजीव मानना चाहिए।

पृथ्वी एव वनस्पति की तरह पानी भी वढ़ता है। आप समझते होगे कि वर्षा से पानी वढता है। नही, वर्षा से तो पानी कम होता है। कारण यह होता है कि वर्षा के पहले सूर्य समुद्र तथा सरिताओ मे से पानी को सोखता है । वह वाष्प वना कर आकाश मे पहुचाता है और ठडी हवा का सहयोग पाकर वाष्प फिर से पानी के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और वादल वन कर आकाश में इधर-उधर मडराता रहता है और किसी पदार्थ मे टकरा कर वरस पड़ता है। तो वर्षा का जल वाहर से नही पृथ्वी पर स्थित जल स्रोत मे से ही आता है। वाष्प रूप मे ऊपर उठते समय कुछ पानी हवा मे मिल जाता है, कुछ सूख जाता है, इस तरह पानी कम होता है, वढता नही। हा, तो एक तो पानी वादलो के रूप मे जाकर कम होता है और दूसरे मे प्रति दिन असख्य जल राशि मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधो आदि के काम मे आती है ! इस तरह हमेशा जल का इतना इस्तेमाल होने पर भी वह घटता नही, प्रत्युत वढ़ता ही जाता है। इस से स्पष्ट है कि समुद्र, सरिता आदि मे स्थित जल में अभिवृद्धि होती है । यह वात अलग है कि हम पत्थर एव पेड़-पौधो की तरह उसे प्रत्यक्ष में वढ़ते हुए नही देखते। इस तरह उस में होने वाली अभिवृद्धि से यह प्रमाणित होता है कि पानी सजीव है। और उसकी चेतनता सव प्रमाणो से सिद्ध है।

अव देखना यह है कि पृथ्वी, अग्नि और वायु मे भी जीव—चेतनता है या नही ? कुछ लोगो का कहना है कि पत्थर ठोस एव शक्त होता है, अत उसमें आत्मा कैसे प्रवेश कर सकती है ? आप सदा देखते हैं कि शरीर मे स्थित हड्डी शक्त एव सघन होती है। फिर भी उस के

एक-एक अणु मे आत्म प्रदेश व्याप्त है। जीवित मनुष्य एव पशु की हड्डी का एक अणु भी ऐसा नहीं कि जिस मे आत्म प्रदेशो का अभाव हो। दूसरी वात यह है कि लोहा भी सघन होता है। परन्तु जव उसे आग मे डालते है तो अग्नि के परमाणु लोहे के गोले मे प्रविष्ट हो जाते हैं। जव सघन लोहे मे भी अग्नि के साकार परमाणु प्रवेश कर जाते है, तो पत्थर आदि सघन पदार्थों मे अमूर्त आत्म प्रदेशो के प्रविष्ट होने मे सशय को अवकाश है ही नही। इस मे स्पष्ट हो गया है कि जव हड्डी में आत्म प्रदेश रहते है और इसे हम सदा-सर्वदा देखते हैं, तो फिर पत्थर आदि मे आत्मा—चेतनता मानने मे किसी भी तरह का विरोध नही होना चाहिए।

आगमो मे कहा गया है कि परमाणु की गति मे कोई बाह्य पदार्थ वाधक नही वनता है। वह सघन एव स्थूल पदार्थों मे से भी गति कर लेता है। जव सूक्ष्म परमाणुओ के लिए यह वात है— जो कि साकार है, तो जो आत्म प्रदेश निराकार है, उनकी गति में रुकावट कैसे हो सकती है? वे सघन से सघन पदार्थो मे से भी विना किसी तरह की रुकावट के आ-जा सकते है, उन मे प्रवेश पा सकते हैं। ‡

इस तरह पत्थर में चेतनता सिद्ध होती है। केवल आगम एव तर्क से ही नही, हम इस वात को प्रत्यक्ष मे भी देखते हैं। आपने देखा होगा कि खान मे स्थित पत्थर सदा वढता रहता है। उस के आकार-प्रकार मे भी परिवर्तन होता रहता है। परन्तु जो पत्थर खान से निकाल लिया गया है और वाहर के हथियारो—औजारो से तथा धूप-पानी की थपेडो से निर्जीव हो गया है, उस मे अभिवृद्धि नही होती। इस से

‡ पएसी! जीवे वि अप्पडिहयगइ पुढविं भिच्चा, सिल भिच्चा, पव्वयं भिच्चा अन्तोहितो वहिया निग्गच्छइ। —रायपसेणीय सूत्र, ६३।

स्पष्ट है कि पत्थर मे भी सजीवता है। अत केवल आगम के आधार पर ही नही, पर अपने अनुभव के बल पर भी कह सकते हैं कि पत्थर या पृथ्वी मे चेतनता है, आत्मा है।

अग्नि की सजीवता तो प्रत्यक्ष दिखाई देती है। शरीर की उष्णता एव जुगुनु का प्रकाश सजीवता के प्रतीक है। शरीर मे उष्णता एव जुगनु मे चमक न हो तो वे सजीव नही रहेगे। और अग्नि मे भी उष्णता एव प्रकाश होने से वह भी सजीव है। इस के अतिरिक्त जब उसे वायु एवं इधन मिलता रहता है, तो उसमे भी अभिवद्धि होती है, वह भी फैलती है, वढती है। वायु के अभाव मे अग्नि किसी भी हालत में सचेतन नही रह सकती। प्रज्वलित दीपक एव अगारा को किसी वर्तन से वन्द करके वाहर से मिलने वाली हवा को प्रविष्ट नही होने देते हैं, तो वह दीपक एव अगारे तुरन्त बुझ जाते हैं। यही कारण है कि किसी व्यक्ति के शरीर पर पहने हुए वस्त्रो में लगी हुई आग को बुझाने के लिए डाक्टर उस पर पानी न डालकर गर्म कम्वल या मोटे वस्त्र से उसके-शरीर को आवृत करने की सलाह देते है। क्योकि इससे उसे वाहर से वायु का मिलना वन्द हो जाता है और उसके अभाव मे वह तुरन्त वुझ जाती है। इस तरह खुराक एव वायु के अभाव में उसकी जीवन लीला समाप्त हो जाती है। इसलिए अग्नि भी सजीव है।

यह तर्क दिया जाता है कि उष्णता मे जीव कैसे जीवित रह सकता है? यह तो जीव के शरीर का स्वभाव वन जाता है कि वह जिस वायु मडल मे रहता है, उस तरह की गर्मी-सर्दी को सहने का आदि हो जाता है। अत्यधिक ठडे प्रदेश मे रहने वाले व्यक्ति यदि विना किसी साधन के गर्मी के मौसम मे अत्यधिक गर्म प्रदेश

में आ जाए तो एक मिन्ट मे वे घवरा जाते है, जव कि वहा के निवासी मस्ती से अपनी जिन्दगी बीता देते हैं। जवासा एव आक के पौधे गर्मी में फले-फूले रहते है। अत इसमें कोई आश्चर्य की बात नही कि उष्णता मे भी जीव रह सकते है। भगवती सूत्र में गौत्तम स्वामी के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने फरमाया है कि हे गौत्तम[†] वनस्पति के जीव वर्षा ऋतु मे अधिक आहार लेते हैं और ग्रीष्म ऋतु मे थोडा आहार लेते हैं। इस पर गौत्तम ने पूछा कि जव गर्मी में वनस्पति के जीव थोडा आहार लेते है,तो कुछ पौधे गर्मी में भी पल्लवित–पुष्पित एव हरे–भरे क्यों दिखाई देते है? इसका उत्तर देते हुए भगवान ने कहा कि हे गौत्तम! वहुत से उष्णयोनि के जीव आकर उसमें उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे पौधे उस भीषण गर्मी मे भी हरे–भरे दिखाई देते है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उष्णता में भी जीवन रह सकता है।

वायु की सजीवता भी स्पष्ट है। कुछ लोग आखो से दृष्टि-गोचर न होने के कारण वायु को सजीव नही मानते है। परन्तु उन का यह तर्क उपयुक्त नही कहा जा सकता। क्योंकि वहुत-से ऐसे पदार्थ है,जो आंखो से दिखाई नहीं देते,फिर भी हम उनके अस्तित्व को मानते है। जैसे देवता का शरीर हमे प्रत्यक्ष दिखाई नही देता। कई योगि मन्त्र-तन्त्र और औषधि के प्रयोग से अपने स्थूल शरीर को छुपा लेते है, अदृश्य हो जाते हैं, फिर भी हम उन्हे सजीव मानते हैं। अत वायु--हवा आखो से दिखाई न देने मात्र से ही निर्जीव नही कही जा सकती। प्रत्यक्षीकरण केवल आखो से ही नही, श्रोत्र, घ्राण, रसना और स्पर्श इन्द्रिय से भी होता है। जैसे फूल एव इत्र की सुगन्ध आखो

† भगवती सूत्र, शतक, ७, उद्देशक ३।

से दिखाई नही देती है, फिर भी विचारको ने उसे साकार रूप में स्वीकार किया है । क्योकि घ्राण इन्द्रिय – नासिका से उसके अस्तित्व एव साकारता का पता लगता है । इसी तरह स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा वायु–हवा का भी प्रत्यक्षीकरण होता है। अत. उसे अदृश्य कहना या मानना गलत है, मिथ्या है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वायु दृश्यमान और सजीव है।

स्थावर के बाद त्रस आते हैं । त्रस के चार भेद हैं–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय,चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। द्वीन्द्रिय मे वे प्राणी हैं,जिनके शरीर और जिव्हा ये दो इन्द्रियो हैं। सीप, लट आदि जन्तु इस में लिए जाते हैं। जिन जीवो के शरीर, जिव्हा और घ्राण इन्द्रिय–नाक है, उन्हे त्रीन्द्रिय कहा जाता है। कीड़े-मकोड़े, खटमल, जू आदि जन्तु त्रीन्द्रिय मे गिने जाते हैं। शरीर, जिव्हा, नाक और आंख इन चार इन्द्रियो से युक्त प्राणी को चतुरिन्द्रिय कहते हैं। मक्खी-मच्छर, बिच्छू,टीड, पतगा आदि जन्तु इसमे समाविष्ट किए गए हैं। जो प्राणी शरीर, जिव्हा, नाक, कान, और आख पाचो इन्द्रियो से युक्त होते हैं, उन्हे पञ्चेन्द्रिय कहते हैं । पञ्चेन्द्रिय के दो भेद होते हैं — १ सन्नी पञ्चेन्द्रिय और २ असन्नी पञ्चेन्द्रिय । सन्नी पञ्चेन्द्रिय के चार भेद हैं—१ नरक, २ तिर्यंच, ३ मनुष्य और ४ देवता । नरक सात हैं – १ रत्न प्रभा, २ शर्करा प्रभा, ३ वालु प्रभा ४ पक प्रभा ५ धूम प्रभा ६ तम प्रभा और ७ तमतमा प्रभा।† तिर्यंच के पांच भेद है– १ जलचर— जल मे विचरण करने वाले मत्स्य, मेढक, मगरमच्छ आदि। २ थलचर— जमीन पर चलने वाले घोडा, गधा, गाय भैस, कुत्ता, सिह, आदि। ३ खेचर— आकाश मे उड़ने वाले हंस,

† नरक और स्वर्ग पर 'लोक स्वरूप' अध्याय मे प्रकाश डालेंगे।

मयूर, कोयल आदि ४ उरपुर—पेट के बल रेंगने वाले सर्प आदि और ५ भुजपुर—भुजाओं के बल पर गतिशील, नेवला, गिलहरी आदि। मनुष्य—कर्मभूमि और अकर्मभूमि के भेद से दो प्रकार का माना गया है। कर्म भूमि मे भी जम्बू द्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्ध और उसमें भरत, एरावत और महाविदेह क्षेत्र एव आर्य-अनार्य आदि क्षेत्रो के भेद-उपभेद से तथा अकर्मभूमि मे भी देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवास, रम्यकवास, हेमवय, अरणवय और ५६ अन्तरद्वीपा की अपेक्षा से अनेक भागो मे विभक्त है। देवता के भी चार भेद हैं — १ भवनपति, २ वाण-व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक। असन्नी पञ्चेन्द्रिय के दो भेद हैं— १ तिर्यञ्च और २ मनुष्य। असन्नी तिर्यञ्च के सन्नी तिर्यञ्च की तरह पाच भेद हैं और उन के नाम उसी प्रकार हैं। असन्नी मनुष्य के १४ भेद है—वे जीव १ टट्टी, २ पेशाव, ३ खंखार, ४ कफ, ५ नाक के मैल, ६ वमन, ७ पित्त, ८ पीप, ९ खून, १० मृत कलेवर, ११ वीर्य, १२ स्त्री-पुरुष के सयोग, १३ नाली और १४ समस्त अशुचि स्थानो मे उत्पन्न होते हैं।

इस तरह अनेक गति, जाति एव योनियो मे अनन्त जीव विद्यमान हैं। उनकी सजीवता को आगम, तर्क, अनुभव एव वैज्ञानिक दृष्टि के ठोस प्रमाणों से प्रमाणित किया गया है। इतनी लम्बी चर्चा से हम स्पष्टत. देख चुके हैं कि आत्मा है और वह स्वतत्र रूप से गतिशील है। उसके विकास और पतन मे निमित्त अनेक मिलते हैं, परन्तु वस्तुत. विकास के शिखर को सस्पर्श करने तथा पतन के गर्त मे गिरने वाला वह स्वय है। न कोई उसे धक्का देकर नरक मे भेज सकता है और न कोई हाथ पकड़ कर स्वर्ग मे पहुचा सकता है। इस तरह जैन दर्शन अनन्त आत्माओ के स्वतत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है।

जड़ – अजीव मीमांसा

हम पहले बता चुके हैं कि ससार मे मूल द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव या चैतन्य और जड़। जिसे साख्य प्रकृति और पुरुष के नाम से पुकारते हैं और वेदान्ती ब्रह्म और माया के रूप मे उसका विवेचन करते है। जीव द्रव्य का विवेचन पिछले प्रकरण मे कर चुके हैं, प्रस्तुत प्रकरण मे अजीव द्रव्य के विषय मे कुछ विचार करेंगे।

अजीव या जड़ चैतन्य से रहित होता है। जड परमाणु मे भी हरकत होती है, वह भी गति करता है। फिर भी वह जीव से भिन्न है। क्योकि जीव मे चेतना है, ज्ञान है, उपयोग है और जड़ मे इनका अभाव है। इसके (अजीव के) पाच भेद माने गए है १ धर्म, २ अधर्म ३ आकाश ४ पुद्गल और ५ काल।†

धर्म और अधर्म द्रव्य

यहाँ धर्म और अधर्म का अर्थ आत्मा की शद्धाशुद्ध परिणति से नही है और न इनका अर्थ पुण्य-पाप के रूप मे भी अभीष्ट है। ये दोनो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। और आकाश की तरह सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है, वर्ण, गध, रस, और स्पर्श से रहित हैं, अरूपी है, अमूर्त हैं। उनका कोई आकार नही है, फिर भी दोनो अखण्ड द्रव्य हैं। इनमे कोई हरकत नही होती। धर्म, अधर्म, आकाश और काल चारो निष्क्रिय द्रव्य है। पुद्गल मे हरकत होती है। वह जीव की तरह गतिशील है, सक्रिय है।

† कई आचार्य काल को स्वतंत्र द्रव्य नही मानते। उनके विचार से धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये अजीव के चार भेद हैं। विशेष जानकारी के लिए देखें तत्त्वार्थ सूत्र (प सुख लाल सघवी) पृ. १८५।

आकाश अनन्त है। वह लोक और अलोक मे भी व्याप्त है। आकाश मे स्थित लोक के आकार को या यों कहिए लोक की सीमा को निश्चित करने के लिए यह नितान्त जरूरी है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधार पर तय की जाए, जिस से लोक मर्यादा जानी जा सके और पुद्गल एव जीवो का गमन उस अक्षांश रेखा को लाघकर अलोक मे नही हो सके। आकाश अखण्ड, अमूर्त और अनन्त प्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सत्ता सब जगह एक समान है। वह जीव और पुद्गलो को सर्वत्र अवकाश देता है। परन्तु, उस मे जीव और पुद्गलो को लोकाकाश मे ही रोक रखने की प्रतिबन्धक शक्ति नही है। उस मे लोक और अलोक आकाश के प्रदेश हैं, परन्तु स्वभाव भेद नही है। उसका अवकाश देने का स्वभाव सर्वत्र एक-सा है। इसलिए जीव और पुद्गलों का लोक के बाहर गमन न हो, यह नियन्त्रण करने की शक्ति आकाश मे नही है। जीव एव पुद्गल स्वय गतिशील हैं और जब वे गति करते हैं तो फिर उन के ठहरने या स्थित होने का सवाल ही नही उठता। परन्तु यह भी निश्चित है कि जीव और पुद्गल लोक के बाहर गमन नही करते हैं। अत उन्हे लोक मे ही रोक रखने वाला लोकाकाश के बराबर एक अमूर्त, निष्क्रिय और अखन्ड द्रव्य है। जो गतिशील जीव और पुद्गल की गति में साधारण कारण होता है। यह द्रव्य स्वयं हरकत नही करता है और न ही किसी पदार्थ को गति करने के लिए प्रेरित ही करता है। परन्तु जो पदार्थ अपने स्वभाव से गति करते हैं, तब उन की गति मे सहायक होता है। इस द्रव्य के अभाव मे कोई भी पदार्थ—भले ही वह जीव हो या पुद्गल गति नही कर सकता। इस द्रव्य का अभाव गतिशील द्रव्यो की गति का अवरोधक है और यह द्रव्य लोकाकाश परिणाम है,

अलोक मे नहीं है। इस कारण जीव एवं पुद्गल गतिशील स्वभाव वाले होने पर भी अलोक मे नही जा सकते है। इस द्रव्य को जैनागमो मे धर्म द्रव्य माना गया है।

जीव और पुद्गल गति भी करते हैं और स्थित भी होते है। जैसे गति करने मे धर्म द्रव्य साधारण कारण है, उसी प्रकार स्थित होने वाले जीव और पुद्गलो के स्थित होने मे अधर्म द्रव्य साधारण कारण है। वह भी धर्म द्रव्य की तरह लोक व्यापी, निष्क्रिय, अखण्ड एव अमूर्त द्रव्य है। इस के अस्तित्व का परिज्ञान लोक के अन्तिम प्रदेश तक ही होता है। क्योकि अलोक आकाश मे धर्म द्रव्य का अभाव होने के कारण जीव और पुद्गलो की गति नही होती। अत. जड़-चेतन सभी पदार्थो को लोक मे ठहरने के लिए इसके सहयोग की अपेक्षा रहती है।

ये दोनो द्रव्य स्वयं गतिशील नही है, किन्तु चलने और ठहरने वाले जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति मे साधारण निमित होते हैं। दोनो द्रव्य लोक व्यापी, निष्क्रिय, अखण्ड और अमूर्त हैं तथा दोनो उत्पाद-व्यय रूप से परिणमन करते हुए भी नित्य है। लोकालोक का विभाग इन्हीं दो द्रव्यो के आधार पर आधारित है।

यह एक तर्क है कि आकाश अवकाश देता है, तो उसे स्थिति का कारण क्यो न माना जाए? स्थित होने मे अधर्म द्रव्य को साधारण कारण मानने की क्या आवश्यकता है? यदि आकाश को स्थित होने का कारण मानते हैं, तो आकाश तो आलोक मे भी विद्यमान है। क्योकि वह अखण्ड द्रव्य है और अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश तो असंख्यात प्रदेशी है, उसका अनन्त भाग तो आलोक मे ही है और वहा वह किसी भी पदार्थ के ठहरने मे सहायक नही बनता, तब वह लोक

मे स्थित होने वाले पदार्थों का कैसे सहायक हो सकता है। वह चलने एव ठहरने के लिए स्थान (अवकाश) दे देता है, परन्तु स्थित होने मे सहायक नही होता। स्थित होने वाले जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्य को स्थान दे देना और बात है और उसके ठहरने मे सहायक बनना और बात है। स्थान देना और ठहरना एक नही, दो क्रियाए हैं। स्थान अर्थात् अवकाश देने का स्वभाव आकाश का है, तो ठहरते हुए को ठहरने मे सहयोग देने का स्वभाव अधर्म द्रव्य का है। अत अधर्म द्रव्य ही जीव और पुद्गल के स्थित होने मे साधारण कारण है। जिस प्रकार मछली को गति करने के लिए पानी और थके हुए पथिक को विश्राम लेने के लिए वृक्ष की छाया सहयोगी होती है, उसी तरह धर्म और अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति में सहायक होते हैं।

प्रो० घासीराम जैन ने अपनी "कासमोलाजी ओल्ड ऐण्ड न्यू" पुस्तक मे धर्म द्रव्य की तुलना आधुनिक विज्ञान के इथर नामक तत्त्व से की है और अधर्म द्रव्य की तुलना 'सर आइजक न्यूटन' के आकर्षण सिद्धान्त से की है। वैज्ञानिको ने भी इथर तत्त्व को अमूर्त, व्यापक और निष्क्रिय मानने के साथ गति का आवश्यक माध्यम भी माना है। यह जैनो के धर्म द्रव्य के समान ही है। अधर्म द्रव्य और विज्ञान के आकर्षण सिद्धांत की तुलना करते हुए प्रो० जैन ने लिखा है—"यह जैनधर्म के अधर्म विषयक मान्यता की सब से बड़ी विजय है कि विश्व की स्थिरता के लिए विज्ञान ने अदृश्य आकर्षण शक्ति की सत्ता को स्वय सिद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है और प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइस्टीन ने उस मे सुधार करके उसे क्रियात्मक रूप दिया है। अब आकर्षण सिद्धांत को सहायक रूप मे माना जाता है, मूलकर्ता के रूप

मे नही। इसलिए अव वह जैन दर्शन के अधर्म द्रव्य की मान्यता के विल्कुल अनुरूप वैठता है।"

आकाश द्रव्य

जिस द्रव्य मे जीव, अजीवादि सभी द्रव्य युगपत अवकाश पाए हुए हैं, वह आकाश द्रव्य है। पुदगल भी परस्पर एक दूसरे पदार्थ को अवकाश देते हुए देखे जाते हैं,जैसे तख्त पर घडी, शीशी मे तेल आदि। फिर इसे आकाश का ही गुण कैसे कहा जा सकता है? तख्त पर पुस्तक एव अन्य पदार्थों के आधार पर अन्य पदार्थ स्थित दिखाई देते हैं, वहा भी आकाश ही है और वे पदार्थ अमुक पदार्थ पर रहे हुए होने पर भी आकाश मे ही स्थित हैं। क्योकि प्रत्येक पदार्थ मे जितना भाग खाली या खुला है, वह आकाश ही है और दूसरे पदार्थ उसी आकाश में स्थित होते है। अत यह कहना उपयुक्त नही जचता कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को अवकाश देता है। यदि व्यवहार दृष्टि से ऐसा मान भी लें तव भी आकाश के लक्षण मे कोई अन्तर नही पडता। क्योकि कोई भी पदार्थ विश्व के समस्त पदार्थो को युगपत (एकसाथ) अवकाश नही दे सकता। वह कुछ ही पदार्थो को ठहरने का स्थान देता है, परन्तु आकाश सभी द्रव्यो को एकसाथ स्थित होने का स्थान देता है।

वह अनन्त प्रदेश युक्त, निष्क्रिय, अमूर्त और अखण्ड द्रव्य है। इसके मध्य भाग मे चवदह राजू का पुरुपाकार लोक है। इसके कारण यह लोक आकाश और अलोक आकाश इन दो भागो मे विभक्त हो जाता है। लोक के चारो ओर अलोक आकाश फैला हुआ है। लोक आकाश असख्यात प्रदेशी है और शेष भाग अनन्त प्रदेशी है। अलोक मे केवल आकाश ही है और अन्य कोई द्रव्य नही है। आकाश

के प्रदेश वस्त्र में तन्तु की तरह परिनिबद्ध है, एक परमाणु जितने आकाश को रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। उस नाप के अनुसार आकाश अनन्त प्रदेश वाला है।

लोकाकाश में सूर्योदय की अपेक्षा से पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं की गणना होती है। परन्तु दिशा-विदिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। यदि पूर्व-पश्चिम आदि के व्यवहृत होने के कारण दिशा को भी स्वतन्त्र द्रव्य मान लें, तो फिर दिशा की अपेक्षा से दक्षिण देश, उत्तर देश आदि का व्यवहार होने से देश को भी स्वतंत्र द्रव्य मानना होगा और फिर प्रान्त, गाव, जिला, तहसील आदि अनेकों स्वतंत्र द्रव्यों को स्वीकार करना होगा। अतः किसी अपेक्षा विशेष के कारण व्यवहार होने मात्र से दिशाओं को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना जा सकता है। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। क्योंकि ढाई द्वीप के बाहर जहां सूर्यादि गतिशील नहीं है तथा अलोक में जहा सूर्यादि का अभाव है, वहा दिशा-विदिशाओं का व्यवहार ही नहीं होता। यदि आकाश की तरह दिशा भी स्वतन्त्र द्रव्य होती तो ढाई द्वीप के बाहर एवं अलोक में उनका व्यवहार होता। परन्तु वहा दिशा-विदिशा का व्यवहार नहीं होता है, अत दिशा को स्वतंत्र द्रव्य मानना युक्ति सगत नहीं है।

वैशेषिक आदि दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु यह युक्ति संगत नहीं है। आज के विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। रेडियो, ग्रामोफोन आदि अनेक यंत्रों से शब्द को ग्रहण करके उसे इष्ट स्थान पर भेजा जाता है तथा जब चाहे तब सुना जा सकता है। इन वैज्ञानिक प्रयोगों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, पुद्गल है। शब्द पुद्गल के द्वारा स्वीकार किया जाता है, पुद्गल ही

इसे धारण करता है, पुद्गलो से रोका जाता है, पुद्गलो को रोकता है, पुद्गल– कान आदि के पर्दो को भी फाड़ देता है, पौद्गलिक वातावरण मे कपन पैदा करता है, इससे वह पौद्गलिक है।

आकाश अमूर्त है, अत. उसका गुण अमूर्त द्रव्य हो सकता है, न कि मूर्त पदार्थ। शब्द अमूर्त नही है। क्योकि अमूर्त पदार्थ मूर्त पुद्गल के द्वारा न तो पकडा ही जा सकता है और न उसे यंत्रो के द्वारा स्थानान्तर मे भेजा ही जा सकता है। किन्तु शब्द दो स्कन्धो के सघर्ष से पैदा होता है और अपने आस-पास के स्कन्धो को भी शब्दायमान कर देता है अर्थात् वह अपने प्रवाह पथ मे पडने वाले स्कन्धो को शब्द पर्याय मे वदल देता है और इस तरह वह दूर-दूर तक फैल जाता है। जैसे जल मे ककड़ डालने पर एक लहर उत्पन्न होती है और वह लहर अपने आस-पास के अन्य जलकणो को तरगित करती हुई जलाशय को तरगित कर देती है और वह 'वीचीतरग न्यायवत्' जलाशय के वातावरण को तरगित करती हुई काफी दूर तक फैल जाती है। इसी तरह शब्द भी आसपास के स्कन्धो को शब्दमय वनाते हुए वहुत दूर तक फैल जाते हैं। इसलिए उन्हे अमूर्त आकाश का गुण मानना विज्ञान, तर्क एव वुद्धि के सर्वथा विपरीत है।

विज्ञान शब्द एव प्रकाश की गति के लिए जिस इथर नामक पदार्थ के माध्यम की कल्पना करता है, वह आकाश नही है। हम पहले ही वता चुके हैं कि वैज्ञानिको का इथर जैनो के धर्म द्रव्य के समान अमूर्त, निष्क्रिय, लोक व्यापी और परिणमनशील तत्त्व है और वह जीव एव पुद्गल की गति मे साधारण कारण है।

आकाश एक अखण्ड द्रव्य है और अनन्त प्रदेशी है। यदि उसे

अनन्त प्रदेशी न माना जाए तो पजाव और वगाल के आकाश मे कोई अन्तर नही रह जायगा। दोनो प्रदेश एक ही क्षेत्र में आ जाएंगे। परन्तु ऐसा नही होता है, क्योकि पजाव के आकाश प्रदेश और वगाल के आकाश प्रदेश अलग-अलग हैं। इसी कारण उसे अनन्त प्रदेश वाला माना है। आकाश एक होने पर भी दोनो प्रान्तो के आकाश प्रदेश भिन्न-भिन्न है। इससे क्षेत्र व्यवस्था ठीक ढग से घटित हो जाती है।

वौद्ध दर्शन में आकाश को असस्कृत माना है और उसका विवेचन अनावृत्ति (आवरण रहित) रूप से किया है। † यह न किसी पदार्थ को आवृत्त करता है और न किसी पदार्थ से प्रच्छन्न होता है। असस्कृत का मतलव होता है— उत्पादादि धर्मों से रहित। एकान्त – क्षणिकवादी वौद्ध दर्शन के द्वारा आकाश को असंस्कृत मानना कुछ समझ मे नही आता है। भले ही इसे अनावृत्त माना जाए फिर भी वह भावात्मक पदार्थ है, इसे स्वयं वौद्धों ने माना है। ‡ और वौद्धो के मत मे भावात्मक पदार्थ उत्पादादि धर्मो से रहित नही होता। यह वात अलग है कि हम उसमे होने वाले उत्पादादि धर्मों का विवेचन न कर सके। किन्तु उनके स्वरूप से इन्कार नही किया जा सकता और न उसे मात्र आवरणाभाव ही माना जा सकता है। क्योकि समस्त जीव-अजीव आदि द्रव्य आकाश से वेष्टित हैं और उसकी पर्यायो मे भी प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। अत. आकाश न तो अनावृत्त ही है और न उत्पादादि धर्मो से रहित ही है। वह उत्पाद,

† तत्राकाशमनावृत्तिः।

—अभिधर्म कोश, १, ५.

‡ अभिधर्म कोश, १, २८।

व्यय रूप परिणमनशील नित्य—शाश्वत पदार्थ है। वह अकृत्रिम और अनादि-अनन्त है। क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश सान्त है और अलोकाकाश अनन्त है। क्योकि अलोक आकाश का कही अन्त नही है।

पुद्गल द्रव्य

वर्ण, गध, रस और स्पर्श युक्त सभी मूर्त पदार्थ पुद्गल हैं। § पूद् और गल् इन दो धातुओं के सयोग से पुद्गल शब्द बना है। पूद् का अथ होता है पूरण अर्थात वृद्धि और गल् का अर्थ है-गलना, ह्रास होना। इस तरह जो पदार्थ पूरण और गलन या मिलने और बिछुडने के कारण विविध रूपो मे परिवर्तित होता रहता है, उसे पुद्गल कहते हैं।§ ससार के सभी मूर्त पदार्थों मे यह स्वभाव परिलक्षित होता है। यह हम सदा देखते है, अनुभव करते हैं कि हमारे अपने शरीर मे एव दुनिया के अन्य पदार्थो मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। परमाणुओ का संयोग-वियोग हर मूर्त पदार्थ मे होता है। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते हैं कि अनन्त परमाणुओ का समूह ही मूर्त पदार्थ के रूप मे इन्द्रिय गोचर होता है, उसमे से अनेक पुराने परमाणु अलग होते है और अनेक नए परमाणु आकर सम्मलित होते है। इस तरह एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ मिलता और बिछुडता रहता है। इस प्रकार परमाणु मे भी पुद्गल सज्ञा अर्थयुक्त है। क्योकि पुद्गल का मूल रूप परमाणु ही है। परमाणुओ का समूह स्कन्ध कहलाता है। पर्यायो की

§ स्पर्शरसगधवर्णवन्तः पुद्गला।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २३.

§ पूरणगलनान्वर्थ सज्ञत्वात् पुद्गला.।

—तत्वार्थ राजवार्तिक ५, १, २४.

दृष्टि से उसमे परिवर्तन होता है, कुछ परमाणुओ के सयोग-वियोग से नई पर्याय (रूप) का प्रदुर्भाव होता है और पुरातन पर्यायो का विनाश होता है,परन्तु परमाणु रूप द्रव्य का अस्तित्व सदा बना रहता है। जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन दो गैसो के परमाणुओं का सयोग उभय निष्ठ गैस रूप पर्यायो का विनाश और जल कायिक शरीर की पयार्यो का उत्पादक है। इस प्रक्रिया से गैस रूप का नाश होकर पानी का उत्पाद होता है और दोनो रूपो मे परमाणु रूप का नाश नही होता है। अथवा यो कहिए प्रत्येक पदार्थ पर्यायो की दृष्टि से उत्पाद-व्यय युक्त होने पर भी परमाणु द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत है, नित्य है।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार द्रव्यो मे धर्म और अधर्म द्रव्य को जैनो ने ही माना है। जैनेतर दर्शनों मे उनका वर्णन नही मिलता है। आकाश और पुद्गल को अन्य दार्शनिको ने भी माना है। जैनदर्शन आकाश को द्रव्य रूप मे मानता है, अन्य दार्शनिको ने उसे मात्र आकाश कहा है और उसके स्वरूप मान्यता मे भी भेद है। पुद्गल शब्द जैनो का पारिभाषिक शब्द है,अन्यत्र नही मिलता है। इतर दर्शनो मे यह प्रकृति, माया एव परमाणु के नाम से व्यवहृत है। बौद्ध ग्रन्थो मे पुद्गल शब्द मिलता है। वहा उसका प्रयोग अजीव के अर्थ मे नही, बल्कि जीव के अर्थ मे हुआ है।

पदार्थो का रूप परिवर्तन या उत्पन्न एवं विनष्ट होना यह पुद्गल का स्वभाव है। मोटे तौर पर हम जिन पदार्थो का आस्वादन करते है, स्पर्श करते हैं, अवलोकन करते है, श्रवण करते है और सूघते है,वे सभी पदार्थ पुद्गल हैं। अत. जैनदर्शन मे पुद्गल का स्वरूप वर्ण,गंध, रस एव स्पर्श युक्त साकार माना गया है। यहा तक की अति सूक्ष्म माना जाने वाला परमाणु भी साकार है,वर्णादि से युक्त है। आधु-

निक वैज्ञानिको ने भी अणु-परमाणु(Atom)को खोज निकाला है,फिर भी जैनो के परमाणु और वैज्ञानिको के Atom मे काफी अन्तर है। जैनो की दृष्टि से परमाणु अविभाज्य अश है अर्थात उसके दो टुकडे नही किए जा सकते,यहा तक कि जिसके दो भागो की कल्पना भी न की जा सके। जिसका वह स्वय ही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है अथवा जिसका आदि, मध्य और अन्त एक ही है, वह परमाणु है।* परन्तु वैज्ञानिको के Atom का ऐसा स्वरूप नही है। विज्ञान वेत्ताओ ने Atom के इलैक्ट्रोन,प्रोट्रोन और न्यूट्रोन आदि भेद माने है अर्थात् वैज्ञानिको ने Atom को कई भागो मे वॉट दिया है । अत वैज्ञानिको का Atom जैनो द्वारा मान्य परमाणु नही, प्रत्युत परमाणुओ का समह है ।

पुद्गल द्रव्य के स्कन्ध, स्कन्द देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु ये चार भेद होते है,।† अनन्तानन्त परमाणुओ के मिलने से स्कन्ध वनता है,स्कन्ध के अर्ध भाग को स्कन्ध देश और उसके भी आधे हिस्से को स्कन्व प्रदेश कहते है। परमाणु सवसे छोटा हिस्सा होता है। उसका विभाग नही होता है। ग्रीक के दार्शनिक जेनो ने यह स्वीकार नही किया कि पुद्गल का भी अन्तिम भाग अणु हो सकता है। उसने यह तर्क दिया कि आप पुद्गल का चाहे जितना छोटा विभाग

* अन्तादि अन्तमज्झ, अन्तान्त णेव इन्दिए गेज्झ।
ज दव्व अविभागी, त परमाणु विजाणीहि।।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५/२५,१,१

† खवा य खवदेसा य, तप्पएसा तहेव य ।
परमाणुणो य वोधव्वा, रुविणो य चउव्विहा।।
—उत्तराध्ययन सूत्र, ३६, १०.

करें, वह टुकड़ा रूपादि युक्त होगा और जो हिस्सा रूपादि युक्त है, उसका फिर विभाग हो सकता है। वह विभाग भी रूपादि युक्त होगा, अत. उसका विभाग एव आगे होने वाले विभागो का भी विभाग होना सभव है, क्योकि वे सब विभाग रूपादि युक्त होंगे। अणु को निरवयव मानने से उसमे अनवस्था दोष होगा। अत यह मानना गलत है कि पुद्गल का अविभाज्य अश या विभाग होता है। इसके उत्तर मे एक प्रसिद्ध विचारक 'एरिस्टोटल' ने कहा कि जेनो का यह तर्क सही नही कहा जा सकता। जहा तक कल्पना का सवाल है, हम अणु के भी अणु करते जाएगे, किन्तु प्रैक्टीकल रूप मे ऐसा नही हो सकता। जब हम किसी वस्तु को विभक्त करने लगते है तब वह विभाग कही न कही पहुँचकर अवश्य रुकता है। जिस खण्ड के बाद उसका विभाग नही होता, वही अणु है। काल्पनिक खण्ड के विषय मे माना जा सकता है कि वह अन्त रहित है, क्योकि कल्पना की पहुँच अनन्त तक है। परन्तु पदार्थ के विषय मे ऐसा मानना गलत होगा और अनुभव से भी विरुद्ध होगा, क्योकि पदार्थ अन्त सहित है, उसका किनारा स्पष्ट परिलक्षित होता है। सब से बड़ा प्रमाण यह है कि पदार्थ मूर्त है और मूर्त सदा सान्त होता है। इसलिए पुद्गल का अन्तिम हिस्सा अवश्य होता है। उसका जो अन्तिम भाग है, वही अणु है और वह अविभाज्य अश है।

हम प्रारभ मे ही बता चुके है कि पुद्गल वर्ण, गध, रस, स्पर्श सहित होते हैं। स्कन्धादि मे तो यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। परन्तु परमाणु मे कैसे घटित होगी, जिसका कोई विभाग नही होता और जो न इन्द्रिय गोचर ही होता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि परमाणु आखो से दिखाई

नही देता.फिर भी वह मूर्त है, साकार है। क्योकि वह स्कन्ध-रूप-कार्य का कारण है। जव कार्य मूर्त है, तो कारण भी मूर्त ही होगा। अमूर्त से मूर्त की उत्पति नही होती और स्कन्ध की उत्पति परमाणुओ के मिलने से होती है, इसलिए परमाणु वर्ण, गध, रस, स्पर्श युक्त साकार है। फिर भी एक परमाणु में स्कध की तरह ५ वर्ण, २ गंध, ५ रस, ८ स्पर्श नही पाए जाते। एक परमाणु मे १ वर्ण, १ गध, १ रस और २ स्पर्श पाए जाते हैं । † दो स्पर्श वे ही पाए जाते है, जो परस्पर विरोधी न हो। कोमल, कठिन, शीत और उष्ण ये चार स्पर्श अणु में नही पाए जाते है । क्योकि उक्त चारो स्पर्श सापेक्ष हैं, अत. स्कध मे ही पाए जाते हैं।

अणु पुद्गल का शुद्ध रूप है। वह शब्द नही है, क्योकि शब्द के लिए अनन्त अणुओ के सम्मिलन की आवश्यकता रहती है, अत वह शब्द का कारण नही है। इसी तरह स्कध भी एकाधिक अणुओ का होता है । अत अणु और स्कंध मे भी भेद है ।

अणु इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता है। तव फिर उसे अरूपी या अमूर्त क्यो न मान लिया जाए? हमारी किसी भी इन्द्रिय से उनका परिज्ञान

† स्कन्ध अनेक परमाणुओं के मिलने से वना है । जैन दर्शन की यह मान्यता है कि स्निग्ध-स्निग्ध और रूक्ष-रूक्ष परमाणुओ का वंध नही होता। पर स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओ का वन्ध होता है। इस दृष्टि से सभी परमाणुओ में दोनो स्पर्श नही पाए जा सकते। कुछ परमाणु स्निग्ध स्पर्श वाले होगे तो कुछ रूक्ष स्पर्श वाले। इसी तरह वर्ण, गध, रस भी विभिन्न परमाणुओ के सुमेल से एक ही स्कध में सघटित रूप से रहते हैं। फिर भी जिस वर्ण, गंध एवं रस के परमाणुओ की अधिकता होती है, वह वर्ण, गध एव रस प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होता है और शेष गौण रूप से रहते है।

न होने पर भी परमाणु अरूपी नही है। क्योकि उसका स्कन्धादि रूप कार्य मूर्त है। जो अरूपी तत्त्व होता है, उसका कार्य भी अरूपी ही होता है। स्कधादि मूर्त एव साकार कार्य से परमाणु की साकारता का स्पष्ट अनुभव होता है। अत सूक्ष्म होने पर भी परमाणु को साकार माना गया है।

जैन दर्शन मानता है कि स्कध मे से जो अणु पैदा होते हैं, वे भेद से होते हैं।† इससे यह प्रश्न हो सकता है कि फिर अणु भी अनित्य हो जाएगा। क्योकि जो अणु पैदा होता है, उसका विनाश भी होता है। अत. परमाणु रूप से पुद्गल द्रव्य की नित्यता की जो मान्यता है, वह घटित नही हो सकेगी? नही, ऐसी वात नही है। इस मान्यता से पुद्गल द्रव्य की नित्यता मे कोई अन्तर नही पडेगा। क्योकि पुद्गल के दो रूप बताए गए हैं —एक अणु रूप से और दूसरा स्कध रूप से।‡ जो पुदगल अणु-परमाणु रूप हैं, उनके उत्पन्न होने का सवाल ही नही उठता है। परन्तु, जो परमाणु स्कध के रूप में परस्पर मिले हुए हैं, वे एक दूसरे से विलग हो सकते है या नही, यह प्रश्न है? इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि भेद पूर्वक वे भी स्कध से अलग होकर परमाणु हो सकते है। जब स्कध मे भेद होता है, स्कध टूटता है, तब अणु पैदा होता है। इस अपेक्षा से अणु स्कध का कार्य है। परन्तु अणु की उत्पत्ति सयोग से नहीं होती, क्योकि वह अविभाज्य अंश है। जहा सयोग होगा वहा एकाधिक अणु होगे, कम से कम दो तो होगे ही

† भेदादणु।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५,२७.

‡ अणव. स्कधाश्च।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५,२५.

और दो अणुओ वाला स्कध होता है। इससे स्पष्ट है कि अणु को जो कार्य रूप या उत्पन्न होना माना है, वह स्कध मे रहे हुए अणुओ को उस स्कध से अलग होने की अपेक्षा से माना है।

वैशेषिक दर्शन की पदार्थ मान्यता

वैशेषिक दर्शन नव पदार्थ मानता है– पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।† प्रथम चार द्रव्यो मे उनने जिन गुणो को माना है, वे सव पुद्गल द्रव्य मे आ जाते है। वैशेषिक पृथ्वी मे वर्ण, गध, रस, स्पर्श चार गुण, अप् मे वर्ण, रस, स्पर्श तीन गुण, तेज मे वर्ण और स्पर्श दो गुण और वायु मे केवल स्पर्श गुण मानते है। जैन दर्शन सभी मे चारो गुण मानता है, क्योकि वर्ण, गध, रस और स्पर्श सहचारी है। वायु मे रूप स्पष्टतया दिखाई नही देता है, इस का कारण हमारी चक्षु इन्द्रिय की पटुता की कमी है, न कि वायु ही रूप रहित है। उसका रूप अनुभव सिद्ध है, क्योकि वह स्पर्शाविनाभावी है। जसे घट-पट-तख्त आदि मे रूप है, क्योकि वहा स्पर्श है। वायु मे रूप होते हुए भी दृष्टिगोचर नही होता, इसका कारण यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियो स्थूल विपय को ही ग्रहण कर सकती हैं। जैसे पृथ्वी मे सूक्ष्म गध के रहते हुए भी घ्राणेन्द्रिय उसे ग्रहण नही कर सकती, उसी तरह वायु मे स्थित रूप को भी चक्षु इन्द्रिय देख नही सकती। जैनो की यह मान्यता वैज्ञानिको की प्रयोगशाला मे भी सिद्ध हो चुकी है। वैज्ञानिको ने यह प्रमाणित कर दिया कि वायु को निरन्तर ठडा करते रहने पर वह नीले रग मे परिवर्तित हो जाता है, जैसे वाष्प को पानी के रूप मे

† पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मामनासि।

—तर्कसग्रह।

वदला जा सकता है। § जव वायु मे वर्ण—रूप सिद्ध हो गया तो गन्ध और रस तो स्वत. सिद्ध हो जाते है। इस प्रकार जैसे वायु मे चारो गुण पाए जाते हैं, वैसे अप् और तेज मे भी चारो ही गुण पाए जाते हैं। इसे स्पष्ट करने की अवश्यकता नही है।

वैशेपिक दर्शन जैसे पृथ्व्यादि द्रव्यो मे भिन्न गुण स्वीकार करता है, वैसे ही वह उन विभिन्न द्रव्यो मे भिन्न परमाणु के अस्तित्व को भी मानता है। पृथ्वी के परमाणु अलग हैं, पानी के परमाणु अलग है, इसी तरह अन्य सभी द्रव्यो के परमाणु अलग है और वे परमाणु एक-दूसरे द्रव्य के परमाणुओ से भिन्न है। यह उनका परमाणु नित्यवाद है। उनकी मान्यता है कि सभी द्रव्यो के परमाणु नित्य होते है, उनके कार्य मे परिवर्तन होता रहता है, किन्तु उन परमाणुओं मे परिवर्तन नही होता। परन्तु यह मानना युक्तिसगत नही है। क्योकि यह देखा जाता है कि एक द्रव्य के परमाणु दूसरे द्रव्य के परमाणुओ के रूप मे वदल जाते है। आक्सीजन और हाईड्रोजन दो गैसो का समिश्रण होता है या किया जाता है, तो दो गैसो के रूप मे स्थित वायु के परमाणु पानी के रूप मे परिवर्तित हो जाते है। अस्तु जैन दर्शन द्रव्यो के भिन्न-भिन्न परमाणुओ को नही मानता है। और आज का विज्ञान भी इस वात को मानता है कि एक द्रव्य के परमाणु दूसरे द्रव्य के परमाणुओ के रूप मे परिवर्तित होते है या किए जा सकते है। ग्रीक दार्शनिक ल्युसिपस और डेमोक्रेट्स भी परमाणुओ के भेद को नही मानते है। वह

§ Air can be converted bluish liquid by continuous cooling, just as steam can be converted into water.

—जैन दर्शन (मोहन लाल मेहता) पृ. १८२

सब परमाणुओ को एक जाति का मानता है। वह जाति–भूत सामान्य या जड सामान्य है। यही बात जैन दर्शन मानता है। समस्त परमाणु जड–अजीव है और परिणामी नित्य हैं।

स्कन्ध की उत्पत्ति

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि पुद्गल चार प्रकार का होता है—स्कन्ध, स्कन्ध देश, स्कन्ध प्रदेश और परमाणु। सभी स्कन्ध परमाणुओ के समूह है। उनका निर्माण तीन तरह से होता है—भेदपूर्वक, सघात-सश्लेप पूर्वक और भेद-सघातपूर्वक।[1]

भेद दो तरह से होता है—आभ्यान्तर और वाह्य। स्कन्ध मे स्वय विदारण होता है। अत आन्तरिक कारण से स्कन्ध मे से जो परमाणु अलग होते हैं, उसमे किसी वाहरी कारण की अपेक्षा नही होती। जैसे मन स्कन्ध के परमाणु विना वाहरी आघात के ही स्कन्ध से अलग हो जाते है, उन्हे स्कन्ध से पृथक होने के लिए वाहरी भेद की जरूरत नही होती। परन्तु वाहरी कारण से होने वाले भेद में स्कन्ध के अतिरिक्त दूसरे कारण की अपेक्षा होती है। उस कारण के होने पर स्कन्ध मे उत्पन्न होने वाले भेद को वाह्य कारण मानते है।

अलग–अलग रहे हुए परमाणुओ का एकीभाव होना सघात है। यह भी आभ्यान्तर और वाह्य भेद से दो प्रकार का होता है। दो पृथक-पृथक परमाणुओ का मिलन या दो से अधिक परमाणुओ का सयोग सघात कहलाता है।

भेद और संघात उभयपूर्वक बनने वाला स्कन्ध भेद-सघात कहलाता है। उदाहरण के तौर पर एक स्कन्ध मे से एक हिस्सा टूट कर अलग हुआ और उसी समय दूसरा स्कन्ध आकर उसमे मिल गया या मिला

[1] भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते। —तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २६.

दिया गया और वह एक अभिनव स्कन्ध बन जाता है। इस प्रक्रिया मे निर्मित स्कन्ध को भेद और सघात उभयपूर्वक मानते है । इस प्रकार तीन तरह से स्कन्ध का निर्माण होता है। कभी केवल भेद से, कभी केवल सघात से और कभी भेद और सघात से।

दो या दो से अधिक पृथक-पृथक रहे हुए परमाणुओं का सघात-सश्लेप या बन्ध कैसे होता है? जैन दार्शनिको ने इसका उत्तर देते हुए कहा है कि परमाणुओ मे जो संश्लेप होता है—वह उन मे रहे हुए स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श के कारण होता है।* बन्ध मे इन बातो का होना जरूरी है—

१ जघन्य गुण युक्त अवयवो का बन्ध नही होता है ।

२ समान गुण होने पर भी सदृश अवयवों का अर्थात् स्निग्ध से स्निग्ध या रूक्ष से रूक्ष अवयवो का बन्ध नही होता है।

३ दो से अधिक गुण वाले अवयवो का बन्ध होता है। ÷

इस से यह स्पष्ट हो गया है कि परमाणुओ मे स्निग्धत्व या रूक्षत्व का अश या गुण जघन्य होने पर उनमे बन्ध नही होता, मध्यम या उत्कृष्ट गुण होने पर ही उनका बन्ध होता है । दूसरे निपेध का तात्पर्य यह है कि समान गुण युक्त सदृश अवयवो मे परस्पर बन्ध नही होता है। जैसे स्निग्ध से स्निग्ध या रूक्ष से रूक्ष अवयवो का बन्ध नही होता है। इसे और सीमित करते हुए कहा गया है कि असमान गुण वाले सदृश अवयवो में भी तभी बन्ध होता है,जब एक अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुण दूसरे अवयव से दो गुण अधिक हो। इससे यह

---

* स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध । —तत्त्वार्थ सूत्र, ५, ३३.

÷ न जघन्य गुणानाम् । गुणसाम्ये सदृशानाम । द्व्यधिकादिगणान्तु । —तत्त्वार्थ सूत्र, ५, ३४–३६

स्पष्ट हो गया है कि एक अवयव के स्निग्धत्व या रूक्षत्व की अपेक्षा दूसरे अवयव का स्निग्धत्व या रूक्षत्व एक गुण अधिक हो तो भी उन का वन्ध नही होता, दो गुण अधिक होने पर ही वन्ध होता है ।§

वन्ध की मान्यता मे दो परपराए हमारे सामने है । श्वेताम्वर और दिगम्वर । श्वेताम्वर परपरा की यह मान्यता है कि दो परमाणु जघन्य गुण वाले हो तो उनका वन्ध नही होता है। किन्तु एक परमाणु जघन्य गुण युक्त हो और दूसरा मध्यम या उत्कृष्ट गुण युक्त हो तो दोनो मे वन्ध हो जाता है । परन्तु दिगम्वर परपरा मे यदि दो परमाणुओं मे से एक परमाणु भी जघन्य गुणवाला है,तो उनमे वन्ध नही होता हैं।परन्तु श्वेताम्वर सिद्धात के अनुसार एक परमाणु से दूसरे परमाणु मे स्निग्धत्व या रूक्षत्व दो, तीन, चार यावत् सख्यात, असख्यात, अनन्त गुण अधिक होने पर भी वन्ध हो जाता है, एक गुण अधिक का वन्ध नही होता । जवकि दिगम्वर मान्यतानुसार एक अवयव से दूसरे अवयव मे स्निग्धत्व या रुक्षत्व दो गुण अधिक होने पर ही वन्ध होता है, न कि एक गुण अधिक होने पर वन्ध होता है और न तीन, चार यावत् अनन्त गुण अधिक होने पर वन्ध होता है । श्वेताम्वर परपरा की धारणा के अनुसार दो, तीन आदि गुणो के अधिक होने पर जो वन्ध का विधान है, वह सदृग अवयवो के लिए है,असदृग अवयवो के लिए नही ।

§ वध परिणामे ण भते ! कइविहे पन्नते? गोयमा ! दुविहे पन्नते, तजहा—णिद्ध वधण परिणामे, लुक्खवधण परिणामे ।

समणिद्धाए वधो ण होइ, समलुक्खाए वि ण होइ ।
वेमायणिद्धलुक्खतणेण, वधो उ खधाण ।।
णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिए ण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिए ण ।
णिद्धस्स लुक्खेण उवेइ वधो, जहण्णवज्जो विसमो समो वा ।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद १३

दिगम्बर धारणा के अनुसार सदृश और असदृश दोनो प्रकार के अव-यवो के वन्ध के लिए है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के बंध विषयक मतभेद का सार निम्न कोष्ठको मे दिया जाता है*—

श्वेतांबर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१ जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२ जघन्य+एकाधिक	नहीं	है
३ जघन्य+द्वयाधिक	है	है
४ जघन्य+त्र्याधिकादि	है	है
५ जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	है
६ जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७ जघन्येतर+द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर+त्र्याधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर परम्परा

गुण	सदृश	विसदृश
१ जघन्य+जघन्य	नहीं	नहीं
२ जघन्य+एकाधिक	नहीं	नहीं
३ जघन्य+द्वयाधिक	नहीं	नहीं
४ जघन्य+त्र्याधिकादि	नहीं	नहीं
५ जघन्येतर+सम जघन्येतर	नहीं	नहीं
६ जघन्येतर+एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७ जघन्येतर+द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८ जघन्येतर+त्र्याधिकादि जघन्येतर	नहीं	नहीं

दो असदृश गुणवाले अवयवो मे वन्ध होता है,तो वे परमाणु किस

* तत्त्वार्थ सूत्र (प सुखलाल सघवी) पृ २०२

रूप मे परिणत होते है? कौन परमाणु किसको अपने मे परिणत करता है? यह तो हम ऊपर बता चुके है कि समान गुण वाले सदृश अवयवो का तो बध होता नही। विसदृश बध के समय कभी एक सम अवयव दूसरे सम अवयव को अपने रूप मे परिणत कर लेता है, तो कभी दूसरा सम अवयव पहले सम अवयव को अपने रूप मे परिवर्तित कर लेता है। जैसा द्रव्य,क्षेत्र आदि का संयोग मिलता है,वैसा परिवर्तन हो जाता है। और जब अधिक गुण एव हीन गुण का बन्ध होता है, तब अधिक गुण युक्त अवयव हीन गुण वाले अवयव को अपने रूप मे बदल लेता है। जिस परंपरा मे समान गुण वाले अवयवो मे बध ही नही होता, वहा अधिक गुण युक्त अवयव हीन गुण वाले अवयव को अपने रूप मे बदल लेता है, इतना ही पर्याप्त है।

पुद्गल के मुख्य रूप से स्कन्ध और अणु दो भेद है। इन भेदो के आधार पर बनने वाले छ भेदो का वर्णन भी मिलता है। ‡

१—स्थूल-स्थूल— स्वर्ण, लोहा, काष्ठ, पत्थर आदि ठोस पदार्थ इस मे गिने जाते है।

२—स्थूल—दूध, दही, मक्खन, पानी आदि द्रव-बहने वाले पदार्थ स्थूल के अन्तर्गत आते है।

३—स्थूल सूक्ष्म— प्रकाश, विद्युत, उष्णता आदि अभिव्यक्तिया स्थूल-सूक्ष्म की श्रेणी मे आती है।

४—सूक्ष्म-स्थूल – वायु, वाष्प आदि सूक्ष्म स्थूल के अन्तर्गत समझे जाते है।

५—सूक्ष्म—मनोवर्गणा आदि अचाक्षुष द्रव्य सूक्ष्म पुद्गल है।

६—सूक्ष्म-सूक्ष्म—पुद्गल का अविभाज्य अंश परमाणु सूक्ष्म-सूक्ष्म

‡ तत्त्वार्थ सूत्र (प सुखलाल संघवी)

कोटि मे आता है।

अचाक्षुप पुद्गल स्कन्ध भेद और सघात से चाक्षुष वनते है। जब कोई स्कन्ध सूक्ष्मत्व से निवृत्त होकर स्थूलत्व को प्राप्त होता है, तव उसमे कुछ नए परमाणु अवश्य मिलते हैं और कुछ पुरातन परमाणु अलग भी होते है। मिलना और अलग होना यही भेद और सघात है।

पुद्गल का इतना लम्बा वर्णन करने पर भी यह समझ मे नही आया कि उनका काम क्या हैं?

पुद्गल अनन्त हैं और उनके स्थूल-स्थूल, स्थूल, स्थूल-सूक्ष्म आदि प्रकार से अनन्त स्कन्ध वनते-विगडते रहते है। इस दृष्टि से पुद्गलो के अनन्त कार्य होते हैं। फिर भी कुछ विशिष्ट कार्य है, जिन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। वे कार्य है– शब्द, वध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप और उद्योत। § ये पुद्गल के असाधारण गुण हैं अर्थात् पुद्गल के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो मे नही मिलते हैं।

शब्द

वैशेषिक दर्शन शब्द को आकाश का गुण मानता है। साख्य दर्शन शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति मानता है। परन्तु दोनो मान्यताए गलत हैं। हम पहले वता आए है कि शब्द पुद्गल है। क्योकि शब्द का उद्भव दो पुद्गल स्कन्धो मे परस्पर सघर्ष होने से होता है। अत वह पुद्गल से उत्पन्न होता है और अपने मार्ग मे पड़ने वाले पुद्गलो को तरगित करता है, कपित करता है तथा पुद्गलो द्वारा

§ शब्दवन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २४

ग्रहण हो कर एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुचाया जाता है और हमारी कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य है और मूर्त है। किन्तु आकाश अमूर्त है, इसलिए शब्द उसका गुण नही बन सकता है और न उसकी तन्मात्रा से आकाश का उद्भव ही हो सकता है। क्योकि मूर्त पदार्थ अमूर्त द्रव्य का न तो गुण बन सकता है और न वह अमूर्त को उत्पन्न ही कर सकता है। जब शब्द मूर्त है, पुद्गल है, तो उसकी तन्मात्रा भी तद्रूप ही होगी। अत उससे आकाश की उत्पत्ति मानना अनुभवगम्य भी नही है।

शब्द के मुख्य रूप से दो भेद है– १ प्रयोगज और २ वैस्रसिक। जो शब्द आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, वह प्रयोगज और जो बिना प्रयत्न के उत्पन्न होता है वह वैस्रसिक कहलाता है। मेघो–बादलो की गर्जना वैस्रसिक है। प्रयोगज शब्द के ६ प्रकार बतलाए गए है— १ भाषा, २ तत, ३ वितत, ४ घन, ५ शुषिर और ६ सघर्ष। भाषा–मनुष्य आदि की व्यक्त और पशु-पक्षी आदि की अव्यक्त ऐसी अनेकविध भाषाए है। २ तत–चमडा लपेटे हुए अर्थात् मृदग, पटल आदि का शब्द। ३ वितत–तार युक्त वीणा, सारगी आदि वाद्यो का शब्द। ४ घन–झालर, घटा आदि का शब्द। ५ शुषिर–फूक कर बजाए जाने वाले शख-बशी आदि का शब्द। ६ सघर्ष–लकडी या डडे आदि के सघर्ष से होने वाला शब्द। ‡

बन्ध

बध के विषय मे हम पिछले पृष्ठो पर लिख चुके हैं। शब्द की तरह बंध भी दो प्रकार का है–वैस्रसिक और प्रायोगिक। पहला आदिमान

‡ तत्त्वार्थ सूत्र (प सुखलाल सघवी) पृ. २०७

और अनादिमान के भेद से दो प्रकार का है। स्निग्ध और रूक्ष गुण युक्त परमाणुओ से निर्मित मेघ, विद्यु त, वर्षा, इन्द्रधनुष आदि विषयक वध आदिमान वैस्रसिक है और धर्म, अधर्म और आकाश का जो वध है, वह अनादि है। प्रायोगिक वध भी दो तरह का है–अजीव विषयक और जीवाजीव विषयक। काष्ठ और राल आदि पदार्थों का वध अजीव विषयक और आठ कर्मो का एव शरीर आदि का बध जीवा-जीव विषयक प्रायोगिक वध है।

सौक्ष्म्य

सौक्ष्म्य भी अन्त्य और आपेक्षिक के भेद से दो प्रकार का है। परमाणु का सौक्ष्म्य अन्त्य है, क्योकि वह पुद्गल का अविभाज्य अश है, उससे और सूक्ष्म भाग नही हो सकता। अन्य पदार्थो की सूक्ष्मता आपेक्षिक है– जैसे सतरा तरबूज की अपेक्षा सूक्ष्म है और अखरोट संतरे की अपेक्षा सूक्ष्म है, इत्यादि।

स्थौल्य

सूक्ष्म की तरह स्थूलता भी दो प्रकार की है– अन्त्य और आपे-क्षिक। जगत् व्यापक महास्कन्ध अन्त्य स्थूल है, उससे अधिक बडा और कोई स्कंध नही होता है। तरबूज, संतरा और अखरोट आदि की स्थूलता सापेक्ष है।

संस्थान

इतथ और अनित्य के भेद से सस्थान दो प्रकार का है। जिस सस्थान की दूसरे सस्थान के साथ तुलना की जा सके वह इत्थ सस्थान है और जिसकी किसी सस्थान के साथ तुलना न की जा सके या जिस का कोई निश्चित आकार न हो वह अनित्थ सस्थान है। मेघादि का सस्थान अनित्थ स्वरूप है और अन्य पदार्थो का इत्थं सस्थान है।

भेद

यह तो हम पहले ही वता चुके हैं कि स्कन्ध एव अणु का निर्माण भेद से भी होता है। वह भेद ६ प्रकार का है—१ उत्कर, २ चूर्ण, ३ खण्ड, ४ चूर्णिका, ५ प्रतर और ६ अणुचटन। काष्टादि के चीरने से जो पुद्गलो का विभक्तिकरण होता है, उसे उत्कर कहते है। गेहू, चना, वाजरा आदि को चक्की मे पीसने पर जो स्वरूप होता है, उसे चूर्ण कहते हैं। घट आदि के टुकडे होना खण्ड कहलाता है। चने, मूंग, चावल,जव आदि के छिलको को अलग करना चूर्णिका है। अभ्र-पटलादि को अलग करने का नाम प्रतर है और तप्त लोहे को घन से पीटने पर उसमे से स्फुलिंग का उछलना अणुचटन कहलाता है।

तम

नैयायिक अधकार को स्वतत्र द्रव्य न मान कर प्रकाश का अभाव मात्र मानते हैं। परन्तु जैन दर्शन इस वात को नही मानता, वह अधेरे को अभाव न मान कर प्रकाश की तरह भावात्मक पदार्थ मानता है। क्योकि पुद्गल सदा रूप आदि से यक्त होता है और अधेरे मे रूप आदि का सद्भाव है। जैसे प्रकाश मे भास्वर-उज्ज्वल रूप और उष्ण स्पर्श लोक प्रसिद्ध है,उसी तरह अधेरे में भी अभास्वर-कृष्ण रूप और शीत स्पर्श की स्पष्ट प्रतीती होती है। अत अन्धकार प्रकाश का अभाव नही, परन्तु भावात्मक पदार्थ है और पर-माणुओ का स्कन्ध है।

छाया, आतप और उद्योत

प्रकाश पर आवरण का आ जाना छाया है। सूर्य, अग्नि आदि का उष्ण प्रकाश आतप और चन्द्र, मणि एवं खद्योत आदि का शीतल प्रकाश उद्योत कहलाता है।

उपरोक्त कार्य पुद्गल के असाधारण कार्य हैं। अर्थात् ये शुद्ध पौद्गलिक होते है। कुछ कार्य ऐसे है, जो जीव और पुद्गल के संबध से होते हैं। शरीर, वाणी, मन, नि-श्वास-उच्छ्वास, सुख-दु ख, जीवन-मरण आदि कार्य उभय द्रव्यो के सबध से निष्पन्न होते है।

स्कन्ध की अपेक्षा से पुद्गल विभिन्न आकार - प्रकार मे परिलक्षित होता है। परन्तु, उसका शुद्ध रूप परमाणु है। भौतिक-वैज्ञानिको ने पहले ९२ मौलिक तत्त्वो (Elements) की खोज की थी। उनका वजन और शक्ति के अश भी निर्धारित किए थे। मौलिक तत्त्व का अर्थ होताहै—एक तत्त्व का दूसरे रूप को प्राप्त न करना। इस परिभाषा के अनुसार अब वर्तमान वैज्ञानिक कोष मे केवल एटम (Atom) ही मौलिक तत्त्व के रूप मे अवशेष रहा है। यही एटम अपने आस-पास चारो तरफ गतिशील इलेक्ट्रोन और प्रोटोन की सख्या के भेद से आक्सीजन, हाईड्रोजन, चादी, स्वर्ण, लोहा, तावा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओ को धारण कर लेता है। आक्सीजन के अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोट्रोन को तोड़ने या मिलाने पर वही हाइड्रोजन वन जाता है। इस तरह आक्सीजन और हाइड्रोजन दो मौलिक तत्त्व न होकर एक तत्त्व की अवस्था विशेष ही मालूम होते है। वह मूल तत्त्व केवल अणु (Atom) है।* जैन दर्शन भी इसी सिद्धात को मानता है। अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले स्कन्ध विभिन्न तत्त्व नही है। भेद और सघात से या वैज्ञानिक भाषा मे यों कहिए कि रासायनिक परिवर्तनो के कारण एक स्कन्ध मे से अमुक प्रकार के परमाणु के विखरने—अलग होने और मिलने से वह दूसरे स्कन्ध के रूप मे वदल जाता है। परन्तु सभी स्कन्धो मे स्थित परमाणु का नाश नही होता, उसका शुद्ध

* जैनदर्शन (प महेन्द्र कुमार, न्यायाचार्य) पृ १८२.

रूप सदा बना रहता है। अत परमाणु को पुद्गल का शुद्ध रूप माना गया है।

काल द्रव्य

जैनागमो मे काल का लक्षण वर्त्तना बताया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र मे वर्त्तना, परिणाम, क्रिया और परत्व-अपरत्व ये काल के उपकार बताए गए हैं। * अपने-अपने पर्याय की उत्पत्ति मे स्वयमेव प्रवर्त्तमान द्रव्यो को निमित्त रूप से प्रेरणा करना वर्त्तना है। स्व स्वरूप का परित्याग किए बिना द्रव्य की पर्यायो मे होने वाला परिवर्तन या पर्यायो की पूर्वावस्था की निवृत्ति और उत्तरावस्था की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं। पर्यायो मे जो स्पन्द होता है उसे गति कहते है। ज्येष्ठत्व यह परत्व है और कनिष्ठत्व अपरत्व है। यद्यपि वर्त्तना आदि कार्य यथासभव धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यो के ही है, तथापि काल सब का निमित्त कारण होने से यहा उन्हे काल का कार्य माना गया है। ‡

काल सभी पदार्थो पर वर्तता है। अभिनव पदार्थ को पुरातन बनाता है और पुरातन को समाप्त करता है। यहा समाप्त करने का अर्थ पुद्गल के वर्तमान रूप से है, न कि द्रव्य रूप से। क्योकि द्रव्य सदा स्थित रहता है, नए से पुराना एव समाप्त होने का कार्य पर्यायो का है। पर्याये एक रूप से समाप्त होकर दूसरे रूप को धारण करती रहती हैं और उसमे काल निमित्त रूप से कारण होता है।

काल दो तरह का माना गया है— १ निश्चय काल और २ व्यवहार काल। लोकाकाश पर स्थित जो असख्यात कालाणु (काल द्रव्य) है, उन्हें निश्चय काल कहते हैं। इन के निमित्त से वस्तु मे परिवर्तन

* तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २२।

‡ तत्त्वार्थ सूत्र (प. सुखलाल सघवी) पृ. २०५.

होता है और प्रत्येक द्रव्य की पर्यायों में उत्पाद और व्यय होता रहता है। समय, आवलिका, मुहूर्त्त, दिन-रात, महीना, वर्ष, शताब्दी आदि को व्यवहार काल कहते हैं। यह अनन्त समय (पर्याय) वाला है। यो तो समय एक ही होता है। क्योंकि वर्तमान एक समय का ही होता है। परन्तु भूत और भविष्य की अपेक्षा से अनन्त समय होते है। इस कारण काल को अनन्त समय वाला कहा गया है। यह व्यवहार काल सौर मडल एव घड़ी आदि से जाना-पहचाना जाता है।

काल को प्राय. सभी दार्शनिको ने माना है। उन्होने मात्र व्यवहार काल को माना है। काल द्रव्य को जैनो ने ही स्वीकार किया है। कुछ आचार्य उसे स्वतंत्र द्रव्य नही मानते, परन्तु कुछ स्वतत्र द्रव्य मानते है। हा, वे भी उसे अस्तिकाय (समूह रूप) नही मानते है। अस्तु काल के असख्यात अणु एक दूसरे से सवद्ध नही है, परन्तु मुक्ता कणो की भाति आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर अलग-अलग स्थित है। इस तरह जैनो ने छ द्रव्य माने हैं— धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। उनमे पाच अस्तिकाय (समूह रूप) है और काल समूह रूप नही है। और प्रथम के पाचों द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य को छोड़कर शेष पाचो द्रव्य अजीव हैं, चेतना रहित हैं।



बन्ध-मोक्ष मीमांसा

तृतीय अध्याय

प्रश्न– जगत् जीव और अजीव या जड़ और चेतन पर आधारित है, यह तो समझ में आ गया। परन्तु यह आत्मा संसार में क्यों परिभ्रमण करती है, जड़ पुद्गलों का इसके साथ कैसे संबंध होता है? वह संबंध सदा बना रहता है या उसका अन्त भी किया जा सकता है? यदि किया जा सकता है तो किस तरह किया जा सकता है? इसे स्पष्ट रूप से समझाएं?

उत्तर– जैनागमो में यह बताया गया है कि कर्म बन्ध के कारण आत्मा ससार मे परिभ्रमण करता है। कषाय युक्त योगो की प्रवृत्ति से कर्म पुद्गल आत्मा के साथ सवद्ध होते हैं। आत्मा और कर्मो का सवघ अनादि काल से है। परन्तु यह सदा के लिए वना रहेगा, ऐसी वात नही है। क्योकि अनादि कालीन सवघ प्रवाह रूप से है। व्यक्तिश कर्म पुद्गलों मे प्रति समय परिवर्तन होता रहता है। पुराने कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं और नए कर्मो का बन्ध होता रहता है। अत आत्म साधना के द्वारा कर्मो का आत्यान्तिक क्षय भी किया जा सकता हैं।

कर्म पुद्गलो के आगमन की प्रक्रिया को आश्रव कहते हैं।

कषाय युक्त योग प्रवृत्ति से समागत कर्म पुद्गलो का आत्म प्रदेशो के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से सवध होने को वध कहते है। आश्रव और वंध – शुभ और अशुभ रूप से दो प्रकार का होता है। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप भी कहते है। नए कर्म पुद्गलो के आगमन को रोकने की साधना को सवर तथा पूर्व सचित कर्मो को क्षय करने की क्रिया को निर्जरा कहते हैं। इस तरह नए कर्मो का आगमन रोक कर, पुराने कर्म का क्षय करने से एक समय कर्मो का आत्यान्तिक नाश हो जाता है, आत्मा कर्म वन्धन से मुक्त हो जाता है। इस तरह अनादि काल से कर्म प्रवाह सवद्ध आत्मा उनसे सदा के लिए उन्मुक्त हो जाता है। यह वात पुण्य, पाप, आश्रव,सवर, वध, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो के द्वारा स्पष्ट की गई है। हम यहां इस पर जरा विस्तार से विचार करेंगे।

पुण्य तत्त्व

"शुभ पुण्यस्य"

जिन कर्म प्रकृतियो का फल शुभ होता है, सुख रूप मे मिलता है, उन्हें पुण्य कहते हैं। पुण्य शब्द का अर्थ है 'पुनातीति पुण्यम्' अर्थात् जो कर्म आत्मा को पावन-पवित्र वनाने का कारण वनता है, वह पुण्य है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, निर्दोष पाच इन्द्रियें, शास्त्र का श्रवण सद्गुरु का सपर्क, धर्म करने की अभिरुचि, यहाँ तक की तीर्थंकर नाम कर्म का वंध भी पुण्य से होता है। पुण्य जीवन का विकासक है, उसके कारण जीव को विविध सुख साधन एव जीवन विकास की सामग्री प्राप्त होती है।

जैनाचार्यो ने पुण्य दो प्रकार का माना है— १ पुण्यानुवधी पुण्य और २ पापानुवंधी पुण्य। पहला पुण्य वह है जिस के द्वारा पुण्य से

प्राप्त मानव जीवन एव साधनो का उपयोग शुभ कार्य मे होता है और वह पुण्य का अनुवध करने मे सहायक वनता है। दूसरे प्रकार का पुण्य वह है, जिसके द्वारा प्राप्त सामग्री का व्यय दुष्कर्मों मे होता है और उससे पुण्य के वदले पाप कर्म का सग्रह होता रहता है। अस्तु जो साधन वर्तमान मे पुण्य एव निर्जरा के कारण वनते है, वे पुण्यानुवधी पुण्य के उदय से मिले हैं और जिनके द्वारा पाप कर्मो का सग्रह होता है अथवा जो मानव मन को विषय-वासना एव भोगो की ओर घसीटते है, वे पापानुवधी पुण्य के उदय से मिले हैं। यह सत्य है कि उनकी प्राप्ति के पीछे पुण्य एव शुभ कर्म का हाथ रहा है, परन्तु साथ मे भावना की विशुद्धता न होने से वे वाहरी रूप से सुख साधन होते हुए भी जीव के लिए घोर दु ख एव पतन के कारण बनते हैं।

यह निताात सत्य है कि दुनिया की सारी व्यवस्था कर्मों के अनुसार होती है। पूर्व मे किए हुए कर्म यदि उनकी निर्जरा नही की है तो अवश्य उदय मे आते हैं। अत हमे मिलने वाले अच्छे एवं वुरे साधन कर्म के परिणाम ही हैं। परन्तु, इतना होते हुए भी यह आत्मा सर्वथा कर्मों के अधीन नही है। उसकी शक्ति कर्मों से भी अधिक है। वह केवल पुण्य-पाप के भरोसे पर ही नही है। यदि ऐसा ही हो तव तो वह कभी भी पुण्य-पाप के वधन से मुक्त-उन्मुक्त हो ही नही सकेगी। आत्मा को वर्तमान मे जो कुछ मिला है,वह कर्म का फल है,परन्तु उस कर्म प्रवाह को वदलने की शक्ति भी आत्मा मे है। वह पापानुवधी पुण्य से प्राप्त हुए साधनों को शुभ, शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम वना सकती है, दु ख के निमित्तो को सुख रूप मे वदल सकती हैं, कर्म वध के कारणो को कर्म तोडने के साधन वना भी सकती है। हरिकेशी को पापानुवधी पुण्य एव अशुभ कर्म के उदय से कुवडा शरीर, कुरूप चेहरा अव्यवस्थित अगोपाग, कर्कश स्वर मिला था। वह सवके लिए उपहास

एव घृणा का पात्र बना था। यत्र-तत्र-सर्वत्र उसे घृणा-तिरस्कार एव अपमान सहना पडता था। कोई व्यक्ति उसकी शक्ल-सूरत देखना नहीं चाहता था। कोई भी उसके शब्द सुनना पसन्द नही करता था। वह बेचारा जीवन से ऊब कर मरने को चल पड़ा और वहां महात्मा का योग पाकर स्वयं महात्मा-तपस्वी बन गया। वह शरीर, वह वाणी, जो कर्म बंध का कारण बन रही थी, जीवन एव भावना के बदलते ही वह निर्जरा एवं संवर का कारण बन गई। एक दिन जिसे कोई अपने पास खड़ा नही रहने देना चाहता था, उसी की सेवा में देव रहने लगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुभ या अशुभ कर्म के उदय से उपलब्ध शुभाशुभ साधनो को मनुष्य बदल भी सकता है। अशुभ साधनों को शुभ एव शुभ को अशुभ बनाने की शक्ति मनुष्य के हाथ मे है। कर्म-चाहे शुभ हो या अशुभ जड़ है और आत्मा चेतन है। वह अनन्त शक्ति युक्त है, अपनी ताकत से सारे कर्मो को तोड़ने में समर्थ हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वह अपनी ताकत को समझ कर उसका ठीक तरह से उपयोग करे।

पुण्य का फल शुभ होता है। वह अनेक तरह के शुभ भावो एव कार्यो से बंधता है। फिर भी शास्त्रकारो ने उसे नव प्रकार का बताया है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति सरलता से समझ सके। वह वर्गीकरण इस प्रकार है— १ अन्न-पुण्य, २ पान-पुण्य, ३ लयन-पुण्य, ४ शयन-पुण्य, ५ वस्त्र-पुण्य, ६ मन-पुण्य, ७ वचन-पुण्य, ८ काय-पुण्य, ९ नमस्कार-पुण्य। * संक्षेप में पुण्य बंध के ये नव कारण है।

१ अन्न-पुण्य— साधु को एव बुभुक्षित मनुष्य को शुद्ध हृदय एवं दया-अनुकम्पा युक्त निस्वार्थ भाव से यथा-योग्य अन्न का दान देने से

---

* स्थानांग सूत्र, स्थान ९।

पुण्य कर्म का वन्ध होता है।

२ पान-पुण्य-- इसी तरह शुभ भावो से, निस्वार्थ बुद्धि से पानी का दान देने से भी पुण्य कर्म का वध होता है।

३ लयन-पुण्य-- पात्रादि उपकरण देने से भी पुण्य होता है।

४ शयन-पुण्य-- रहने के लिए मकान देने से भी पुण्य होता है।

५ वस्त्र-पुण्य-- वस्त्र का दान करने से भी पुण्य होता है।

६ मन-पुण्य-- मन से दूसरों का हित चाहने से पुण्य होता है।

७ वचन-पुण्य-- गुणिजनो का गुणकीर्तन करने एव सवके साथ प्रम-स्नेह से मधुर भापण करने से भी पुण्य वध होता है।

८ काय-पुण्य-- शरीर से दूसरो की सेवा-शुश्रूषा करने, दुखियो के दुःख को दूर करने का प्रयत्न करने से, दूसरो के हित मे अपना जीवन लगा देने से भी पुण्य वधता है।

९ नमस्कार-पुण्य-- गुण युक्त व्यक्ति को नमन करने तथा उस की विनय भक्ति करने से पुण्य वन्ध होता है।

पुण्य ४२ प्रकार से उदय मे आता है। यह सत्य है कि वह वधन रूप है। परन्तु इससे वह एकात त्याज्य नही है। क्योकि ससार समुद्र पार करने मे वह सहायक होता है। जैसे समुद्र के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुचाने के लिए नौका उपयुक्त साधन है। फिर भी वह सदा पकडे रखने योग्य नही है। उसका उपयोग अपने मनोनुकूल स्थान पर पहुचने तक ही रहता है। इच्छित स्थान पर पहुंचते ही वह त्याज्य है। इसी तरह पुण्य भी १३वे गुणस्थान तक पहुचने के लिए उपयोगी है। वाद मे उसकी कोई आवश्यकता नही रह जाती है। अत छद्मस्थ अवस्था मे पुण्य उपादेय है,तो वीतराग अवस्था मे त्याज्य है। अस्तु पुण्य को एकान्त रूप से त्यागने योग्य वताना या मानना गलत है।

पाप तत्त्व

पाप का लक्षण पुण्य से विपरीत है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है— "अशुभ. पापस्य" अर्थात् पाप का फल अशुभ होता है। जीवन यात्रा मे जो कटुक क्षण गुजरते हैं, जो मुसीवतो के पहाड़ मानव पर गिरते हैं या जो दु खो-वेदनाओ की विजलिया कडकती हैं, वह सव पाप का परिणाम ही है। नरक और तिर्यञ्च गति की यात्रा भी मानव पाप के यान मे वैठ कर ही करता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगति मे जो कष्ट, पीडा एव वेदनाए झेलता है, उसका श्रेय भी इसी साथी को है। पाप की दोस्ती मानव को नरक के महागर्त मे गिराने वाली है, ससार मे परिभ्रमण कराने वाली है।

पाप कर्म वधने के अनेक कारण है। अशुभ विचारो की जितनी तरगे हैं, उतने ही पाप कर्म के भेद हो सकते है। परन्तु सरलता से सब की समझ मे आ जाए,इसलिए आगमो मे पाप कर्म वन्ध के १८ भेद माने है—१ प्राणातिपात, २ मृषावाद, ३ अदत्तादान, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० राग, ११ द्वेष, १२ कलह, १३ अभ्याख्यान, १४ पैशुन्य, १५ परपरिवाद, १६ रति-अरति, १७ मायामृषा और १८ मिथ्यादर्शनशल्य।

१ प्राणातिपात– किसी भी प्राणी के प्राणो का नाश करना, हिंसा करना।

२ मृषावाद– असत्य भाषण करना।

३ अदत्तादान– दूसरे के अधिकार मे रही हुई वस्तु को उसके मालिक की विना इच्छा एव आज्ञा के उठाना तथा दूसरे के अधिकारो, हितो एवं स्वार्थों का अपहरण करना।

४ मैथुन– व्यभिचार का सेवन करना।

५ परिग्रह– धनादि वस्तुओ एव सुख - साधनो पर आसक्ति

रखना, भोगो मे मूर्छित होकर रहना।

६ क्रोध- आवेश मे आना।

७ मान– अहकार या अभिमान करना।

८ माया– छल-कपट करना, धोखा देना।

९ लोभ- पदार्थों की तृष्णा रखना, लालच करना।

१० राग– किसी मनोनुकूल पदार्थ, व्यक्ति एव परिस्थिति के प्रति मोह-ममत्व रखना।

११ द्वेष– प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्ति एव परिस्थिति के आने पर जल उठना तथा उनसे नफरत एव घृणा करना।

१२ कलह– वाग्युद्ध करना।

१३ अभ्याख्यान– किसी पर झूठा दोषारोपण करना।

१४ पैशुन्य– चुगली खाना।

१५ परपरिवाद– किसी की झूठी या सच्ची निन्दा करना।

१६ रति-अरति– विषय-भोगो मे आनन्दित होना रति है और प्रतिकूल सयोग मिलने पर दु खी होना अरति है।

१७ मायामृषा– कपटयुक्त झूठ बोलना।

१८ मिथ्यादर्शनशल्य– तत्त्व मे अतत्त्व बुद्धि तथा अतत्त्व मे तत्त्व बुद्धि रखना या प्रत्येक कार्य ससाराभिमुख होकर करना।

मोटे रूप से पाप बध के ये अठारह कारण बताए गए है। इस तरह के और भी अशुभ विचारो का चिन्तन, कटुभाषा का प्रयोग एव दुष्कर्मो मे प्रवृति करना भी पाप कर्म के बध का कारण है। वह पाप कर्म ८२ प्रकार से उदय मे आता है। विविध योनियो मे अशुभ साधनो का उपलब्ध होना पाप कर्म का फल है।

जैनो की यह मान्यता रही है कि पाप कर्म के बध के साथ कुछ पुण्य प्रकृतिए तथा पुण्य के साथ कुछ पाप प्रकृतिए बधती है। तो यहा

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि फिर यह क्यो कहा गया कि पुण्य का फल शुभ एव पाप का फल अशुभ होता है ? तर्क ठीक है। प्रदेश बन्ध की दृष्टि से पुण्य के साथ-साथ पाप प्रकृतिए एव पाप के साथ पुण्य प्रकृतिए भी बधती है, परन्तु उनकी मात्रा नगण्य-सी होती है। इसलिए उनका वहा कोई मूल्य नही रहता है। दूसरी बात यह है कि पुण्य से शुभ एव पाप से अशुभ कर्मो का जो बन्ध कहा गया है, वह प्रदेश बन्ध की दृष्टि से नहीं, प्रत्युत अनुभाव (रस) बन्ध की दृष्टि से कहा गया है। अत पुण्य के साथ कुछ पाप की एव पाप के साथ कुछ पुण्य की प्रकृतिया का प्रदेश बन्ध होता है, फिर भी जो अनुभाव (रस) का बन्ध होता है, वह पुण्य का शुभ एव पाप का अशुभ ही होता है और फल भी अनुभाव के अनुसार मिलता है। अस्तु "शुभ पुण्यस्य" तथा "अशुभ पापस्य" का कथन असगत नही है।

पाप कर्म मानव को सदा गिराने वाला है। उससे आत्मा भारी बन कर नीचे की ओर ही गति करती है। वह उसे कभी ऊपर नही उठने देता है। उसको सदा नरक, तिर्यञ्च आदि गतियो मे भ्रमण कराता रहता है। अत. पाप एकात त्याज्य है। किसी भी तरह से वह आचरणीय नही है।

आस्रव तत्त्व

जिस मार्ग से कर्म आते है, उसे आस्रव कहते है। आगम मे ऐसे पाच आस्रवो का उल्लेख मिलता है— १ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग। आत्मा के जिन भावो–विचारो से कर्मो का आगमन होता है, उन परिणामो को भावास्रव कहते हैं और कर्म पुद्गलो के आगमन को द्रव्य-आस्रव कहते है। जबकि मिथ्यात्व आदि

परिणामो (विचारो) को भाव-वन्ध भी कहा है। ‡ फिर इसे भावास्रव कैसे कहा गया है? इसे यो समझना चाहिए कि प्रथम क्षणभावी परिणाम कर्मो को खीचने की कारणभूत योग प्रवृत्ति मे सहायक होते हैं, अत उन्हे भावास्रव कहते है और अग्रिमक्षणभावी परिणाम बन्ध मे कारण होने से उन्हे भाव वन्ध कहा है। क्योकि भावास्रव या परिणाम जितने तीव्र, मन्द और मध्यम होते है, तद्रूप ही कर्म आते है और आत्म प्रदेशो के साथ उनका वन्ध होता है।

आस्रव का दूसरा नाम योग भी है। आस्रव के पाच भेदो मे योग का भी उल्लेख मिलता है। योग तीन माने गए हैं— १ मन, २ वचन, और ३शरीर। मिथ्यात्वादि सभी प्रवृत्तियो के साधन मानसिक,वाचिक और कायिक योग ही है। इन्ही के द्वारा प्रत्येक आत्मा सोचता- विचारता, वोलता एव कर्म करता है। अत योग आस्रव का मुख्य कारण होने से आस्रव को योग भी कहते है।

आस्रव शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप कहते हैं। इन दोनो को आस्रव के अन्तर्गत गिनने से सात तत्त्व होते हैं और अलग गणना करने से तत्त्वो की सख्या नव वनती है। आगम परम्परा मे नव तत्त्व माने गए हैं और तत्त्वार्थ सूत्र मे सात तत्त्वो का उल्लेख मिलता है। परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनो परम्पराओ मे कोई मतभेद नही है। मात्र सख्या गिनने की प्रक्रिया मे ही अन्तर है।

आस्रव भी एकान्त रूप से त्याज्य नही है। शुभास्रव साधक अवस्था मे उपादेय है और सिद्ध अवस्था मे त्यागने योग्य है पर अशुभ आस्रव एकान्तत त्यागने योग्य है।

‡ परिणामे वन्ध।

संवर तत्त्व

सवर शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु से बना है। 'वृ' का अर्थ रोकना या अटकाना होता है। इस तरह सवर का अर्थ होता है अच्छी तरह से या भली-भाति रोकना। वह भी पाच प्रकार का है— १ सम्यक्त्व, २ व्रत-प्रत्याख्यान, ३ अप्रमाद, ४ कषाय और ५ योगो का गोपन। आत्मा के जिन शुद्ध, निर्मल एव पावन-पवित्र परिणामो से कर्मो का आना रुकता है, उन परिणामो को भाव सवर कहते हैं और उस विचार परणति से जो आते हुए कर्म रुक जाते हैं, उन्हे द्रव्य सवर कहते हैं। अस्तु आत्मा के जिस उज्ज्वल-समुज्ज्वल भावना से कर्मो के आने का रास्ता वद होता है या आते हुए कर्म रुकते हैं, उस भावना एव प्रक्रिया को सवर कहते हैं।

आध्यात्मिक जीवन मे सवर को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। जीवन का मूल लक्ष्य सर्व कर्म वन्ध से मुक्त होना है और इस कार्य मे आत्मा तव तक सफल नही हो सकती, जव तक वह कर्म के आगमन को नही रोक देती है। क्योकि कर्मो का आना जारी रहेगा तो वह कर्म वधन से कभी भी मुक्त नही हो सकती, भले ही वह कितनी ही लम्बी तपश्चर्या क्यो न करती रहे। तपस्या से वह पूर्व वन्धे कर्मो का क्षय करेगी, परन्तु वर्तमान एव अनागत मे आने वाले कर्मो के द्वार को उसने नही रोका है, तो वह पुराने कर्मो के स्थान मे नए कर्मो का वध करती रहेगी। इस तरह आत्मा कभी भी कर्म वधन मे छूट नही सकेगी। अत यह जरूरी है कि आत्मा सवर के द्वारा वर्तमान एव अनागत मे आने वाले कर्मो को रोके और निर्जरा के द्वारा पूर्व वधे कर्मो का क्षय करे, इससे वह निष्कर्म वन जाएगी और निष्कर्म वनना ही निर्वाण या मुक्ति को प्राप्त करना है। यही आत्मा का मूल उद्देश्य

है, जहा पहुच कर वह अनन्त सुख-शाति का अनुभव करती है। अतः आत्म शाति प्राप्त करने के लिए सवर अत्यावश्यक है। यह आत्मा की शुद्ध चेतना को प्रकट करने का साधन है।

बन्ध तत्त्व

आत्म प्रदेशो के साथ कर्मवर्गणा के पुद्गलो का सबध होने का नाम बध है। बन्ध का अर्थ मिलन या सयोग है। परन्तु यह टेवल और उस पर स्थित घडी का-सा सयोग नही है। यह एक ऐसा मिलन-मिश्रण है, जिससे द्रव्य मे एक तरह का रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से दोनो द्रव्यो मे कुछ विकृति आ जाती है। इस तरह का मेल होने पर दोनो द्रव्यों के निजी स्वरूप मे कुछ परिवर्तन या विकृति आ जाती है। इस तरह आत्म प्रदेशो के साथ कर्म का सयोग होने पर आत्मा केवल अपने स्वरूप मे नही रह पाती, उसमे कुछ विकृति आ जाती है। परन्तु इतना होने पर भी आत्मा एव पुद्गल दोनों अपने शुद्ध स्वरूप को खो नही वैठते है। अनन्त काल तक आत्मा एव कर्म का सबध रहने पर भी दोनो अपने अस्तित्व को कायम रखे रहते है। यह सत्य है कि दोनो मे विकृति आ जाती है, परन्तु फिर भी आत्मा अनात्म या पुद्गल रूप मे तथा पुद्गल आत्मा के रूप मे नही बदलते हैं। क्योकि आत्मा एव पुद्गलो का सबध ससार अवस्था मे अनन्त काल तक रहता है, कई अभव्य जीवो का अनन्त-अनन्त काल तक रहेगा अथवा यो कहिए वे कभी भी कर्म पुद्गलो के वन्धन से मुक्त नही हो सकेंगे, फिर भी वह सबध नित्य एव स्थिर नही है। प्रवाह की दृष्टि से भले ही हम कहदे कि भव्य जीव अनन्त काल तक और अभव्य जीव सदा कर्मों के साथ सबद्ध रहते हैं, परन्तु वास्तव मे देखा जाए तो इनका सबध अस्थायी ही है। क्योकि

पूर्व मे वधे कर्म वर्गणा के पुद्गल आत्म प्रदेशो से हटते रहते हैं और दूसरे नए कर्म पुद्गल आते रहते है । अस्तु कर्म पुद्गलो का आत्म प्रदेशो के साथ मिलन-मेलन एव विछुड़न साथ-साथ होता रहता है। इससे यह स्पष्ट हो गया है कि कर्मो का वन्ध स्थायी नही है । यदि वन्ध को स्थायी मान लिया जाए, तो फिर जीव कभी भी मुक्त नही हो सकेगा। अस्तु कर्म वध से आत्मा मे विकृति आती है, कभी-कभी वह अपने स्वरूप को भूल भी जाती है, परन्तु उसका निजी अस्तित्व कभी भी समाप्त नही होता, विकृति आने पर भी वह अनात्म अवस्था को कभी भी प्राप्त नही होती है।

कर्म वन्ध के कारण ही जीव ससार मे परिभ्रमण करता है और विविध गतियो एव योनियो मे अनेक तरह के सुख-दु ख का भी सवेदन करता है। जीवन के उत्कर्ष एव अपकर्ष मे कर्म का वहुत वडा हाथ है। जैन विचारको ने जीव के उत्थान एव पतन का मूल कारण कर्म को माना है और साथ मे यह भी माना है कि प्रत्येक आत्मा शुभ या अशुभ कर्म करने एव तोडने मे स्वतन्त्र है। आत्मा स्वय ही कर्म का कर्ता एव भोक्ता है तथा कर्म वन्धन तोड़ने वाला भी स्वय ही है। सारी ससार व्यवस्था कर्म पर ही आधारित है । जैन दार्शनिको (Jain Philosophers) ने कर्मवाद का वड़े विस्तार एव गहराई से विश्लेषण किया है। भारतीय - सस्कृति के अन्य विचारको ने भी कर्मवाद पर कुछ सोचा-विचारा है । हम यहा तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय-सस्कृति के सभी चिन्तको के कर्म सवधी चिन्तन-मनन पर विचार करेंगे।

कर्म विचार का मूल

वैदिक युग मे कर्मवाद पर जरा भी नही सोचा गया। इससे हम

यह तो नही कह सकते कि वैदिक ऋषियो को मनुष्य-मनुष्य मे तथा मनुष्य एव अन्य पशु-पक्षियो मे रहा हुआ अन्तर दिखाई ही न दिया हो। विभिन्न जीवो मे रहे हुए वैचित्र्य को उन्होने देखा अवश्य होगा, परन्तु इसके कारण को अन्तर आत्मा मे शोधने के बदले उन्होने बाहर मे ही शोधा हो और किसी भौतिक शक्ति या प्रजापति जैसे तत्त्व को मानकर सन्तोष किया हो ऐसा लगता है और इसी कारण उनकी दृष्टि कर्मवाद का प्रत्यक्षीकरण नही कर सकी हो। वेद युग से लेकर ब्राह्मण काल तक का सारा तत्त्वज्ञान बाह्य साधनो को बटोरने एव भौतिक शक्तियो को प्राप्त करने का साधन रहा है। और उक्त साधनो की प्राप्ति के लिए वे देवो एवं प्रजापति की स्तुति करने तथा उन्हे प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करने मे ही व्यस्त दिखाई देते है। अस्तु यह निसदेह कहा जा सकता है कि वैदिक युग मे आध्यात्मिक चिन्तन का उदय (प्रारभ) नही हो पाया था।

ब्राह्मण काल के बाद उपनिषदो का युग प्रारभ होता है। उपनिषद् वेद—ब्राह्मण ग्रन्थो का अतिम भाग होने से इन्हे भी वैदिक ही समझना चाहिए। वेदो मे तो कर्म पर कही विचार नही किया गया, परन्तु उपनिषदो मे अदृष्ट कर्म को माना गया है। वेदो के समय जो देवो एव प्रजापति को महत्त्व मिला था, उपनिषद् युग मे उसका स्थान यज्ञ ने ले लिया था। उपनिषदो के अनुसार कर्म का फल देने की शक्ति यज्ञ मे मौजूद है। इस तरह वैदिक परपरा मे कर्म पर चिन्तन पहले पहल उपनिषदो मे मिलता है। दार्शनिक एव ऐतिहासिक विद्वानो की यह मान्यता है कि वैदिक परपरा मे उपनिषदो से पहले कर्म पर विचार नही किया गया था। इस पर यह प्रश्न सहज ही उठता है कि उपनिषदो मे यह परपरा कहा से आई?

कुछ विद्वानो का कहना है कि वैदिको ने यह सिद्धात भारत के

आदिवासियो (Primitive people) से लिया हो। विद्वानो की इस मान्यता का खण्डन करते हुए प्रो० हिरियन्ना ने यह तर्क दिया है कि आदिवासियो की यह मान्यता कि आत्मा मर कर वनस्पति मे जन्म लेता है, निरा वहम (Superstition) है। इस कारण उनके इस विचार को कि मनुष्य मर कर वनस्पति ही होता है, दार्शनिक नही कह सकते हैं। अत. यह मानना उचित नही कहा जा सकता कि वैदिकों ने कर्मवाद का सिद्धान्त आदिवासियो से लिया था। ‡

जब हम जैनो के कर्मवाद का गहराई से अध्ययन करते है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्परा मे जो कर्मवाद की मान्यता आई है, उस पर जैन परम्परा का असर पड़ा है। भले हो जैन परंपरा का पहले श्रमण, निर्ग्रन्थ या अन्य कोई नाम रहा हो, परन्तु यह निश्चित है कि वैदिक परम्परा के पूर्व उसका अस्तित्व अवश्य था। कर्मवाद का पूरा इतिहास, जो हमारे सामने है, वह इस बात का साक्षी है कि वैदिक परम्परा मे मान्य कर्मवाद पर जैनो के चिन्तन का स्पष्ट असर परिलक्षित होता है।

वेद युग से लेकर उपनिषद् काल तक वैदिक ऋषियो की यह मान्यता रही है कि चेतन या जड़ किसी एक तत्त्व से सृष्टि का निर्माण हुआ है और वह अनादि नही, सादि है। परन्तु कर्मवाद के अनुसार सृष्टि सादि नही, अनादि है। जीव और जड़ दोनो अनादि काल से है और जीव (आत्मा) के साथ कर्म का संबंध भी अनादि काल से चला आ रहा है। उपनिषद् काल के बाद के वैदिक साहित्य मे भी सृष्टि

‡ Out lines of Indian-Philosophy (Hiriyanna) Page, 790.

को अनादि माना गया है और इस मान्यता के लिए भी वह कर्म सिद्धात की आभारी है, यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है। जैनागमो मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा जो वार-वार जन्म-मरण करती है, उसका मूल कारण कर्म है और वे आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए है। अत जब तक कर्म का संवध चालू है, तव तक आत्मा की मुक्ति होना असभव है। इस तरह ससार को अनादि मानने का सिद्धांत प्राय सभी वैदिक दर्शनो ने वाद मे स्वीकार किया है।

जैन परपरा ने सदा कर्मवाद को महत्त्व दिया है। इस परपरा मे देववाद को जरा भी महत्त्व नही दिया गया है। आत्मा के विकास एव पतन मे किसी भी वाह्य शक्ति का हाथ नही है। देव तो क्या ईश्वर भी न किसी का उत्थान कर सकता है और न किसी को पतन के महागर्त मे ही गिरा सकता है। यह सारी शक्ति आत्मा मे है। अत हमे कर्म सिद्धांत की जो विस्तृत एव गहरी व्याख्या जैन ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध होनी दुर्लभ है। एक जीव के आध्यात्मिक विकास के प्रारभ से लेकर अन्त तक के सौपान तथा इसी तरह पतन के मार्ग मे कर्म किस तरह कार्य करता है और इस दृष्टि से कर्म का कितना वैचित्र्य है, इसका विशद विवेचन जैन परम्परा के सिवाय अन्यत्र नही मिलता है। अत विद्वानो एव दार्शनिको ने इस वात को निसदेह माना है कि कर्मवाद की मान्यता का मूल स्रोत (Source) जैन परम्परा मे उपलब्ध होता है। और पीछे की सभी वैदिक परम्पराओ पर जैन कर्म सिद्धात का ही असर है।

कालवाद

कर्म के स्वरूप का वर्णन करने के पहले इस बात पर विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा कि उस समय के विचारको ने कर्म के स्थान

मे किसके अस्तित्व को स्वीकार किया था ।

वैदिक ऋषियो के मन मे इस बात का विचार तो उठा ही था कि इस सृष्टि का कोई कारण होना चाहिए। परन्तु इसका कारण क्या है ऋगवेद मे इसका कोई उल्लेख नही मिलता है। श्वेताश्वतर मे इसका उल्लेख मिलता है और वहां पर काल, स्वभाव, यदृच्छा, नियति, भूत और पुरुष इत्यादि वादो को गिनाया गया है। इस तरह विचारक सृष्टि मे उपरोक्त कारणो मे से किसी एक-एक कारण को सृष्टि का निमित कारण मानते रहे हैं। इनमे कालवादी सब से पुरातन प्रतीत होता है। उसकी मान्यता है–

काल ने ही पृथ्वी को उत्पन्न किया है। काल के कारण ही सूर्य तपता है और सारे भूत उसी के आधार पर स्थित है। काल के कारण ही वृक्ष फलते-फूलते है, धान पकता है, वर्षा होती है या एक शब्द मे कहे तो दुनिया के सारे कार्य काल का निमित पाकर ही पूरे होते हैं। अत काल ईश्वर है,प्रजापति का भी पिता है। महाभारत मे तो सुख-दु ख, जीवन-मरण इन सबका आधार तथा विश्व वैचित्र्य का कारण काल को ही माना है। * काल के महत्व को नैयायिक दर्शन ने भी माना है। उसने ईश्वर आदि कारणो के साथ काल को भी सृष्टि का निमित कारण माना है। ‡ इस तरह कुछ विचारको की यह मान्यता रही है कि सृष्टि के सभी कार्य काल की परिपक्वता पर आधारित है।

स्वभाव

कुछ विचारको का कहना है, सृष्टि के सभी कार्य स्वभाव से होते

* महाभारत, शान्तिपर्व ३३, २३।

‡ जन्याना जनक कालो जगतायाश्रयो मत ।

— न्यायसिद्धात मुक्तावली ; ४५।

है। ईश्वर या कर्म जैसी कोई वस्तु नही है। बुद्ध चरित्र मे कहा गया है कि जगत का वैचित्र्य स्वभाव से ही है । जैसे—काटे को कौन तीक्ष्ण करता है? पशु-पक्षियो मे इतना वैचित्र्य क्यो है ? इन सब प्रश्नो का एक ही उत्तर दिया गया है कि स्वभाव से। गीता और महाभारत मे भी स्वभाववाद का उल्लेख मिलता है। इनके मत से पदार्थो का स्वभाव ही ऐसा है कि वे अपने-अपने रूप मे परिणत हो जाते हैं। स्वभाव वादियो का यह श्लोक सर्वत्र प्रसिद्ध है—

"नित्य सत्त्वा भवन्त्यन्ये नित्यासत्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः ॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः ।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितः ॥"

यदृच्छावाद

यदृच्छा शब्द का अर्थ अकस्मात् होता है। इस मत के मानने वालो का कहना हैं कि सृष्टि के निर्माण मे कोई कारण नही है। बिना किसी नियत कारण के ही अकस्मात् कार्य निष्पन्न हो गया। कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं। परन्तु ऐसा नही है, क्योकि स्वभाववादी सृष्टि के निर्माण मे स्वभाव को कारण मानते हैं, परन्तु यदृच्छवादी उसके पीछे कोई कारण नही मानते है।

नियतिवाद

नियतिवादी लोक-परलोक मानते थे। परन्तु वे किसी भी कार्य को कर्म के आधार पर नही मानते थे। उनका यह कहना था कि जैसा होना निश्चित है वैसा ही होगा, उसके लिए किसी तरह का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नही है । इस मत का उल्लेख बौद्ध पिटको एव

जैन आगमो में विस्तार से मिलता है। बौद्ध ग्रन्थो मे पूरण काश्यप और मखली गौशालक के मतो का उल्लेख है। जैनागमो मे पहले मत को अक्रियावाद और दूसरे को नियतिवाद बताया है। दोनो नामो मे अन्तर है, परन्तु मान्यता मे काफी साम्य है। बौद्ध ग्रन्थो मे गौशालक की मान्यता का उल्लेख इस प्रकार किया है— "प्राणियो की पवित्रता और अपवित्रता का न कोई कारण है और न हेतु ही। अपने पुरुषार्थ से कुछ नही होता है। किसी कार्य के होने मे पुरुप का कोई पराक्रम, बल, वीर्य, शक्ति आदि निमित नही है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी जीव निर्बल हैं, वीर्य रहित हे। वे सब नियति—भाग्य, जाति वैशिष्टय और स्वभाव से बदलते हैं। ८४ लाख महाकल्प का भ्रमण करने के बाद अच्छे और बुरे दोनो तरह के प्राणियो के दुःखों का नाश हो जाता है। कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि शील, व्रत, तप और ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व बना लूगा तथा परिपक्व कर्मों को भोग कर शून्यवत् कर दूगा तो ऐसा होने का नही है। §

पूरण काश्यप का कहना है कि किसी ने कोई कार्य किया है, करवाया है, किसी को किसी ने काटा है, कटवाया है, किसी को त्रास-दुःख दिया है, दिलवाया है, इसी तरह प्राणियो का वध, चोरी, व्यभिचार आदि पाप कार्य किए हैं, या करवाये है तो उस करने या करवाने वाले व्यक्ति को पाप नही लगता है। तीक्ष्ण चाकू या तलवार ले कर कोई व्यक्ति पृथ्वी पर मांस का ढेर लगा दे, तब भी उसे जरा भी पाप नही लगेगा। गंगा नदी के दक्षिण किनारे जा कर कोई मार-काट करे या अन्य दुष्कर्म करे, तो उसे जरा भी पाप नही लगता है और गगा के उत्तरी तट पर जाकर कोई दान देवे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो उसे जरा भी पुण्य नही होता है। दान, धर्म, सयम, सत्य,

§ बुद्ध चरित (धर्मानन्द कौशाम्बी) पृ १८१।

त्याग आदि कार्य करने से जरा भी पुण्य नही होता है। § अक्रिया-वादियो के मत का इसी तरह का वर्णन जैनागमों मे भी मिलता है। §

गोशालक एव काश्यप का मत एक दूसरे के काफी निकट है। दोनो कर्मवाद को अस्वीकार करते हैं। दोनो की मान्यता है कि आत्मा पुण्य-पाप कुछ नही करता है। न व्यभिचार करना पाप है और न दान, शील, तप आदि सत्कार्य करना धर्म है। जो कुछ होना है वही होता है, किसी तरह का पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नही है। दोनो की समान मान्यता के कारण ही काश्यप के शिष्य उसकी मृत्यु के वाद गोशालक के मत मे मिल गए थे।

अज्ञानवाद

इस मत का प्रवर्तक सजय वेलट्ठीपुत्र था। यह न नास्तिक था और न इसे आस्तिक ही कहा जा सकता है। इसे हम तर्कवादी कह सकते हैं। इसने परलोक, नरक, स्वर्ग, कर्म, निर्वाण जैसे अदृश्य पदार्थों के सबध मे स्पष्ट शब्दो मे कहा कि इनके लिए न निषेध की भाषा मे कहा जा सकता है और न स्वीकार की भाषा मे तथा न उभय रूप से कहा जा सकता हैं और न अनुभव रूप से। ‡

भगवान महावीर ने स्याद्वाद के द्वारा वस्तु के अनेक रूप युक्त होने को सिद्ध कर दिया है। परन्तु जव मनुष्य के मन मे सशय होता

§ बुद्ध चरित्र (कौशावी) पृ १७०।

§ कुव्व च कारय चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एव अकारओ अप्पा, एव ते उ पगब्भिआ।
—सूत्र कृताग १, १, १, १३.

‡ बुद्ध चरित्र (कौशावी) पृ. १७८।

है और उसे ठीक समाधान नही मिलता या वह दूसरे के द्वारा स्वीकृत सत्य-तथ्य को स्वीकार करने को तैयार नही होता है, तब अज्ञानवाद की ओर झुकता है। इसलिए सूत्रकृताग सूत्र मे यह कहा गया है कि अज्ञानवादी तर्क करने मे कुशल-प्रवीण होते हैं, परन्तु उनके बोलने का ढग असबद्ध होता है । वह स्वय सशय रहित नही हुए अथवा उन्हे अपनी मान्यता पर भी सदेह रहा हुआ है। वे स्वय अज्ञानी हैं और भोले-भाले लोगो मे अज्ञान फैलाते हैं, उन्हे गलत ढग से समझाते हैं।

जैनों का समन्वयवाद

जैनो ने भी काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ आदि को माना है। परन्तु किसी कार्य के होने मे किसी एक को ही नही माना है। उन्होने इन पाचो के समन्वय को माना है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि इन पांचो कारणो मे से किसी एक कारण को स्वीकार करना और शेष कारणो का तिरस्कार करना मिथ्यात्व है और कार्य की निष्पत्ति मे पाचो का समन्वय मानना सम्यक् धारणा है।* आचार्य हरिभद्र सूरी ने भी यही बात कही है। § इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनो ने केवल कर्म या पुरुपार्थ को ही नही माना है। उन्होने मुख्य-गौण भाव से पाचो कारणो को स्वीकार किया है।

कर्म का स्वरूप

साधारणत कर्म का शाब्दिक अर्थ क्रिया होता है । वेदों से लेकर ब्राह्मण काल तक के वैदिक-ग्रन्थो मे इसी अर्थ को माना गया है

* कालो सहाव णियइ पुव्वकम्म पुरिसकारणेगता।
मिच्छत्त त चेव उ समासओ हुंति सम्मतं ॥

—षष्ठ द्वात्रिंसिका

§ शास्त्रवार्ता समुच्चय, २, ७९—८०

और यज्ञ-याग आदि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओ को कर्म कहा गया है। जैनो ने भी कर्म का अर्थ क्रिया माना है, परन्तु उन्होने केवल इसी अर्थ को ही नही स्वीकार किया। ससारी जीव की प्रत्येक क्रिया तो प्रवृत्ति है ही, परन्तु उस क्रिया के पीछे स्थित जो परिणामो—विचारो का प्रवाह है, उससे पुद्गल द्रव्य आत्मा के साथ सवद्ध हो जाते है, इस वन्धन को भी जैन परिभापा मे कर्म कहते है। इस तरह कर्म दो प्रकार के है— १ द्रव्य कर्म और २ भावकर्म।

आत्मा की क्रिया अर्थात् परिणाम की धारा यह भावकर्म है और उस क्रिया से आवद्ध होने वाले पुद्गल द्रव्य कर्म है। क्योकि परिणामो द्वारा संग्रहित कर्म जीव को कार्य मे प्रवृत्त करते है, अत आत्मा के साथ सवद्ध होने वाले पुद्गलो को भी कर्म कहते हैं। क्रिया और कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव सवध है और यह सवध कबूतरी और उसके अडे के समान अनादि है। परन्तु इनका अनादि सवध सन्तति की अपेक्षा से। भाव क्रिया से द्रव्य कर्म उत्पन्न होता है। इसलिए भाव क्रिया कारण और द्रव्य कर्म उसका कार्य है। परन्तु यदि द्रव्य कर्म का अभाव हो तो फिर भाव क्रिया की निष्पति भी नही हो सकती, जैसे सिद्धावस्था मे द्रव्य कर्म नही है तो वहां भाव क्रिया भी उत्पन्न नही होती अथवा दोनो का अभाव होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव क्रिया की उत्पत्ति मे द्रव्य कर्म कारण है।

यह प्रश्न हो सकता है कि भाव कर्म ससारिक आत्मा की प्रवृत्ति या क्रिया है, तो वह कौन-सी क्रिया या प्रवृत्ति है, जिससे द्रव्य कर्म का वन्ध होता है? क्रोध, मान, माया और लोभ, जिन्हे जैन परिभाषा मे कपाय कहते है। आत्मा के ये वैभाविक परिणाम या मनोविकार ही भावकर्म है अथवा आत्मा मे राग-द्वेष और मोह की जो परिणति

होती है, उसे भी भाव कर्म कहते हैं। राग-द्वेष-मोह या कषायो की प्रवृत्ति का आविर्भाव मन, वचन और योग के द्वारा होता है। इसलिए कषाय और योग को द्रव्य कर्म वन्ध का कारण माना है। योग और कषाय की प्रवृत्ति एक रूप दिखाई देती है, फिर भी ये दोनो भिन्न है। कषाय और योग का सबध रंग और वस्त्र के सबध जैसा है। बिना रंग का सफेद वस्त्र एक रूप होता है, परन्तु रग चढने के बाद उसमे एक रूपता नही रह पाती है। हल्के और गहरे रग का भेद खड़ा हो जाता है। इसी तरह कषाय रहित मन, वचन और काया के योग की प्रवृत्ति सफेद वस्त्र की तरह एक रूप है, उससे कर्म वन्ध नही होता, सिर्फ कर्म वर्गणा के पुद्गल आते हैं और तुरन्त झड जाते हैं, वे आत्मा के साथ सवद्ध नही हो पाते हैं। और कषाय युक्त योग रगीन वस्त्र की तरह है, उसमे एक रूपता नही रहती है। उसकी तीव्रता और मन्दता के अनुरूप द्रव्य कर्म का तीव्र या मन्द वन्ध होता है।

नैयायिक-वैशेषिक और जैन

नैयायिक दर्शन ने भी राग, द्वेष और मोह को दोष माना है।§ इन दोषो से प्रेरित हो कर जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति होती है, उससे धर्म-अधर्म सस्कार की उत्पत्ति होती है और यह आत्मा का गुण है। नैयायिक गुण को गुणी से भिन्न मानते हैं और वे गुण को आत्मा की तरह चेतन नही मानते हैं। यह हम देख चुके हैं कि जैन भी राग-द्वेष और मोह को कर्म वन्ध का कारण मानते है और नैयायिक भी। जैन जिसे भाव कर्म कहते है, नैयायिक उसको दोष कहते है। जैन जिस क्रिया को योग कहते है, नैयायिक उसे दोषजन्य प्रवृत्ति के नाम से पुकारते हैं। जैन परिभाषा मे जिसे कर्म कहते है,

§ न्याय सूत्र ४, १, ३-४, १, १, १७।

नैयायिको ने उसका नाम संस्कार रखा है। द्रव्य कर्म को जैन भी जड़ मानते हैं और नैयायिक भी सस्कार को जड स्वीकार करते हैं। दोनों की सैद्धातिक मान्यताओं में अन्तर इतना ही है—नैयायिक सस्कार को आत्मा का गुण मानते हैं और जैन द्रव्य कर्म को आत्मा से भिन्न पुद्गल मानते है। जरा गहराई से सोचे तो सस्कार भी दोषजन्य प्रवृत्ति से पैदा होते है और द्रव्य कर्म भी भाव कर्म अर्थात् कषाय और योग से उत्पन्न होते हैं। जब हम यह कहते है कि द्रव्य कर्म कषाय और योग से उत्पन्न होते हैं, तो इसका यह तात्पर्य नही है कि कपाय और योग (द्रव्य कर्म) पुद्गलो को उत्पन्न करता है। पुद्गल तो पहले से ही विद्यमान है। आत्मा के कषाय युक्त-परिणामो का पुद्गलो पर ऐसा सस्कार पडता है कि वे पुद्गल कर्म वर्गणा के रूप को प्राप्त हो कर आत्मा के साथ सवद्ध हो जाते हैं।

जैन विचारको ने स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर भी माना है। जैन परिभाषा मे उसे कार्मण शरीर कहते हैं। कार्मण शरीर से स्थूल शरीर की निष्पत्ति होती है। यह कार्मण-शरीर एक गति से दूसरी गति मे जाते समय भी जीव के साथ रहता है। नैयायिको ने भी स्थूल शरीर के साथ एक अव्यक्त शरीर माना है और उसे अतीन्द्रिय स्वीकार किया हैं। § जैनो ने भी इसे अतीन्द्रिय कहा है।

इस तरह कर्म सिद्धात की मान्यता मे नैयायिक दर्शन जैनो के काफी निकट है। वैशेषिक दर्शन की मान्यता नैयायिक दर्शन की तरह ही है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक दर्शन ने धर्म-अधर्म रूप सस्कार को अदृष्ट नाम दिया है। सिर्फ नाम का अन्तर है, सिद्धात का नही। क्योकि वैशेषिक दर्शन भी नैयायिक दर्शन की तरह अदृष्ट को

§ न्यायवार्तिक ३, २, ६८।

आत्मा का गुण मानता है। § और उभय दर्शन की यह मान्यता है कि दोष से संस्कार और जन्म होता है और जन्म से दोष उत्पन्न होता है। इस तरह दोनो का अनादि सबंध है। जैन भी द्रव्य कर्म और भाव कर्म का सन्तति या प्रवाह-रूप से अनादि सबंध मानते हैं।

योग दर्शन और जैन

योग दर्शन पाच क्लेश मानता है— १ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष, और ५ अभिनिवेश। उक्त क्लेश से क्लिष्टवृत्ति—चित्त व्यापार उद्‌बुद्ध होता है और उससे धर्म अधर्म रूप सस्कार अवतरित होते हैं। क्लेश को भाव कर्म, क्लिष्ट वृत्ति को योग और सस्कार को द्रव्य कर्म के स्थान पर रख सकते हैं। योग दर्शन मे भी इनके कार्य-कारण भाव को अनादि माना है।

इस तरह जैन दर्शन और योग दर्शन की मान्यता मे बहुत-कुछ साम्य है। दोनो सिद्धातो मे कुछ अन्तर भी है, वह इस प्रकार है—योग दर्शन क्लेश, क्लिष्टवृत्ति और संस्कार का सबंध आत्मा के साथ नही मान कर चित्त वृत्ति के साथ मानता है और यह चित्तवृत्ति—अन्त करण,प्रकृत्ति का विकार है। और जैन दर्शन भी कषाय या राग, द्वेष और मोह— भाव कर्म को विकार मानता है और द्रव्य कर्म को भी विकृति का परिणाम मानता है, परन्तु उसका आत्मा के साथ सबंध होना भी स्वीकार करता है। इन विकृत परिणामो के कारण ही आत्मा ससार में परिभ्रमण करती है। यदि उनका आत्मा के साथ सर्वथा सबंध ही नही होता है, तो फिर उसके ससार भ्रमण का कोई कारण नही रह जाता है। जैसे मिट्टी का वही पिंड घूमता है, जिसका कुभकार की चाक के साथ संबध हुआ है, परन्तु वह मृतिका पिंड कभी

§ प्रशस्तपाद भाष्य पृ ४७।

नही घूमता है, जिसका चाक के साथ संवध जुडा हुआ नही है। इसी तरह जिस आत्मा के साथ द्रव्य और भाव कर्म का सवंध नही होता है, वह आत्मा कभी भी संसार में नही घूमती, जैसे मुक्त–सिद्ध जीव। लेकिन ससारी आत्मा ससार मे परिभ्रमण करती है, अत ऐसा मानना चाहिए कि द्रव्य और भाव कर्म का या कषाय, योग और कर्म पुद्गलो का आत्मा के साथ सवंध होता है।

सांख्य और जैन

जैन और साख्य दर्शन की मान्यता मे सबसे बड़ा मतभेद यह है कि साख्य पुरुप–आत्म को कूटस्थ नित्य मानता है। इसलिए उसकी मान्यतानुसार पुरुष मे कोई परिवर्तन नही होता है। वन्ध और मोक्ष भी पुरुप का नही, प्रकृति का होता है। शुभ-अशुभ कर्म का कर्ता भी पुरुप नही, प्रकृति है। जबकि जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है अथवा आत्म पर्यायो मे भी परिवर्तन होता है। आत्मा का कर्म के साथ संवध होता है और वह कर्म वन्ध से मुक्त भी हो सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा का वन्ध और मोक्ष होता है।

इतना अतर होते हुए भी दोनो दर्शनो की मान्यता मे साम्य भी है। पुरुप और प्रकृति की वात छोड दे तो कर्म वन्ध की जो प्रक्रिया है, वह जैन और साख्य की प्राय एक-सी है। जैन दर्शन मे राग, द्वेप, मोह आदि भावो के कारण पौद्गलिक कार्मण शरीर का आत्मा के साथ अनादि काल से संवध माना गया है। यह कार्य-कारण भाव सवंध बीजांकुर की तरह है। इसमे यह नही कह सकते कि पहले कौन है और पीछे कौन है। इस तरह सांख्य दर्शन मे भी लिंग शरीर का पुरुष के साथ अनादि काल से सवध माना है। और यह लिंग शरीर मोह, राग-द्वेप जैसे विकारी भावो से उत्पन्न हुआ है और इसका कार्य-कारण

भाव सबध भी बीजाकुर की तरह है। ‡ जैन जिस तरह औदारिक शरीर और कार्मण-सूक्ष्म शरीर को पृथक मानते हैं, उसी तरह साख्य भी लिंग शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते है। जैन सूक्ष्म और स्थूल दोनो शरीरो को पौद्गलिक मानते हैं। सांख्य ने भी दोनों को प्राकृतिक ही माना है। जैनो ने दोनो शरीरो को पुद्गल का विकार माना है, फिर भी दोनो शरीर वर्गणा के पुद्गलो को भिन्न-भिन्न माना है। सांख्य ने भी एक को तन्मात्रिक और दूसरे को माता-पिता से जन्य माना है। जैन मानते हैं कि मृत्यु के समय औदारिक आदि स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु ससारावस्था मे कार्मण शरीर जीव के साथ सदा रहता है। उसी कार्मण शरीर के माध्यम से ही जीव अपने गन्तव्य स्थान तक पहुचता है। साख्य भी ऐसा ही मानते हैं कि मृत्यु के समय स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु लिंग शरीर स्थित रहता है और एक स्थान से दूसरे स्थान मे गति करते समय साथ रहता है। दोनो की मान्यता है कि नए जन्म के समय जीव नए औदारिक(स्थूल) शरीर को ग्रहण करता है। दोनो दर्शन इस बात मे एकमत हैं कि मुक्ति के समय कार्मण या लिंग शरीर भी छूट जाता है, मुक्त अवस्था मे सिर्फ विशुद्ध चैतन्य ही रहता है। जैन मानते हैं कि कार्मण शरीर की गति मे कोई प्रतिघात नही होता। सांख्य भी मानते हैं कि लिग शरीर अव्याहत गति करता है। जैन कार्मण शरीर को उपयोग रहित मानते हैं और साख्य दर्शन भी लिंग शरीर को निरुपयोग मानता है।

जबकि साख्य रागादि भावो को, लिंग शरीर को और अन्य भौतिक पदार्थो को प्रकृति का विकार मानता है, फिर भी सांख्य इन मे जातिगत भेद स्वीकार करते हैं। जैनों की भी यह मान्यता है कि

‡ साख्य कारिक (माठर वृत्ति) ५२।

जीव मे जो रागादि भाव हैं, वे पुद्‌गल कृत हैं और कार्मण शरीर भी पुद्‌गल कृत है, फिर भी दोनो मे मौलिक भेद है । रागादि भावो का उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण पुद्‌गल है, तो कार्मण शरीर का उपादान कारण पुद्‌गल और निमित्त कारण आत्मा है। सांख्य का कहना है कि प्रकृति जड होने पर भी पुरुष के ससर्ग से चेतन की तरह प्रवृत्त होती है । जैन भी पुद्‌गल को जड़ मानते हुए ऐसा कहते हैं कि जब पुद्‌गल आत्मा से सबद्ध होकर कर्म रूप बन जाता है, तब वह चेतन की तरह कार्य करने लगता है । जैन ससारी-आत्मा और शरीर, कर्म आदि जड पदार्थों का सबध क्षीर-नीर वत् मानते हैं। सांख्य भी पुरुष और शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि का सबध क्षीर-नीर वत् स्वीकार करते है । दोनो दर्शन कर्म बन्ध या फल भोग मे ईश्वर जैसी किसी शक्ति का माध्यम नही मानते है । अस्तु साख्य दर्शन भी कर्म बन्ध की प्रक्रिया जैनों की तरह ही मानता है।

बौद्ध दर्शन

बौद्धो ने भी जीवो की विचित्रता कर्म कृत मानी है। वे कर्म की उत्पत्ति मे लोभ (राग), द्वेष और मोह को कारण मानते हैं । राग, द्वेष और मोह युक्त होकर जीव—सत्व मन, वचन और काया की प्रवृत्ति करता है और उससे फिर राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होता है। इस तरह ससार चक्र चलता है और इस प्रक्रिया को अनादि माना है । विसुद्धिमग्ग में नागसेन ने कर्म को अरूपी कहा है। बौद्ध परिभाषा मे उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा है। मानसिक क्रियाजन्य सस्कार—कर्म को वासना और वचन एवं काया जन्य सस्कार को अविज्ञप्ति कहा गया है। बौद्धो ने जो कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व तथा कर्म को अनादि माना है, वह सन्तति की अपेक्षा से माना है।

मीमांसक दर्शन

मीमांसक दर्शन एक अपूर्व नाम के पदार्थ को स्वीकार करता है। उसका कहना है कि मनुष्य जो अनुष्ठान करता है, वह क्रिया रूप होने से क्षणिक—अनित्य है। इससे उस अनुष्ठान से एक अपूर्व नाम का पदार्थ उत्पन्न होता है, जो अनुष्ठान—यज्ञ-यागादि क्रिया का फल देता है। कुमारिल ने अपूर्व नाम की व्याख्या करते हुए कहा है— अपूर्व अर्थात् योग्यता। आचार्य शंकर ने अपूर्व का खण्डन किया है और कहा है कि कर्म के अनुसार ईश्वर फल प्रदान करता है। और उसने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है कि कर्म से फल नही मिलता, परन्तु ईश्वर ही फल देता है। *

कर्म बन्ध के कारणो की इतनी विस्तृत व्याख्या का निष्कर्ष यह रहा है कि सभी दार्शनिक राग-द्वेष-मोह को कर्म बन्ध का कारण मानते हैं। जैन जिसे द्रव्य कर्म कहते है, अन्य दार्शनिक उसे कर्म कहते हैं और उसी के ही संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, अपूर्व पदार्थ आदि नाम रखे हैं। यह कर्म पुद्गल द्रव्य है, गुण है, धर्म है या अन्य कोई स्वतन्त्र द्रव्य, इस विषय मे सभी दार्शनिको मे थोडा-बहुत मतभेद है, जिसे हमने देखा है। अब हम द्रव्य कर्म के भेदो पर विचार करेंगे।

कर्म के भेद

कर्म के भेद की मान्यता में सभी विचारक एक मत नहीं है। फिर भी पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ इस तरह कर्म के दो रूप तो सभी दार्शनिको ने माने हैं। जिस कर्म का फल अनुकूल या सुख रूप प्रतीत होता है, उसे पुण्य और जिसका फल प्रतिकूल या दु.ख रूप प्रतीत होता है उसे पाप माना है। उपनिषद्, जैन,

* ब्रह्म सूत्र (शांकरभाष्य), ३, २, ३८—४१.

साख्य, वौद्ध, योग, न्याय-वैशेपिक आदि सभी दर्शनो ने यही परि-भापा स्वीकार की है। और सभी दार्शनिको ने पुण्य हो या पाप दोनो से छुटकारा पाना ही आत्मा का लक्ष्य माना है । इसलिए पुण्य कर्म जन्य अनुकूल वेदना को भी ज्ञानी पुरुपो ने सुख रूप नही, वल्कि नि-श्चय दृष्टि से दु ख रूप ही माना है। तात्पर्य यह है कि कर्म जन्य सुख सुख नही, दु ख ही है, क्योकि उसके पीछे जन्म-मरण का दु ख लगा हुआ है।

पुण्य और पाप— कर्म के इन दो भेदो को सभी विचारको ने माना है। कर्म की शुभ और अशुभ दृष्टि को सामने रख कर वौद्ध § और योग दर्शन ‡ के ग्रन्थो मे चार भेद किए हैं, शुक्ल, कृष्ण, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्लाकृष्ण। पुण्य को शुक्ल, पाप को कृष्ण, पुण्य-पाप युक्त कर्म को शुक्ल-कृष्ण और पुण्य-पाप रहित कर्म को अशुक्लाकृष्ण कर्म कहते हैं। कर्म का चौथा भेद वीतराग पुरुपो मे पाया जाता है। उनमे राग-द्वेष का अभाव होने से वे पुण्य और पाप के सवेदन से सर्वथा रहित हैं।

इसके अतिरिक्त वौद्धो ने कृत्य, पाकदान, पाककाल की दृष्टि से प्रत्येक-के चार-चार भेद करके १२ भेद माने है। † और अभिधम्मत्थ-सग्रह मे पाकस्थान की अपेक्षा से ४ भेद और वढा दिए है। § योग दर्शन मे वौद्धो की तरह कर्मो की गणना तो नही की गई है, फिर भी उसमे इस पर विचार किया गया है । इतना होने पर भी कर्म के

§ दीघनिकाय, ३, १, २।

‡ पातञ्जल-योग दर्शन, ४, ७।

† विसुद्धिमग्ग १९, १४-१६।

§ अभिधम्मत्थ संग्रह, पृ. १९।

भेदोपभेदो का व्यवस्थित वर्णन जैसा जैन आगमो एवं कर्म ग्रन्थो में मिलता है, वैसा अन्य दर्शनो मे उपलब्ध नही होता है।

कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियां

जैन आगमो एव ग्रन्थो मे कर्म की मूल आठ प्रकृतिए मानी है— १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय। उक्त आठ कर्मो की अनेक उत्तर प्रकृतिए हैं और विभिन्न जीवो की अपेक्षा से आगमों मे कर्म का निरुपण किया गया है। और किस गति या दृष्टि के जीवो मे कितने कर्म—बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता इत्यादि मे रहते हैं, इसका भी विस्तृत विवेचन किया गया है। इन सबका यहा विस्तार से विवेचन न करके केवल कर्म की उत्तर प्रकृतिए गिना देते हैं।

१ ज्ञानावरणीय कर्म

यह कर्म ज्ञान को ढकने वाला है। इस कर्म के उदय से आत्मा स्व और पर स्वरूप को ठीक-ठीक नही जान पाता है। इस आवरण को पट्टी के समान माना है। आख पर जितने मोटे वस्त्र की पट्टी बधी हुई होगी, उतना ही कम दिखाई देगा। उसी तरह ज्ञानावरण का जितना गहरा आवरण होगा, आत्मा में उतना ही ज्ञान का विकास कम होगा। यह कर्म आत्मा मे स्थित ज्ञान को पूर्ण रूप से प्रच्छन्न नही करता है। आत्मा मे थोड़ा-बहुत ज्ञान तो हर स्थिति मे रहता ही है। क्योकि ज्ञान आत्मा का लक्षण है, अत. उसका सर्वथा लोप नही होता। जैनागमो मे ज्ञान ५ प्रकार का माना गया है— १ मतिज्ञान, २ श्रुतज्ञान, ३ अवधिज्ञान, ४ मन.पर्यवज्ञान और ५ केवलज्ञान। अत. ज्ञानावरण कर्म भी उक्त ५ प्रकार है; यथा मतिज्ञानावरण आदि।

२ दर्शनावरणीय कर्म

आत्मा के दर्शन गुण को आवृत्त करने वाले कर्म को दर्शनावरण कर्म कहते हैं। इसे राजा के द्वारपाल की उपमा दी गई है । द्वारपाल चाहे तो किसी व्यक्ति को राजा के दर्शन करने से रोक भी सकता है। उसी तरह उक्त कर्म का उदय रहता है, तब आत्मा अपने स्वरूप का दर्शन नही कर पाता । दर्शनावरण कर्म भी आत्मा मे स्थित अनन्त दर्शन को सर्वथा आवृत्त नही करता है। दर्शन ४ प्रकार का है— १ चक्षुदर्शन, २ अचक्षुदर्शन, ३ अवधिदर्शन और ४ केवलदर्शन । दर्शनावरण कर्म के नव भेद किए हैं। वे इस प्रकार है— १ चक्षुदर्शनावरण, २ अचक्षुदर्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण, ४ केवलदर्शनावरण ५ निद्रा, ६ निद्रा-निद्रा, ७ प्रचला, ८ प्रचला-प्रचला और ९ स्त्यानर्द्धि निद्रा।

३ वेदनीय कर्म

इस कर्म के उदय से आत्मा मे सुख-दुःख का सवेदन होता है। इस कर्म को मधु से लिप्त तलवार की उपमा दी है। ससारिक सुख उक्त मधु के समान है, जो मधुर स्वाद की अनुभूति कराने के साथ जिह्वा को भी काट देता है। अथवा ससारिक सुखो के पीछे दुःख का अथाह सागर ठाठे मार रहा है। वेदना दो प्रकार की होती है— सुख रूप और दुःख रूप। इसलिए वेदनीय कर्म भी दो प्रकार का माना है— १ साता वेदनीय—सुख रूप और २ असाता वेदनीय—दुःख रूप।

४ मोहनीय कर्म

यह आत्मा के सम्यक् दर्शन और चारित्र अर्थात् आत्मा के मूल गुणो का अवरोधक है। इस कर्म को मद्य की उपमा दी गई है। जैसे मद्य का नशा कर लेने पर मनुष्य अपनी चेतना को खो बैठता है, उसी

तरह मोह कर्म के उदय से आत्मा अपने स्वरूप को समझ नहीं पाता है। मोह कर्म दो प्रकार का माना है— १ दर्शन मोह और २ चारित्र मोह। दर्शन मोह के तीन भेद माने हैं— १ सम्यक्त्व मोहनीय, २ सम-मिथ्यात्व मोहनीय और ३ मिथ्यात्व मोहनीय। २ चारित्र मोह के दो भेद हैं- १ कषाय और २ नोकषाय। कषाय १६ प्रकार का है— १ अनन्तानुबंधी कषाय, २ अप्रत्याख्यानी कषाय, ३ प्रत्याख्यानी कषाय, और ४ सज्वलन कषाय। प्रत्येक कषाय के १ क्रोध, २ मान, ३ माया और लोभ ये चार भेद होते हैं। नोकषाय के ९ भेद होते हैं— १ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ भय, ५ शोक, ६ दुगच्छा, ७ स्त्री वेद, ८ पुरुष वेद ९ नपुसक वेद। इस तरह दर्शन मोह के ३ और चारित्र मोह के २५, कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के २८ भेद होते हैं।

५ आयु कर्म

इस कर्म के उदय से आत्मा किसी एक गति के प्राप्त शरीर में रहता है। इस कर्म का क्षय होते ही वह उस शरीर को त्याग देता है, जिसे व्यवहार भाषा मे मृत्यु कहते हैं। इस कर्म का स्वभाव कारागार (जेल) के समान है। क्योंकि जेल मे कैदी के बन्धन का निश्चित समय होता है, उसी तरह आत्मा का एक गति मे प्राप्त स्थूल शरीर के साथ रहने का भी निश्चित समय होता है। ससार मे चार गतिये हैं- १ नरक २ तिर्यंच, ३ मनुष्य और ४ देव। इसलिए आयु कर्म भी चार प्रकार का माना है— १ नरक आयु, २ तिर्यंच आयु, ३ मनुष्य आयु और ४ देव आयु।

६ नाम कर्म

यह कर्म चित्रकार के तुल्य है। जैसे चित्रकार अनेक आकार-प्रकार के चित्र चित्रित करता है, उसी तरह नाम कर्म भी देव, नारक

मनुष्य, तिर्यञ्च आदि विभिन्न नामो की रचना करता है। नाम कर्म के कई भेद हैं। नाम कर्म के भेद चार अपेक्षाओ से किए जाते हैं। एक अपेक्षा से ४२, दूसरी अपेक्षा से ९३, तीसरी अपेक्षा से १०३ और चौथी अपेक्षा से ६७ भेद किए गए हैं।

४२ भेद— १ गति, २ जाति, ३ तनु–शरीर, ४ उपाग, ५ वन्धन, ६ सघातन, ७ सहनन, ८ सस्थान, ९ वर्ण, १० गन्ध, ११ रस, १२ स्पर्श, १३ आनुपूर्वी, और १४ विहायोगति ये चवदह पिड प्रकृतिया कहलाती हैं। १ पराघात नाम, २ उच्छ्वास नाम, ३ आतप नाम, ४ उद्योत नाम, ५ अगुरुलघु नाम, ६ तीर्थंकर नाम, ७ निर्माण नाम, ८ उपघात नाम, ये आठ प्रत्येक प्रकृतियां कही जाती हैं। १ त्रस नाम, २ वादर नाम, ३ पर्याप्त नाम, ४ प्रत्येक नाम, ५ स्थिर नाम, ६ शुभ नाम, ७ सुभग नाम, ८ सुस्वर नाम, ९ आदेय नाम और १० यश कीर्ति नाम, इन दस प्रकृतियो को त्रस दशक कहते हैं। १ स्थावर नाम, २ सूक्ष्म नाम, ३ अपर्याप्त नाम, ४ साधारण नाम, ५ अस्थिर नाम, ६ अशुभ नाम, ७ दुर्भग नाम, ८ दु स्वर नाम, ९ अनादेय नाम और १० अयश कीर्ति नाम। इन दस प्रकृतिया को स्थावर दशक कहते हैं। इस तरह नाम कर्म के १४+८+१०+१०=४२ भेद होते हैं।

९३ भेद— गति नाम कर्म के ४ भेद— १ नरक, २ तिर्यञ्च, ३ मनुष्य और ४ देव। जाति नाम कर्म के ५ भेद— १ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रय, ५ पचेन्द्रिय। शरीर नाम कर्म के ५ भेद— १ औदारिक, २ वैक्रिय, ३ आहारक, ४ तैजस और ५ कार्मण शरीर। उपाग नाम कर्म के ३ भेद— १ औदारिक अगोपाग नाम कर्म २ वैक्रिय अगोपांग नाम कर्म और ३ आहारक अगोपाग नाम कर्म। वन्धन नाम कर्म के ५ भेद— १ औदारिक शरीर वन्धन नाम

कर्म, इसी तरह वैक्रियादि पाचो शरीरो के साथ बन्धन नाम कर्म जोड देना चाहिए। सघातन नाम कर्म के ५ भेद– १ औदारिक शरीर सघातन नाम कर्म, इसी तरह वैक्रियादि के साथ सघातन नाम कर्म जोड देना चाहिए। सहनन नाम कर्म के ६ भेद– १ वज्र ऋषभ नाराच, २ ऋषभ नाराच, ३ नाराच, ४ अर्ध नाराच, ५ किलिका और ६ सेवार्त। सस्थान नाम कर्म के ६ भेद– १ समचतुस्र, २ न्यग्रोध, ३ सादि, ४ कुब्ज, ५ वामन और ६ हुण्डक सस्थान। वर्ण के ५ भेद है– १ कृष्ण, २ नील, ३ रक्त–लाल, ४ पीत और ५ श्वेत वर्ण। गन्ध के २ भेद– सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध। रस के ५ भेद— १ तिक्त, २ कटु, ३ कषाय, ४ आम्ल और ५ मधुर रस। स्पर्श के ८ भेद– १ गुरु, २ लघु, ३ मृदु, ४ कठोर, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध और ८ रूक्ष स्पर्श। आनुपूर्वी के ४ भेद– १ नरकानुपूर्वी, २ तिर्यञ्चानुपूर्वी, ३ मनुष्यानुपूर्वी और ४ देवानुपूर्वी। विहायोगति के २ भेद— शुभ और अशुभ विहायो गति। इस तरह १४ पिड प्रकृतियो के ६५ भेद हुए। इनके साथ ८ प्रत्येक प्रकृतिया, त्रस दशक और स्थावर दशक ये २८ प्रकृतिया जोड देने से नाम कर्म के ६५+२८=९३ भेद हो जाते हैं।

१०३ भेद–९३ भेद उपरोक्त और बन्धन नाम कर्म के ५ भेद की जगह १५ भेद भी होते हैं। वे निम्न प्रकार हैं– १ औदारिक-औदारिक बन्धन नाम कर्म, २ औदारिक-तैजस बन्धन नाम कर्म, ३ औदारिक-कार्मण बन्धन नाम कर्म, ४ वैक्रिय-वैक्रिय बन्धन नाम कर्म, ५ वैक्रिय-तैजस बन्धन नाम कर्म, ६ वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम कर्म, ७ आहारक-आहारक बधन नाम कर्म, ८ आहारक-तैजस बधन नाम कर्म, ९ आहारक-कार्मण बधन नाम कर्म, १० औदारिक-तैजस-कार्मण बधन नाम कर्म, ११ वैक्रिय-तैजस-कार्मण बधन नाम कर्म, १२ आहारक-तैजस-

कार्मण वधन नाम कर्म, १३ तैजस-तैजस वधन नाम कर्म, १४ तैजस-कार्मण वधन नाम कर्म और १५ कार्मण-कार्मण वधन नाम कर्म। इस तरह वधन नाम कर्म के दस भेद वढा देने से नाम कर्म के ९३+१० =१०३ भेद हो जाते है।

६७ भेद— वधन नाम कर्म के १५ भेद और सघातन नाम कर्म के ५ भेदो का ५ शरीर नाम कर्म मे समावेश कर दे। और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के २० भेदो को वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श इन चार मे समाविष्ट कर देते है, तो शेष ६७ प्रकृतिया ही वचती है। वधन नाम के १५, सघातन नाम के ५ और वर्णादि की १६ इस तरह कुल ३६ प्रकृतियां १०३—३६=कम करने से, नाम कर्म की शेष ६७ प्रकृतिया रहती है। इस अपेक्षा से नाम कर्म की ४२, ९३, १०३ और ६७ प्रकृतिया होती है।

गोत्र कर्म

इसे कुभकार के समान माना है। जैसे कुभकार अनेक तरह के घट वनाता है, जिनमे से कुछ घट कलश के रूप मे पूजे जाते है या घी, पानी आदि शुभ पदार्थ रखने के काम मे आते है, तो कुछ घट मदिरा आदि अशुभ पदार्थ भरने के काम मे भी लाए जाते हैं। उसी तरह इस नाम कर्म के उदय से जीव कभी उच्च गोत्र मे जन्म लेता है, तो कभी नीच गोत्र मे भी जन्म ग्रहण करता है। ऊच और नीच के भेद से गोत्र कर्म दो प्रकार का माना गया है।

अंतराय कर्म

यह कर्म भण्डारी —कोषाध्यक्ष के समान कहा गया है। कोषाध्यक्ष के अनुकूल न होने पर राजा अपनी इच्छानुसार धन का व्यय नही कर सकता। उसी तरह इस कर्म के उदय से शक्तिये

प्राप्त नही होती है। इस कर्म के ५ भेद है– १ दान-अतराय, २ लाभ-अतराय, ३ भोग-अतराय, ४ उपभोग-अतराय और ५ वीर्य-अंतराय।

प्रकृतियां का बंध

८ कर्म की १२० प्रकृतिया का वध होता है। वह इस प्रकार है– ज्ञानवरण की ५, दर्शनावरण की ९, वेदनीय की २, मोहनीय की २६– १ सम्यक्त्व मोहनीय और सम्यक्त्व-मिथ्या मोहनीय–मिश्र मोहनीय प्रकृति का वध नही होता है, वध तो मिथ्यात्व मोहनीय का होता है, परन्तु परिणामो मे विशुद्धि और अर्धशुद्धि होने पर सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय की दोनो प्रकृतियें वन जाती है, आयु की ४, नाम की ६७, गोत्र की दो और अतराय की ५=१२० प्रकृतिया।

उपरोक्त १२० मे मोहनीय कर्म की निकाली गई दो प्रकृतिया मिला देने पर १२२ प्रकृतिया वन जाती हैं। ये १२२ प्रकृतियां उदय और उदीरणा की अधिकारिणी है।

८ कर्म की १५८ उत्तर प्रकृतियां होती हैं। इसमे नाम कर्म की १०३ प्रकृतियें मिलाई गई हैं। इस मे से वधन नाम कर्म के ५भेद लिए जाए तो १५८—१०=१४८ प्रकृतियां शेष रहती हैं। ये १४८ प्रकृतियां सत्ता योग्य हैं अथवा इनकी सत्ता रहती है।

कर्म बन्ध का कारण

जैन आगमो एवं ग्रन्थो में कर्म वन्ध के संवध मे तीन मान्यताए प्रचलित है— एक मान्यता है कपाय और योग ये दो कर्म वध के कारण हैं, दूसरी मान्यता मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग चार को कारण मानती है और तीसरी परपरा उसमें प्रमाद को जोड कर पाच कारण मानती है। दो कारण मानने वालो ने शेष कारणों का कपाय में समावेश कर लिया है। इस तरह कपाय और योग कर्म वन्ध के कारण हैं,

इस मान्यता मे किसी का विरोध नही है। इस मे भी कषाय को कर्म वन्ध का प्रवल कारण माना है। क्योकि कषाय रहित योग के कारण केवल कर्म आते है, परन्तु कषायाभाव के कारण उनका वन्ध नही होता है। इसलिए आगमो मे राग-द्वेष को कर्म का वीज कहा है। ‡ अत कर्म वन्ध का प्रमुख कारण कषाय है। परन्तु उसे अभिव्यक्त करने का साधन योग है। मन, वचन और काया इन तीनो योगो मे से किसी एक योग की सहायता के विना कषाय की अभिव्यक्ति नही हो सकती है। अत यह जानना आवश्यक है कि इन तीनो आधारो मे से मुख्य आधार कौनसा है? ब्रह्म विन्दु उपनिषद्, २ मे कहा गया है—

"मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः,
वन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ।"

इसमे मन को कर्म वधन का प्रवल कारण माना है। इसी के सहयोग से मन,वचन और काया की प्रवृत्ति मे शुद्धता एव मलीनता आती है। गीता मे भी कहा गया है—हे कृष्ण! यह मन वडा चचल है, इसका निरोध करना सरल नही है। * परन्तु यह निश्चित है कि इस का निरोध, होने पर ही मुक्ति होती है। जैनागमो मे भी मन को प्रमुख माना है। कर्म वन्ध के लिए वचन और शरीर की क्रिया के स्थान मे जीव के परिणामो—आन्तरिक भावो या मानसिक चिन्तन को कर्म वंध का प्रमुख कारण माना है। §

‡ रागो य दोसो य कम्म वीय।

—उत्तराध्ययन, ३२, ६

* चचल हि मन. कृष्ण। —श्री भगवद् गीता, ६, ३४

§ परिणामे वन्ध।

जैनों की तरह उपनिषदो में भी मन को शुद्ध और अशुद्ध दो तरह का माना है। काम सकल्प रूप मन को अशुद्ध और उससे रहित मन को शुद्ध माना है। † अशुद्ध मन ससार का कारण है और शुद्ध मन मुक्ति का। जैन विचारको ने भी इस बात को माना है कि जब तक कषाय का क्षय नही हो जाता, तब तक अशुद्ध मन रहता है और १२वे गुणस्थान मे और उसके बाद १३ वे गुणस्थान मे शुद्ध मन की ही प्रवृत्ति होती है और १४ वे गुणस्थान में पहुंचते ही केवली सर्व प्रथम मन योग का निरोध करते हैं, उसके बाद वचन और काय योग का निरोध करते हैं। ‡

इस तरह जैनों ने मन योग को प्रबल माना है। उसका निरोध कर लेने के बाद वचन और काय योग का सहज ही निरोध हो जाता है। जब तक मन का निरोध नही होता, तब तक वचन और काय योग का निरोध नही होता। क्योंकि इन दोनो योगो का सचालक मन है। उस पर विजय पा लेने पर सब पर विजय हो जाती है। आध्यात्मिक भक्त कवि आनन्दघन जी ने कुंथुनाथ भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहा है—

"मन जीत्युं ते सगलो जीत्युं ए बात नहीं खोटी,
एम कहे में जीत्युं ते नवी मानुं, एही बात छे कंई मोटी।
हो कुंथु जिन मनड़ो किम ही न बांझे ॥"

इस तरह हिंसा-अहिंसा का आधार भी मन को माना है मानसिक परिणति विशुद्ध हो रही है, तो उस समय शरीर से हिंसा

† ब्रह्म विन्दु उपनिषद्, १।

‡ विशेषावश्यक भाष्य, ३०५९ से ३०६४।

होने पर भी पाप कर्म का बन्ध नही होता है । और उसके विपरीत कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष मे शरीर से किसी भी जीव की हिंसा करता हुआ दिखाई नही दे रहा है, परन्तु मन मे किसी के प्रति कलुषित परिणाम लिए हुए है, तो वह पाप कर्म का बंध कर लेता है। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है कि अशुभ परिणाम हिंसा है, चाहे उससे बाह्य रूप से जीवो की घात–हिंसा हो या न हो । और परिणामो मे विशुद्धता है तो बाह्य रूप से द्रव्य हिंसा होने पर भी पाप कर्म का बंध नही होता है ।-§ आगम मे भी यही कहा गया है कि अयतना पूर्वक चलने-उठने, खाने-पीने, बोलने आदि की, की जाने वाली क्रिया से छ काय को हिंसा एव पाप कर्म का बंध होता है और यतना पूर्वक उक्त क्रिया करने मे पाप कर्म का बंध नही होता है । * इतना होते हुए भी बौद्धो ने जैनो पर जो यह आक्षेप किया है कि "जैन केवल काय दड को ही महत्त्व देते है," यह उनका भ्रम है और इस भ्रम का मुख्य कारण साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही है, ऐसा मानना चाहिए । अन्यथा यह आक्षेप कोई मूल्य नही रखता है ।

जैनो की तरह बौद्ध भी मन को कर्म बंध का प्रबल कारण मानते है । उपालिसुत्त मे मन को ही बंध का मुख्य कारण कहा है। धम्मपद मे भी कहा है——

"मनोपुब्बंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया ।
मनसा चेव पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ।
ततो न दुक्खमन्वेति, चक्कं व वहतो पदं ॥"

§ विशेषावश्यक भाष्य, १७६६ ।

* दशवैकालिक सूत्र, ४,१–७ ।

उपरोक्त विचारो से यह स्पष्ट-हो गया है कि कर्म बंध मे प्रवल कारण मन है अथवा यों कह सकते हैं कि परिणामो को तीव्रता और मन्दता के अनुसार ही कर्मो का तीव्र एवं मन्द ब्रध होता है। अत कपाय और योग को कर्म वन्व कहा गया है, वह उपयुक्त ही है। मिथ्यात्व आदि का उसी मे समावेश हो जाता है। क्योंकि अनन्तानुवधी कपाय का उदय मिथ्यात्व है, अप्रत्याख्यानी कपाय का उदय अव्रत है और प्रत्याख्यानी कपाय का उदय प्रमाद है। अत कर्म वन्व के उक्त दो, और मिथ्यात्व, अव्रत, कपाय और योग इन चार तथा उसमे प्रमाद को मिला कर किए गए ५ भेदो मे कोई सैद्धातिक विरोध-नहीं है। मात्र सख्या का भेद है। इससे मान्यता मे किसी भी तरह का अन्तर नही पड़ता है।

कर्म फल का स्थान

काल, स्वभाव, ईश्वर आदि को एकांत आधार मानने वाले विचारक जगत मे दिखाई देने वाले वैचित्र्य का कारण उन सबको मानते हैं। जो दर्शन एकात अद्वैत को स्वीकार करते हैं या मात्र-चेतन से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं, उनके मत मे अदृष्ट—कर्म या माया ही वैचित्र्य का कारण है। नैयायिक-वैशेपिक द्वैत को मानते हैं, फिर भी सृष्टि वैचित्र्य का कारण अदृष्ट—कर्म को स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार जड और चेतन सभी कार्यो मे अदृष्ट साधारण कारण है। वौद्ध दर्शन जड सृष्टि मे कर्म को कारण नही मानता है। यहा तक की वे वेदना को भी सर्वथा कर्म का कारण नही मानते है। मिलिन्द प्रश्न मे इसके ८ कारण माने हैं— १ वात, २ पित ३ कफ और ४ इन तीनो का सन्निपात, ५ ऋतु, ६ विपमहार, ७ औपक्रमिक और ८ कर्म। उक्त आठ कारणो मे से किसी एक कारण से जीव को वेदना का

सवेदन होता है। अत सुख-दु ख की सवेदना के कारण आठ ही हैं,इस के अतिरिक्त कोई व्यक्ति पूर्व कर्म को सवेदना का कारण मानता है, तो यह मिथ्या है। क्योंकि इसका वहुत थोडा भाग ऐसा है, जो पूर्व कृत कर्म का फल हो, अधिकाश भाग तो दूसरे कारणों पर ही आधारित हैं। सवेदना का कौनसा भाग पूर्व कृत कर्म का है, इस का निर्णय तो वुद्ध ही कर सकता है। §

जैन दर्शन इस वात को मानता है कि कर्म का सवव आत्मा से है। भौतिक वस्तुओ पर उसका कोई असर नही होता है। पुद्गलो का भी पुद्गलो के साथ वंध होता है, परन्तु उसके बध की व्यवस्था दूसरी तरह से है। जिसका वर्णन तत्त्व-मीमासा अध्याय के अजीव विचारणा प्रकरण मे कर चुके हैं। परन्तु आत्मा के साथ जो कर्म का बध होता है, वह की जाने वाली क्रिया के साथ चल रहे परिणामों या भावनाओ के द्वारा ही होता है और वह भावना या परिणाम जीव के ही होते हैं। अत परिणामो से युक्त ससारी जीव-आत्मा ही कर्म वन्ध करता है।

जीवो मे जो वैचित्र्य नजर आता है, वह वधे हुए कर्म का फल है। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आदि जो विभिन्न रूप है, औदारिक, वैक्रिय आदि विभिन्न शरीर मिले है तथा सुख-दु ख, सपत्ति-विपत्ति, ज्ञान-अज्ञान, चारित्र-अचारित्र आदि की उपलब्धि होती है, वह कर्म के ही कारण से होती है। परन्तु भूकम्प आदि जैसे भौतिक कार्यो मे कर्म का सीधा सवध नही है। यह वात कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों से भी स्पष्ट हो जाती है। *

§ मिलिन्द प्रश्न, ४, १, ६२.

* विशेष विस्तार से जानने वाले जिज्ञासु कर्म ग्रन्थ भाग छठा हिन्दी अनुवाद (पं फूलचद सिद्धातशास्त्री) की प्रस्तावना, पृ ४३ देखें।

परिणाम और प्रकृति का संबंध

यह एक सोचने-समझने की बात है कि जड़ प्रकृति पर कर्म वर्गणा के पुद्‌गलों का कोई असर नहीं होता है। उसमें होने वाला परिवर्तन जड़ परमाणुओं के संघटन-विघटन पर आधारित है, परन्तु कर्म से उसका कोई संबंध नहीं है। फिर भी ये परिवर्तन एक अपेक्षा से कर्म में संबंधित भी है। जड़ के कर्मों से नहीं, बल्कि चेतन के, जीव के कर्म से प्रभावित है। जैसे भूकम्प आदि आकस्मिक घटनाएं घटित होती हैं, जिन्हें जनसाधारण की भाषा में दैवी प्रकोप कहते है। वैज्ञानिक दृष्टि से ये घटनाएं कुछ रासायनिक परिवर्तनों के कारण होती हैं और सैद्धान्तिक दृष्टि से पुद्‌गल परमाणुओं के जुड़ने-टूटने के परिणाम स्वरूप प्रकृति में परिवर्तन आता है। परन्तु वह घटना उस स्थान में स्थित जीवों के दुःख एवं संवेदना का जो कारण बनती है, वह उन जीवों के सामूहिक वेदनीय कर्म के उदय का ही फल है।

यह स्पष्ट है कि आत्मा के शुभाशुभ विचारों का प्रकृति पर भी असर होता है। श्रमण-संस्कृति इस बात को मानती है कि तीर्थंकर जिस क्षेत्र में विराजमान होते हैं, उस क्षेत्र के आस-पास २५ योजन अर्थात् २०० मील तक कोई उपद्रव नहीं होता है, कोई संक्रामक रोग नहीं फैलता है, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संकट पैदा नहीं होता है, अनावृष्टि-अतिवृष्टि के कारण दुष्काल नहीं पड़ता है। यह उन महापुरुषों के उज्ज्वल, समुज्ज्वल, महोज्ज्वल विचार परमाणुओं का ही असर है कि वे प्रकृति के परमाणुओं को प्रकोपित नहीं होने देते। आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों से अनुप्राणित वे शुद्ध-सात्विक एवं शान्त परमाणु उस क्षेत्र के आस-पास स्थित समस्त परमाणुओं को शान्त-प्रशान्त बना देते हैं। यही स्थिति अशुभ विचार के बुरे परमाणुओं के

सवध मे भी समझनी चाहिए। जब वे सामूहिक रूप से प्रवहमान होते हैं, तो प्रकृति के शान्त वातावरण मे हल-चल मचा देते हैं, तूफान सा ला देते हैं।

मनोवैज्ञानिक भी इस वात को मानते हैं कि मनुष्य के मन मे अच्छे-वुरे जैसे भी विचार वनते है,उसके अनुरूप परमाणुओ मे कालापन या उज्ज्वलता तथा कटुता या मधुरता आती है। * और उन भावनाओं से अनुरंजित परमाणु जव व्यक्ति के शरीर से निकलकर वाहर आते हैं तो वाहर के परमाणुओ को भी प्रभावित किए विना नही रहते। वे शुभाशुभ एव विशुद्ध भावो से रगे हुए परमाणु अन्य परमाणुओ के साथ मिलकर प्रकृति के वातावरण मे परिवर्तन ले आते है। जिसे वैज्ञानिको की भाषा मे रासायनिक परिवर्तन कहते है। रासायनिक परिवर्तन भी क्या है? परमाणुओ का मिलना एव अलग होना ही रासायनिक परिवर्तन है। जव हाईड्रोजन और आक्सीजन दो गैसो के परमाणु अपने-अपने स्कन्ध मे से अलग होकर आपस मे मिल या मिला दिए जाते हैं, तो उनमे परिवर्तन आ जाता है, वे अपने स्वरूप को छोडकर पानी के रूप मे परिलक्षित होने लगते हैं। तो परमाणुओ मे यह रासायनिक परिवर्तन स्कन्ध के सघटन-विघटन के कारण ही होता है। अत चाहे वैज्ञानिक के शव्दो मे कहूं, मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से कहू या एक सैद्धान्तिक की भाषा मे कहू— वात एक ही है कि आत्मा के शुभाशुभ भावो से अनुरजित परमाणुओ का वाहर के परमाणुओ पर भी असर होता है और उस से प्रकृति मे अच्छा या बुरा परिवर्तन आता है।

* जिसे जैन परिभाषा मे लेश्या कहते है। लेश्या के वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि शुभाशुभ परिणामो—विचारो के अनुसार अच्छे-वुरे होते हैं।

मैं बता रहा था कि भूचाल आदि प्राकृतिक प्रकोप जीवों के सामूहिक वेदनीय कर्म का फल भी है। व्यक्ति स्वय कर्म का बन्ध करता है और स्वय उसके फल को भोगता है। किन्तु कुछ कर्म ऐसे भी होते हैं, जो सामूहिक रूप से बाधे जाते हैं, तो भोगने के समय भी सामूहिक रूप से उदय मे आते है। भूकम्प, अनावृष्टि-अतिवृष्टि, महामारी आदि सक्रामक रोग, बाढ आदि प्राकृतिक तूफान सामूहिक रूप से बंधे हुए कर्मों के फल हैं। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म व्यक्तिगत या सामूहिक जिस रूप में बधा है उस रूप मे भी फल देता है। रोग-बिमारी, कुरूप शरीर बेढ़गे अगोपाग, दरिद्रता आदि सभी बुरी वस्तुए तथा स्वस्थ एव सुन्दर शरीर, व्यवस्थित अगोपाग, भरा-पूरा परिवार आदि सभी अच्छे सयोग अशुभ और शुभ कर्मों के फल हैं।

सामूहिक बंध का कारण

यह तो स्पष्ट हो गया है कि बधे हुए कर्म अपना फल देते हैं। व्यक्तिगत कर्म बध की चर्चा हम विस्तार से कर चुके हैं। परन्तु सामूहिक कर्म बंध के सबध मे हमने पीछे कही चर्चा नही की है। और यहा सामूहिक कर्म फल का प्रसग चल पड़ा है, अत हम यहा इस पर भी जरा विचार कर ले तो अप्रासगिक नही होगा। यह हम पहले बता चुके हैं कि जो प्राकृतिक विपत्तिए आती हैं, वे उक्त प्रदेश मे स्थित जीवों के अशुभ कर्मोदय का ही फल है। इसमें यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि बहुत-से जीव सामूहिक बध कैसे करते है?

इसके उत्तर मे हम दो छोटे-से उदाहरण देना उपयुक्त समझते है, जिससे सारी स्थिति साफ हो जाएगी। एक जगह वेश्या का नृत्य एवं संगीत हो रहा है, हजारो व्यक्ति उसे देख-सुन रहे हैं और उसके रूप-सौन्दर्य, नृत्य के विकारी हाव-भाव एव सगीत के माधुर्य को देख-

सुन करके सब के मन मे वासना जगती है। उसका नृत्य एव सगीत वद होते ही आवाजे कसी जाती हैं, सीटिया वजाई जाती है, इत्यादि अनेक तरह से विकृत भावो को व्यक्त किया जाता है।

किसी प्रात मे साप्रदायिक दगे होते है, एक-दूसरे राष्ट्र मे युद्ध चलता है, उस समय अखवारो, रेडियो आदि साधनो से उसके समाचारो को जान कर मन मे उनके प्रति द्वेष एवं घृणा के भाव आते हैं, तथा उस हिंसक दुष्कर्मो की प्रशसा करने वाले भी मिल जाते है।

इस तरह के प्रसग सामूहिक रूप से पाप कर्म वध के कारण वनते है। और इसी तरह किसी महापुरुष के सत्कार्य की सामूहिक रूप से प्रशसा करने तथा उसके द्वारा वताए गए सम्यक् मार्ग पर सामूहिक रूप से गति करने से सामूहिक रूप से पुण्य कर्म का वध होता है। जिसके परिणाम स्वरूप मे परिवार, समाज एव राष्ट्र मे जहा भी उक्त सदात्माए रहती है, वहा सदा सुख-शान्ति का सागर ठाठे मारता रहता है।

इतनी लम्बी विचारणा के वाद हम इस निर्णय पर पहुचे कि आत्मा के द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्म आत्मा को मिलने वाले अच्छे एव वुरे सयोगो के रूप मे मिलते हैं। दुनिया मे मिलने वाले अच्छे एव वुरे सभी सयोग कर्म के फल है और इसी कारण एक ही माता से उत्पन्न दो भाईयो के रहन-सहन एव दुःख-सुख का भोग करने मे भिन्नता नजर आती है। यह भिन्नता दोनो आत्माओ के अपने किए हुए कर्मो का ही फल है।

वंध और विपाक की प्रक्रिया

जैनागमो मे वध चार प्रकार का माना है— १ प्रकृति वंध, २ प्रदेश वध, ३ अनुभाग वंध और ४ स्थिति वंध। लोक मे ऐसा कोई

स्थान नही है, जहा कर्म योग्य पुद्गल न हो अथवा सारा लोक कर्म योग्य पुद्गलो से भरा है। अत प्रत्येक स्थान मे स्थित जीव मन, वचन और काया की प्रवृति से अपने निकट मे स्थित कर्म योग्य पुद्गलो को सभी दिशा-विदिशाओ से ग्रहण करता है। जिस स्थान में जीव के आत्म प्रदेश स्थित है, उतने स्थान मे रहे हुए कर्म पुद्गलो को आत्मा ग्रहण करती है, यह कर्म ग्रहण की क्षेत्र मर्यादा है । परमाणुओ की सख्या की मर्यादा योगो की तरतमता पर आधारित है। योगो की प्रवृत्ति अधिक होती है, तो परमाणुओ की संख्या भी अधिक होती है और प्रवृत्ति स्वल्प होती है, तो परमाणु भी अल्प सख्या मे आते हैं। इस प्रक्रिया को जैन परिभाषा में प्रदेश वध कहते है।

आत्मा द्वारा ग्रहण किए गए परमाणु ज्ञानावरणादि कर्म प्रकृतियों के रूप मे परिणत होते हैं, उसे प्रकृति बध कहते है । योग की प्रवृत्ति से परमाणुओ की सख्या और ज्ञानावरणादि प्रकृतियो की व्यवस्था होती है, इस कारण इस प्रक्रिया को प्रदेश वध और प्रकृति वन्ध कहते हैं। आत्मा वस्तुत अमूर्त माना जाता है, फिर भी कर्म संयोग के कारण उसे कथचित् मूर्त भी माना गया है। क्योंकि आत्मा और कर्म का सबध दूध-पानी के सबध जैसा है। साख्य ने भी ससारावस्था मे पुरुष और प्रकृति का सबध नीर-क्षीर जैसा माना है। नैयायिक-वैशेषिक ने भी धर्माधर्म का आत्मा के साथ समवाय सबध माना है। इसी से वे एकीभूत दिखाई देते है, उन्हे पृथक करके बताना असंभव है। केवल लक्षण भेद से ही उन्हे आत्मा से पृथक समझ सकते हैं।

योगों की प्रवृत्ति से प्रकृति और प्रदेश वन्ध होता है। परन्तु उस के साथ कषाय की जो प्रवृत्ति होती है, उससे स्थिति और अनुभाग—रस वन्ध होता है। परिणामो मे कषाय की मन्दता होती है, तो उन

कर्मो का स्थिति और अनुभाग वध भी मन्द—हल्का होगा और कपाय की तीव्रता होगी तो बंध भी प्रगाढ होगा, परन्तु कपाय के अभाव मे आत्मा के साथ कर्म परमाणुओ का वध नही होता है । जिस प्रकार सूखी दीवार पर रेती के परमाणु नही चिपटते है, उसी तरह कपाय रहित आत्मा पर कर्म रज भी नही चिपटती है । कर्मो का वन्ध कपाय युक्त योग प्रवृत्ति से होता है। उस का स्थिति और अनुभाग वध भी कपाय से होता है। परन्तु इसमे अन्तर इतना ही है कि प्रदेश और प्रकृति वंध कपाय युक्त योग-प्रवृत्ति से होता है और स्थिति एव अनुभाग वंध कपाय युक्त परिणामो से होता है।

योग दर्शन मे भी क्लेश रहित योगी के अकृष्णाशुक्ल कर्म माना है अर्थात् उसके शुभाशुभ कर्म का वन्ध नही होता । बौद्धो ने अर्हत मे क्रिया चेतना स्वीकार करके कर्म वन्ध का निपेध किया है । इनकी क्रिया चेतना का रूप जैनो की इर्यापथ क्रिया से मिलता-जुलता है ।

इस तरह चार प्रकार से कर्म का वन्ध माना है । परन्तु वन्धा हुआ कर्म तुरन्त फल देता हो, ऐसी वात नही है । वह अपने समय पर फल देता है। जिस प्रकार आग पर भोजन सामग्री चढाते ही नही पक्क जाती, उसमे कुछ समय लगता है । इसी तरह कर्म का पाक काल पूरा होने पर ही कर्म अपना फल देता हे । इसे जैन परिभाषा मे 'अवाधाकाल' कहते हैं । अवाधाकाल पूरा होने पर ही वधे हुए कर्म परमाणु फल देने को तत्पर होते हैं, इसे कर्म का उदय काल कहते है । उदय मे आए हुए कर्म फल देकर आत्मा से अलग हो जाते है और तप-सयम के द्वारा भी पूर्व मे वंधे हुए कर्मो को आत्मा से अलग किया जाता है, इसे निर्जरा कहते है । और आत्मा से समस्त कर्मो को सर्वथा अलग कर देने को मोक्ष कहते है।

आत्मा और कर्म का संबंध

प्रश्न– कर्म बंध की बात तो स्पष्ट हो गई। परन्तु यह समझ में नहीं आया कि कर्म आत्मा पर कैसे छा जाते हैं ? क्योंकि आत्मा अमूर्त है और कर्म मूर्त। ऐसी स्थिति में दोनों का संबंध कैसे हुआ ? मूर्त ने अमूर्त को कैसे आवृत कर लिया ?

उत्तर– भारतीय चिन्तनधारा के सभी विचारको ने आकाश को अमूर्त माना है और घट-पट आदि पदार्थों को मूर्त स्वीकार किया है। और इस बात को हम सदा प्रत्यक्ष देखते है कि घट-पट आदि मूर्त पदार्थों का अमूर्त आकाश के साथ सबंध जुड़ा हुआ है। वे जितने आकाश प्रदेश मे स्थित होते हैं,उतने आकाश प्रदेशो को आवृत कर लेते हैं। एक और भी उदाहरण है— जब अंधेरी चलती है तो आकाश पर धूल छा जाती है, चारो तरफ धुँधलापन हो जाता है। तो ये घट-पट एव धूली कण आदि सभी पदार्थ मूर्त हैं,फिर भी इनका अमूर्त आकाश के साथ सबंध होता है और ये अमूर्त आकाश को प्रच्छन्न कर लेते है। इस तरह मूर्त कर्म भी आत्मा के साथ सबद्ध होने पर आत्म गुणो को प्रच्छन्न कर लेता है।

प्रश्न– मूर्त पदार्थों का अमूर्त के साथ संबन्ध होता है, यह ठीक है। परन्तु अमूर्त पदार्थ पर मूर्त पदार्थ का कोई असर तो होता नहीं। जैसे वायु और अग्नि आकाश में स्थित रहते हैं, फिर भी आकाश पर उनका कोई असर नहीं होता है। तो फिर अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म कैसे प्रभावित कर सकता है ?

उत्तर– अग्नि का पदार्थों पर दो तरह से प्रभाव पड़ता है। एक तो यह

कि जिस प्रदेश मे आग रहे वह प्रदेश अग्निमय दिखाई दे और दूसरा यह है कि उस प्रदेश मे स्थित पदार्थों को जला कर भस्म कर दे। यह ठीक है कि अग्नि आकाश को जला नही सकती, परन्तु जिस स्थान मे अग्नि प्रज्वलित होती है, उतने आकाश प्रदेश अग्निमय ही दिखाई देते है। वे आग से प्रभावित हुए विना नही रहते। रहा जलाने का प्रश्न ? अमूर्त पदार्थ ही नही, कई ऐसे मूर्त पदार्थ भी हैं कि जिन पर आग का कोई असर नही होता। जैसे वस्तुओ को पानी के प्रभाव से वचाने के लिए वाटर प्रूफ (Water proof) वस्त्र का निर्माण किया गया, उसी तरह वैज्ञानिकों ने (Fire proof) वस्त्र का भी निर्माण कर लिया है। यह वस्त्र आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहता है। जम्मू-कश्मीर के पहाडो मे इस तरह का पत्थर पाया जाता है, जिससे रूई की तरह रेशे निकलते हैं। और मेहनत करने पर उसके धागे भी वनाए जा सकते है। इस रूई की विशेषता यह है कि इस पर आग का असर नही होता। * इससे स्पष्ट होता है कि आग वहुत से मूर्त पदार्थों को भी जला नही सकती, परन्तु जव आग की लपटे उन पदार्थों के पास होती हैं तो वे आगमय परिलक्षित होते हैं। उसी तरह आकाश भी अग्निमय दृष्टिगोचर होता है। इस लिए हम यह नही कह सकते कि वह आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता है। इतना ही कह सकते है कि आग आकाश के स्वरूप को वदल नही सकती। आग के वुझते ही आकाश फिर से निर्मल और स्वच्छ प्रतीत होने लगता है। यही वात

* जम्मू गवर्नमेन्ट कालिज के जीओलोजी (Geology) विभाग के प्रोफेसर ने मुझे वताया कि इसमे वना तार न आग से पिघलता है, न जलता है और न दूसरे रूप मे परिवर्तित ही होता है, अर्थात् आग के कारण इसे किसी तरह की क्षति नही पहुचती। —सपादक

आत्मा और कर्मों के सबध मे है।

कर्म आत्मा के अस्तित्व को समाप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। आत्मा कर्म के प्रभाव मे इतनी ही प्रभावित होती है कि जब तक कर्मो का प्रवाह प्रवहमान रहता है, तब तक वह कर्ममय दिखाई देती है। जैसे आग के प्रभाव से आकाश अमूर्त होते हुए भी काले, पीले, लाल आदि कई रगो मे दिखाई देता है, उसी तरह कर्म के प्रभाव से आत्मा भी किरकट की तरह अनेको रग बदलता हुआ परिलक्षित होता है। परन्तु कर्म का स्रोत सूखते ही आत्मा अपने शुद्ध रूप मे आ जाता है। अनन्त-अनन्त काल तक कर्म के प्रभाव मे रहकर भी उसके शुद्ध आत्म स्वरूप मे जरा भी परिवर्तन नहीं आता है। अस्तु कर्म आत्मा को बाह्य रूप से प्रभावित करता है, परन्तु वह उसे अपने या अन्य रूप मे परिवर्तित नही कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि आत्मा का ज्ञान गुण अमूर्त है और शराब मूर्त है। जब मनुष्य शराब का सेवन करता है तो वह ज्ञान एव चेतना को ढक लेती है, थोडी देर के लिए मनुष्य अपने ज्ञान एव चेतना को खो बैठता है। तो इस तरह देखा जाता है कि अमूर्त पदार्थ भी मूर्त पदार्थो से प्रभावित होते हैं।

एक बात और भी है, वह यह है कि जैन दर्शन आत्मा को कथचित् मूर्त भी मानता है। ससारी जीव अनादि काल से कर्म के आवरण से आवृत्त होने के कारण ससार मे एक योनि से दूसरी योनि मे परिभ्रमण करते हैं तथा सशरीर होते है। शरीर मूर्त ही होता है और प्राण युक्त शरीर को व्यवहार मे आत्मा का प्रतीक मानते हैं। इस अपेक्षासे उन्हे मूर्त भी कहा गया है और मूर्त कर्म ससारी जीवो को ही प्रभावित करता है, जो उसके बन्धनो से आबद्ध हैं।

कर्म स्वयं फल प्रदाता है

प्रश्न— कर्म जड़ है। उसे अपने शुभाशुभ होने का कोई बोध नहीं है। और कर्म का कर्त्ता फल भोगना नहीं चाहता है। ऐसी स्थिति में जड़ कर्म उसे शुभाशुभ फल कैसे देंगे ?

उत्तर— यह ठीक है कि कर्म जड़ हैं, परन्तु वह चेतन के साथ सवद्ध होने के कारण उसमे भी यथासमय फल देने की शक्ति पैदा हो जाती है। जड पुद्गलो का भी यह स्वभाव है कि वे जिस रूप मे सघटित होते हैं या किए जाते हैं, उसी के अनुसार अपना असर भी दिखाते हैं। कुछ वम्ब ऐसे होते हैं कि जिनमे विस्फोटक पदार्थ भरते समय उनके फटने का समय अकित कर दिया जाता है और परिणाम स्वरूप वह वम्ब विना चलाए एवं विना किसी चीज से टक्कराए ही यथासमय फट जाता है। तो पुद्गलों को भले ही समय एवं शुभाशुभ का ज्ञान नही है, परन्तु जिस रूप मे उनका सग्रह हुआ है, उस रूप मे उनकी परिणति होती है। उसके लिए किसी ईश्वर को इधर-उधर भाग-दौड़ करने की आवश्यकता नही है।

हम जानते है कि विष निर्जीव है, उसे किसी व्यक्ति को मारने का भी ज्ञान नही है। फिर भी मनुष्य के न चाहने पर भी विष का प्रभाव पड़े विना नही रहता है। जो व्यक्ति विष खाने के वाद मरना नही चाहता है, फिर भी विष का असर होते ही मनुष्य मरणासन्न हो जाता है और वह वचने के लिए चिल्लाता है। वैद्य-डाक्टर विष को निकालने का प्रयत्न करते हैं। यदि विष खून मे मिल गया है और उस के निकालने के प्रयत्न सफल नही हुए हैं, तो वह व्यक्ति सदा के लिए मृत्यु की गोद मे सो जाता है। जव विष भी अपना प्रभाव दिखाए विना

नही रहता, तब आत्मा के साथ संवद्ध कर्म अपना प्रभाव दिखाए विना कैसे रहेगे।

परमाणुओं का वैचित्र्य

जैनों का कर्मवाद का सिद्धात केवल तर्क या कल्पना के आधार पर नही रचा गया है। सर्वज्ञों द्वारा जैसा देखा गया है, उसी रूप मे उस का विवेचन किया गया है। अत उसमे सन्देह को जरा भी स्थान नही है। परमाणुओं की विलक्षणता तो आज के युग में स्पष्ट हो गई है। इन पंक्तियो के लेखक का चातुर्मास जैनधर्म दिवाकर आचार्य-सम्राट पूज्य गुरुदेव श्री आत्मा राम जी महाराज के चरणो मे लुधियाना था। उन दिनो श्री हसराज जी वायरलैस लुधियाना आए थे। उन्होंने अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के अनेको वैज्ञानिक चमत्कार दिखलाए थे। परमाणुओं मे कितना विलक्षण आकर्षण है? ये किस तरह काम करते है? और कैसे असभावित दृश्यो को प्रस्तुत कर देते हैं? यह सब कुछ उन्होने अपनी विज्ञान कला प्रदर्शनी में दिखलाया था। परिचय के लिए चन्द चमत्कारो का निर्देश निम्न पक्तियो मे कर रहे हैं—

१ आवाज पर चलने वाला पंखा— यह पंखा आदमी की भाति आज्ञा मानता है। 'चलो' का आदेश पाते ही चल पड़ता है और 'ठहरो' की आज्ञा मिलते ही रुक जाता है।

२ अद्भुत नल— यह नल आदमी के सन्मुख आते ही पानी गिराने लगता है और आदमी के पीछे हट जाने पर अपने आप पानी गिराना वंद कर देता है।

३ चोर को पकड़ने वाली मशीन— यह एक ऐसा यंत्र है कि चोर के घर में प्रविष्ट होते ही चोर-चोर पुकारती है और अलारम वजाती है।

४ संसार का सब से छोटा रेडियो सैट– यह रेडियो सैट माचिस की डिविया जितना छोटा होता है और हिन्दुस्तान के सब स्टेशन सुनाता है।

५ जीवित मनुष्य का रेडियो– मनुष्य को एक विशेष प्रकार का मिक्चर पिलाकर उसके शरीर मे से ही रेडियो का कार्यक्रम सुना जाता है।

६ टेलीविजिन– इसके द्वारा हम अपने घर मे बैठकर टेलीविजिन पर होने वाले प्रोग्रामो को भी आखो से देख सकते है।

७ विजली का वल्व– यह वल्व मनुष्य के आदेश पर प्रकाश देना शुरु कर देता है और वुझने की आज्ञा मिलते ही वुझ जाता है।

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसी अनेक वस्तुए हैं, जिनको देखकर परमाणु शक्ति की विलक्षणता का बोध होता है। वस्तुत परमाणु शक्ति भी विचित्र है। जिसे देख-सुन कर मनुष्य आश्चर्यान्वित हो उठता है। जैन दर्शन का कर्मवाद परमाणुवाद का ही रूपान्तर है। जब विना चेतना के ही परमाणु अनेक आश्चर्यकारी दृश्य उपस्थित कर देते है, तव चेतना शक्ति का सान्निध्य पाकर ये कर्म विभिन्न दृश्य दिखला दे, तो इसमे आश्चर्य की क्या वात है ?

इस तरह कर्म वन्धते और फल देते हैं। जैन दर्शन की मान्यता है कि कर्मो मे ही फल देने की शक्ति है। जैसे शराव आदि नशीले पदार्थो मे उन्मत्त वनाने की शक्ति है अथवा जो व्यक्ति नशे का सेवन करता है, वह अवश्य उसकी लहरो भूलता है, उसका नशा देने के लिए किसी ईश्वर को भागकर आने की जरूरत नही होती। उसी तरह कर्म मे ही फल प्रदान करने की शक्ति है। प्रत्येक कर्म का जितना आवाधाकाल है, उसके वाद वह कर्म उदय मे आता है और अपना

फल देकर नष्ट हो जाता है। कर्म का मुख्य कार्य यह है कि जब तक उसका बंध होता रहता है, तब तक जीव को मोक्ष नही मिलता है। समस्त कर्मों की निर्जरा करने पर ही जीव मुक्त होता है।

कर्मों की विभिन्न अवस्थाएं

यह हम देख चुके हैं कि कर्म का बंध किस प्रकार का होता है और बंधे हुए कर्म अपना फल कैसे देते हैं। जैनों की यह सैद्धान्तिक मान्यता है कि किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना मुक्ति नही होती। § परन्तु ऐसा एकांत नियम नही है कि कर्म जिस रूप मे बंधा है, उसी रूप मे फल देता है। उसमे परिवर्तन भी हो सकता है। जैनागमो मे कर्म की बंधादि १० अवस्थाओ का वर्णन करके कर्म फल में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया को भी व्यवस्थित रूप दिया गया है। ये दस अवस्थाएं निम्न है– १ बंध, २ सत्ता, ३ उद्वर्तन–उत्कर्षक, ४ अपवर्तन–अपकर्षक, ५ संक्रमण, ६ उदय, ७ उदीरणा, ८ उपशमन, ९ निधति और १० निकाचित।

१ बंध

आत्मा के साथ कर्म पुद्गलो का संबंध होना तथा उनका प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बंध, और अनुभाग बंध के रूप मे बंधना बंध कहलाता है। बंध होने पर ही अन्य अवस्थाएं होती है, बंध के अभाव मे और कोई अवस्था नही होती।

२ सत्ता

बंधे हुए कर्म समय-पर-उदय मे आते हैं और फल दे कर आत्म प्रदेशो से अलग हो जाते हैं। प्रत्येक कर्म अपना अबाधाकाल पूरा होने

§ कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि। —उत्तराध्ययन, ४, ३

पर ही उदय मे आता है—फल देना प्रारम्भ करता है। अतः अबाधा-काल पर्यन्त सभी कर्मो का आत्मा के साथ सबध बना रहता है, इसे सत्ता कहते है। अत बधे हुए कर्म तब तक सत्ता मे रहते है, जब तक उनका अबाधाकाल पूरा नही हो जाता है।

३–४ उद्वर्तन और अपवर्तन

आत्मा के साथ कर्मो का बध होते समय कषाय की परिणति के अनुसार अनुभाग और स्थिति का बध होता है, परन्तु कर्म का अभिनव बध होते समय कषाय की तीव्रता और मन्दता से उस अनुभाग और स्थिति को अधिक और कम बना लेना क्रमश उद्वर्तन और अपवर्तन कहलाता है।

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म की स्थिति और उसका रस नियत नही है। परिणामो की धारा को बदलकर हम बधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग–रस को कम या ज्यादा भी बना सकते है। बुरे कर्म करने के बाद शुभ कार्य करके या शुभ कर्म के बाद दुष्कर्म करके अशुभ या शुभ कर्म की बद्ध स्थिति और अनुभाग को कम कर देते हैं और बुरा कर्म करने के बाद फिर दुष्कर्म करके या शुभ कर्म कर चुकने के पश्चात् फिर सत्कर्म करके अशुभ या शुभ कर्म की स्थिति और अनुभाग को बढा भी लेते है।

५ संक्रमण

एक कर्म प्रकृति के पुद्गलो को दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति के रूप मे बदलने की प्रक्रिया को सक्रमण कहते हैं। यह परिवर्तन मूल कर्मो मे नही होता, परन्तु मूल कर्मो की उत्तर प्रकृतियो मे होता है। उसमे भी कुछ अपवाद है। जैसे आयु कर्म की चार प्रकृतिया— १ नरक आयु, २ तिर्यञ्च आयु, ३ मनुष्य आयु और ४ देव आयु तथा मोह कर्म

की दर्शन मोह और चारित्र मोह दो प्रकृतिया मे परस्पर सक्रमण नही होता है। शेप कर्मों की उत्तर प्रकृतियां में सक्रमण की भजना है अथवा सक्रमण होता भी है और नही भी। कारण यह है कि ५ ज्ञानावरण, ९ दर्शनावरण, १६ कषाय, मिथ्यात्व, भय, जुगुप्सा, तैजस, कार्मण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, निर्माण और ५ अतराय, ये ४७ ध्रुव वन्ध की उत्तर प्रकृतिया है, इनमे अपने-अपने कर्म की उत्तर प्रकृतिया मे सदा-सर्वदा परस्पर सक्रमण होता है। परन्तु शेष अध्रुव वन्ध की प्रकृतियां के लिए ऐसा नियम है कि वे अपनी-अपनी मूल प्रकृतिया से अभिन्न जो उत्तर प्रकृतिये हैं, उनमें जो अवध्यमान प्रकृतियें है,उनका वध्यमान प्रकृतिया मे सक्रमण होता है, परन्तु वध्यमान प्रकृतिया का अवध्यमान प्रकृतियां मे सक्रमण नही होता। इसलिए ऐसा कहा गया कि उत्तर प्रकृतिया मे सक्रमण की भजना है। §

६ उदय

आत्मा के साथ आवद्ध कर्म जव फल प्रदान करता है, तव उसे कर्म का उदय कहते हैं। कुछ कर्म केवल प्रदेश उदय वाले होते हैं, वे उदय मे आकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते है, उनका कोई फल नही मिलता। परन्तु, कुछ कर्मो का प्रदेशोदय के साथ विपाकोदय भी होता है, वे कर्म अपना फल प्रदान करके ही निर्जरा को प्राप्त होते है।

७ उदीरणा

आत्मा के साथ आवद्ध कर्मो को नियत काल से पहले उदय मे ले आने की प्रक्रिया को उदीरणा कहते हैं। जैसे नियत समय पर पकने वाले फलो को पकने से पहले कच्चे ही तोडकर विशेष प्रक्रिया से

§ विशेषावश्यक भाष्य, १९३९।

जल्दी पका लिया जाता है, उसी प्रकार बधे हुए कर्मों को भी नियत काल से पहले भोगा जा सकता है। सामान्यत नियम यह है कि जिस कर्म का उदय चल रहा है, उस कर्म के सजातीय कर्म की ही उदीरणा की जा सकती है।

८ उपशमन

बंधे हुए कर्म की ऐसी अवस्था बना देना जिसमे कर्म का उदय और उदीरणा न हो सके, परन्तु उद्वर्तन, अपवर्तन और सक्रमण हो सकता है तथा उपशमन काल के समाप्त होते ही वह कर्म उदय मे आकर फल देना शुरु कर देता है।

९ निधत्ति

कर्म की ऐसी अवस्था जिसमे उदीरणा एव सक्रमण नही होता, परन्तु उद्वर्तन और अपवर्तन तो उसमे भी हो सकता है।

१० निकाचित

कर्म बंध की वह स्थिति, जिसमे उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और सक्रमण कुछ नही होता है। जिस कर्म को जिस रूप मे बाधा है, उसी रूप मे फल भोगना निकाचित कर्म कहलाता है।

कर्म की अवस्थाओं का इतना व्यवस्थित वर्णन अन्य किसी दर्शन में नही मिलता है। कुछ अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। योग-दर्शन मे नियत विपाकी कर्म की व्याख्या निकाचित के समान ही की गई है। $ और उसमे कही गई आवापगमन प्रक्रिया को सक्रमण के साथ तुलना कर सकते हैं। योगदर्शन मे कुछ अनियत विपाकी कर्मो का भी उल्लेख मिलता है, जो फल दिए बिना ही नष्ट हो जाते हैं, उनकी

$ पातञ्जल योग दर्शन, २, ४।

तुलना जैनों के प्रदेशोदय के साथ ही की जा सकती है। ‡

कर्म फल का संविभाग

कुछ विचारकों की यह मान्यता है कि एक व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है। वैदिक परपरा मे यह मान्यता रही है कि मृत व्यक्ति के पीछे उसके नाम से दिए जाने वाले दान का फल उसे मिलता है। बौद्ध भी इस बात को मानते हैं। उन्होंने भी प्रेत योनि को माना है। अतः उसके नाम से किए गए दानादि का फल उसे मिलता है। परन्तु यह फल उसे प्रेत योनि मे ही मिलता है, यदि वह देव योनि मे हो तो वह फल कर्ता को ही मिलेगा। राजा मिलिन्द के एक प्रश्न का—क्या प्रेत को अकुशल—पाप कर्म का भी फल मिलता है ? उत्तर देते हुए नागसेन ने कहा है कि नही,पाप कर्म करने की प्रेत की अनुमति नही होने से उसे पाप कर्म का फल नही मिलता है। इस से भी उसे सतोष नही हुआ, तब नागसेन ने कहा पाप कर्म परिमित होता है, इसलिए उसका सविभाग नही हो सकता और कुशल—पुण्य कर्म अपरिमित होता है,इस कारण उसका सविभाग हो सकता है। $

जैनागमों की यह मान्यता रही है कि कर्म का फल कर्ता को ही मिलता है। क्योकि आत्मा ही दु:ख-सुख की कर्ता है और वही उस कृत कर्म के फल की भोक्ता है।* शुभ या अशुभ किसी भी कर्म फल का संविभाग नही होता है। जैनागमो मे यह स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति कर्म करता है,उसके फल का किसी मे विभाजन नही होता है, फल भोग के

‡ विशेष जानकारी के लिए देखें—कर्म ग्रन्थ (हिन्दी अनुवाद, प सुखलाल संघवी) भाग १ से ६।

$ मिलिन्द प्रश्न, ४, ८, ३०—३५ पृष्ठ २८८।

* उत्तराध्ययन सूत्र, २०, ३७।

समय कोई भी सबधी साथ नही देता है। † यह हम प्रत्यक्ष मे देखते हैं कि प्राय. रोगी औषध ग्रहण करने पर स्वस्थ हो जाता है और अपथ्य सेवन करने से और ज्यादा बीमार हो जाता है। इस तरह औषधि और अपथ्य का फल वही पाता है । परन्तु ऐसा कभी नही होता कि एक व्यक्ति के औषध सेवन या अपथ्य सेवन से दूसरे व्यक्ति का रोग नष्ट हो जाए या बढ़ जाए। इसी तरह स्वय के किए हुए कर्म का फल स्वय को ही भोगना होता है, उसका जरा भी विभाग नही होता। यदि दूसरे द्वारा किए गए शुभ कर्म का फल जन्मन्तर मे मिलने लगे तो फिर किसी भी व्यक्ति को शुभ कर्म करने की आवश्यकता ही नही रहेगी। अपने कुटुम्बी जनो द्वारा कृत शुभ कर्म के फल से वह परलोक मे दु खो से मुक्त हो जाएगा । इस तरह व्यक्ति के द्वारा कृत अशुभ कर्म व्यर्थ हो जाएगा और फिर धर्म-कर्म करने की भी कोई आवश्यकता नही रहेगी। अत यह मानना गलत है कि एक व्यक्ति द्वारा कृत कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है।

सिक्खों के गुरु सन्त नानक ने भी इस बात को उचित नही माना है। उनके जीवन का एक प्रसंग है कि एक बार वे नदी मे स्नान कर रहे थे। स्नान कर चुकने के बाद उन्होंने अपनी अजली मे नदी का पानी भर कर अपने खेतो की ओर फेंकना शुरु कर दिया। यह प्रक्रिया एकाध घण्टे तक चलती रही। लोग देखकर हैरान रह गए। वे सोचने लगे-आज गुरु जी को क्या हो गया है? उन्होंने इस तरह पानी फेंकने का कारण पूछा तो गुरु जी ने बताया कि मैं अपने खेतो को पानी दे

† ससारमावन्न परस्स अट्ठा, साहारण ज च करेइ कम्म,
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले, ण बधवा बधवय उवेंति।

—उत्तराध्ययन सूत्र, ४, ४.

रहा हू। लोग कहने लगे कि गुरु जी आज आपका स्वास्थ्य ठीक तो है न ? जरा सोचिए तो क्या यहां से फेंका हुआ पानी खेतो में पहुंच सकेगा ? गुरु जी ने जरा मुस्कराते हुए कहा— क्यो नही ? जब तुम लोगो के द्वारा सूर्य को चढाया हुआ जल सूर्यलोक में पहुच जाता है, पितरों को चढाया हुआ भोग पितृलोक मे पहुच जाता है, तो मेरा यह पानी खेतों तक क्यों नही पहुचेगा ? अथवा अवश्य पहुचना चाहिए। यदि यह पानी खेतो तक नहीं पहुंचता है, तो फिर सूर्य एव पितरो को चढाया हुआ जल एव भोजन भी सूर्यलोक एव पितृलोक आदि स्थानो मे पहुच सकेगा, यह सोचना चन्द्र पकड़ने की बाल क्रीडा से अधिक महत्त्व नहीं रखता है।

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसका फल उसी को मिलता है। कर्म फल मे अन्य किसी का संविभाग नही होता।

निर्जरा तत्त्व

संसार मे आत्मा और कर्म पुद्गलो का संबंध अनादि काल से चला आ रहा है। प्रत्येक संसारी आत्मा प्रतिक्षण कर्म-पुद्गलो का संग्रह करता है। कोई समय ऐसा नही जाता जिसमे कि वह कर्मो का ग्रहण न करता हो। परन्तु ग्रहण करने की प्रक्रिया के साथ-साथ वह त्याग भी करता रहता है। वह जिन कर्मो का फल भोग चुका, वे कर्म उसके आत्म-प्रदेशो से अलग हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को आगमिक भाषा मे निर्जरा कहते हैं। यो तो प्रत्येक आत्मा मे प्रति समय कर्मो की निर्जरा होती रहती है और वह शुभ एवं अशुभ दोनो तरह के कर्मो की होती है। शुभ योगो के द्वारा आत्मा अशुभ कर्मो की निर्जरा करती है और अशुभ योगों के द्वारा शुभ कर्मो की निर्जरा करती है

और उसके साथ क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मों का बन्ध भी करती है।

यह हम पहले बता चुके है कि बधे हुए कर्म अपना अबाधाकाल पूरा होने पर उदय मे आते है और अपना फल देकर आत्म-प्रदेशो से अलग हो जाते है। जैसे फल पककर स्वत. ही वृक्ष से गिरकर अलग हो जाता है, उसी तरह आबद्ध कर्म भी अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं। इससे कर्मों के आवागमन की जो परम्परा है, वह बनी रहती है। पुरातन कर्म आत्मा से अलग होते है और अभिनव कर्म आ चिपटते हैं। यदि फल भोग के समय राग-द्वेष या कषाय की तीव्रता हो तो नवीन कर्मों का प्रगाढ बध हो जाता है। इस तरह इस निर्जरा से संसार-परिभ्रमण की परम्परा समाप्त नही होती है।

कर्मों को आत्मा से अलग करने का तप भी एक साधन है। तपश्चर्या से बधे हुए कर्मों की समय से पूर्व भी निर्जरा की जा सकती है। इसके भी दो भेद माने गए हैं— १ अकाम और २ सकाम। जो तप किसी कामना-आकांक्षा से किया जाता है या विवेक एव ज्ञान से रहित किया जाता है, उससे भी अशुभ कर्मो की निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे मुक्ति का मार्ग नही सधता है। निदान पूर्वक या अज्ञान से की जाने वाली तपश्चर्या भी ससार परिभ्रमण का ही कारण है, इसलिए उसको अकाम निर्जरा कहा है। बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो मे भी अज्ञान-पूर्वक की जाने वाली क्रिया से परंपद या निर्वाण प्राप्ति का निषेध किया गया है। गीता में भी निष्काम कर्म करने का आदेश दिया गया है। अस्तु, ज्ञान शून्य एवं कामना युक्त किया जाने वाला तप मुक्ति का साधन नही होने से अकाम निर्जरा की कोटि मे गिना गया है।

सम्यग् ज्ञान पूर्वक विना किसी तरह की चाह के किया जाने वाला तप मुक्ति का साधन है। इससे अशुभ कर्मो की निर्जरा होती

है। इस तरह आत्मा संवर से नए कर्मों के आगमन को रोकती है और उक्त तप से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा करती है, अतः फलस्वरूप एक दिन वह कर्म बंधनों से सर्वथा मुक्त हो जाती है। अत. उक्त प्रक्रिया को सकाम निर्जरा कहते है।

सम्यक् ज्ञान पूर्वक किया जाने वाला तप दो प्रकार का है— १ बाह्य और २ आभ्यंतर। बाह्य तप के ६ भेद है— १ अनशन, २ अनौदर्य, ३ भिक्षाचरी, ४ रस - परित्याग, ५-कायक्लेश और ६ प्रतिसंलीनता तप।

१ अनशन– एक दिन, दो दिन या उससे अधिक दिन या जीवन पर्यन्त के लिए आहार-पानी का त्याग कर देना। इसके अतिरिक्त गर्म पानी को पीकर भी अनशन किया जाता है, इस प्रकार के अनशन को तिविहार अनशन कहते हैं, इसमे अशन—रोटी, चावल, सब्जी आदि, खादिम— बादाम-पिश्ता आदि मेवा या फल, स्वादिम— इलायची, सुपारी, पान आदि पदार्थों का त्याग होता है। जिस अनशन मे पानी का भी त्याग कर देते हैं, उसे चउविहार अनशन कहते है।

२ अनौदर्य– भूख से कम खाना। यदि ३२ ग्रास की भूख है फिर भी वह ८ ग्रास खाकर संतोष करता है, तो वह $\frac{3}{4}$ भाग अनौदर्य तप करता है, इसी तरह १६ ग्रास, २४ ग्रास खाता है, तो वह क्रमश. $\frac{1}{2}$ और $\frac{1}{4}$ भाग अनौदर्य तप करता है और यदि वह एक ग्रास भी कम खाता है, तब भी उसे अनौदर्य तप कहते हैं।

३ भिक्षाचरी– कई घरो मे से निरवद्य और एषणिक भिक्षा ला कर उसमे सन्तोष करना भिक्षाचरी तप कहलाता है।

४ रस परित्याग– दूध, दही, घी, मक्खन, मिष्ठान आदि रसो का त्याग करने का नाम रस परित्याग तप है।

५ कायक्लेश– सर्दी मे नग्न बदन होकर छाया मे बैठना तथा गर्मी में खुले शरीर धूप मे आतापना लेना कायक्लेश तप है।

६-प्रतिसलीनता- मर्यादा से कम वस्त्र रखना प्रतिसलीनता तप कहलाता है।

इसी तरह आभ्यन्तर तप के भी ६ भेद हैं— १ प्रायश्चित, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ ध्यान, ५ स्वाध्याय और ६ कायोत्सर्ग।

१ प्रायश्चित्त– भूल से या जानकर हुए दोषो की निःशल्य भाव से आलोचना करके प्रायश्चित्त स्वीकार करना और फिर से वह भूल न हो, इसके लिए सावधान रहना प्रायश्चित्त तप है।

साधु के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी साधना मे सदा सावधान होकर विवेक पूर्वक गति करे। फिर भी छद्मस्थ अवस्था के कारण कभी भूल एवं गलती हो जाना स्वाभाविक है। क्योकि साधक भी आखिर इन्सान है, मनुष्य है। इसलिए वह प्रमादवश गलती कर बैठता है। उस समय उसके लिए बताया गया है कि वह उस भूल को छिपाए नही, बल्कि गुरु या दीक्षा मे अपने से बडे मुनि के पास आलोचना करके प्रायश्चित्त स्वीकार कर ले। चाहे कितनी भी बडी गलती क्यो न हो सच्चा साधक उसे छिपाता नही। छिपाना गलती करने की अपेक्षा अधिक भयकर पाप है। उससे झूठ आदि दोषो को पनपने का प्रश्रय मिलता है, इसलिए छुपाना महापाप माना गया है और पता लगने पर भूल की अपेक्षा भी उस छुपाने की भावना का अधिक प्रायश्चित्त बताया गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आलोचना–प्रायश्चित्त को तप कहा गया है। इसका कारण यह है कि इससे हृदय मे निष्कपटता की भावना उद्बुद्ध होती है, सत्य का प्रकाश फैलता है और आत्मा मे

निर्भतया की उज्ज्वल एव निर्मल धारा प्रवहमान होती है,जिसके प्रवाह में पाप कर्म की कालिमा वह जाती है। ऊपर से यह तप मालूम नही होता है, क्योकि इसमे शरीर को जोर नही लगता। परन्तु अपनी भूल को स्वीकार करने मे आत्मा को मजबूत एवं पवित्र बनाना होता है और मन एव बुद्धि पर जबरदस्त कन्ट्रोल करना पड़ता है। इसलिए इसे आभ्यन्तर तप कहा है।

२ विनय– वय मे, गुणो मे, दीक्षा मे वृद्ध या बड़े मुनियो का आदर-सम्मान करना तथा अपने से छोटे साधुओ के साथ प्रेम-स्नेह का व्यवहार रखना विनय तप कहलाता है।

३ वैयावृत्य– अपने से वड़े व्यक्तियो की, गुरु की, वृद्ध की, बीमार की एव नवदीक्षित साधु की सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य तप कहलाता है। सेवा-शुश्रूषा मे भी मन पर कन्ट्रोल करना पडता है, सहिष्णुता रखनी पडती है। इसलिए इसे भी आभ्यन्तर तप कहा है।

४ ध्यान– एकाग्र मन से सीखे हुए तत्त्वो का चिंतन-मनन करना। इस मे शरीर की अपेक्षा मन एव वचन योग की वृत्ति पर अधिक कन्ट्रोल करना पडता है। शरीर एव वचन को स्थिर करना फिर भी सहज है, परन्तु मन को एकाग्र करना, चिन्तन में लगाना सबसे अधिक कठिन है और उसके एकाग्र बने विना ध्यान एव चिन्तन हो नही सकता। इसलिए इसे भी आभ्यन्तर तप कहा है।

५ स्वाध्याय– पढे हुए ज्ञान का, शास्त्रो का तथा साहित्य का अवलोकन करना। स्वाध्याय शब्द का वास्तविक अर्थ है— स्व+अ-ध्याय अर्थात् अपना—आत्म स्वरूप का अध्ययन-चिन्तन करना। आत्म स्वरूप को जानने का नाम स्वाध्याय है अर्थात् जिस साहित्य से आत्म स्वरूप का बोध होता हो या उस ओर आत्मा की प्रगति होती

हो, उसका वाचन करना भी स्वाध्याय कहलाता है। इसमे भी चित्त वृत्ति को एकाग्र करना पडता है।

६ कायोत्सर्ग– इस शब्द का शाब्दिक अर्थ है— शरीर का त्याग कर देना। परन्तु, इसका यह तात्पर्य नही है कि मर जाना। शरीर-त्याग का मतलब है–उस पर से ममत्व–आसक्ति हटा लेना।

इस तरह बाह्य और आभ्यन्तर तप के १२ भेद होते हैं। तप निर्जरा का कारण है, अत. निर्जरा के भी उक्त १२ भेद माने गए है।

मोक्ष तत्त्व

बन्ध एव बन्ध के कारणो का सर्वथा अभाव एव बधे हुए कर्मो का आत्यन्तिक क्षय होने का नाम मोक्ष है। जब आत्मा सवर के द्वारा कर्मो का आगमन रोक देती है और निर्जरा के द्वारा पूर्व सचित कर्मो का सर्वथा क्षय कर देती है, तब वह कर्म जन्य सूक्ष्म एव स्थूल दोनो तरह के शरीरो से रहित होकर ऊर्ध्व गमन करती है और लोक के अत भाग मे जाकर सदा के लिए स्थित हो जाती है। यह हम पहले अजीव तत्त्व के विवेचन मे बता चुके हैं कि अलोक मे जीव या पुद्गल कोई पदार्थ गति नही कर सकता है। क्योकि वहा धर्मास्तिकाय का अभाव है और उसके अभाव मे जीव या पुद्गल गति नही कर सकता है। इस लिए सिद्ध लोक के अत मे स्थित रहते हैं, अलोक मे नही जा सकते हैं।

मोक्ष शाश्वत है

कुछ विचारक यह तर्क देते हैं कि मोक्ष शाश्वत नही है। क्योकि कर्मो के सर्वथा नष्ट होने पर उसका निर्माण होता है और जिस वस्तु का निर्माण होता है, उसका एक दिन विनाश भी अवश्य होता है। अत मुक्त अवस्था भी सदा नही रह सकती।

यह सत्य है कि जिस वस्तु का निर्माण होता है उसका नाश भी होता है। परन्तु मोक्ष के लिए ऐसा कहना गलत है। क्योंकि मोक्ष का कभी निर्माण नहीं हुआ, न कभी होता है और न कभी होगा। मोक्ष कोई आत्मा की नई अवस्था नहीं है, जिसका अभिनव निर्माण हो। आत्मा अनादि काल से कर्मों से आवृत्त होने के कारण संसार में परिभ्रमण करती है, अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल वेदनाओं का संवेदन करती है। उस कर्म आवरण को हटा देने का नाम मुक्ति या मोक्ष है। अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का नाम ही मोक्ष है और वह स्वरूप अनादि काल से चला आ रहा है। संसार अवस्था में आत्मा का जो स्वरूप था, उसमें और मोक्ष अवस्था के स्वरूप में कोई अंतर नहीं रहता है। संसार अवस्था में वह कर्मों से आवृत्त थी और मुक्त अवस्था में आवरण रहित हो जाती है। मुक्ति में वही आत्म स्वरूप रहता है, उसका अभिनव निर्माण नहीं होता है। अतः उसकी शाश्वतता में कोई दोष आने का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः संसार परिभ्रमण का मूल कारण है— राग-द्वेष या कषाय जिससे कर्म बंध होता है और मुक्त अवस्था में राग-द्वेष या कषाय का अभाव है, अतः मोक्ष में स्थित आत्मा संसार में फिर से जन्म नहीं लेती। वृक्ष तभी तक अंकुरित, पुष्पित एवं फलित होता है जब तक उसका बीज सुरक्षित रहता है। बीज के जल जाने पर उस दग्ध बीज में अंकुर पैदा नहीं हो सकता। इसी तरह जिस आत्मा ने राग-द्वेष रूप संसार में परिभ्रमण कराने वाले बीजों का नाश कर दिया है, वे आत्माएं कभी भी जन्म ग्रहण नहीं करती हैं।

जैनों की यह मान्यता है कि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि काल से है और अनादि संबंध सदा स्थायी होता है। फिर यह कैसे

माना जा सकता है कि आत्मा कर्म वन्धनो को तोड कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाती है ?

इसका उत्तर यह है कि जैनो ने कर्म और आत्मा का अनादि काल से जो सबध माना है, वह प्रवाह की दृष्टि से माना है, न कि व्यक्ति की दृष्टि से। यह हम ऊपर बता चुके है कि आवद्ध कर्म अपने समय पर उदय मे आते है और फल देकर आत्म प्रदेशो से अलग हो जाते है, परन्तु कर्म बध का प्रवाह चालू होने से उसके स्थान मे दूसरे कर्मो का बध हो जाता है। इस तरह जब तक सवर के द्वारा आत्मा कर्मो के आगमन को रोक नही देता है, तब तक प्रतिसमय पुराने कर्मो की निर्जरा होती है और नए कर्म आते रहते है। इस प्रकार आत्मा सदा कर्मो से आवृत ही रहता है, एक समय भी ऐसा नही जाता है कि जिस मे कर्मो का आवागमन नही होता हो। अतः प्रवाह की दृष्टि से कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से लगे हुए है। परन्तु व्यक्ति की दृष्टि से प्रत्येक कर्म बध का समय निश्चित है, अत वह सादि है और सादि होने के कारण उसका नाश भी होता है या किया जा सकता है। आत्मा पहले सवर के द्वारा नए कर्मो का आगमन रोकती है और फिर निर्जरा के द्वारा पहले बाधे हुए कर्मो का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करती है। इस तरह कर्मो का आत्यन्तिक क्षय करके आत्मा सदा-सर्वदा के लिए कर्म बधन एव तज्जन्य साधनो एव फल भोग से सर्वथा मुक्त हो कर निर्वाण पद को प्राप्त कर लेती है और वहा सदा काल शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित रहती है।



जैन धर्म का अनादित्व

चतुर्थ अध्याय

प्रश्न– जैन धर्म का उद्भव कब हुआ ? इस के संस्थापक कौन थे ? यह प्राचीन है या अर्वाचीन है ? यदि प्राचीन है, तो उसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर– आगमो मे बताया गया है कि जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। बीते हुए अनन्त-अनन्त काल मे अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, जिन्होंने साधना के द्वारा स्वयं मुक्ति को प्राप्त किया और भव्य प्राणियों को भी निर्वाण का मार्ग बताया। श्री नन्दी सूत्र में कहा गया है कि तीर्थंकरों द्वारा परूपित द्वादशांगी गणिपिटक अनादि-अनन्त है। *

* द्वादशांगी गणिपिटक की अनादि-अनन्तता सापेक्ष दृष्टि से है। सादि-सान्तता और अनादि-अनन्तता के चार भेद किए गए है– १ द्रव्य, २ क्षेत्र, ३ काल और ४ भाव।

द्रव्य से एक पुरुष— अमुक तीर्थंकर के शासन में उक्त तीर्थंकर द्वारा परूपित होने से गणिपिटक सादि-सान्त है और अनेक पुरुषों—तीर्थंकरो द्वारा परूपित होने के कारण वह अनादि-अनन्त है।

क्षेत्र से ५ भरत, ५ ऐरावर्त्त की अपेक्षा से गणिपिटक सादि-सान्त है। क्योंकि उक्त क्षेत्रों में सदा काल तीर्थंकर नहीं होते और ५ महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है। वहां सदाकाल तीर्थंकर होते हैं, वहा कभी भी तीर्थंकरों का अंतर नहीं पड़ता है।

क्योकि इतने लम्बे काल मे एक भी समय ऐसा नही आया, जबकि द्वादशागी गणिपिटक का अस्तित्व न रहा हो। वह सदा काल विद्यमान रहा है। उपदेश की दृष्टि से भले ही हम यह कह सकते हैं कि जिस समय जो तीर्थंकर होते हैं, वे द्वादशागी का उपदेश देते हैं, इससे सभी तीर्थंकर उसके उपदेष्टा है, परन्तु निर्माता नही है। क्योकि अनादि काल से वह निर्बाध गति से प्रवहमान है। और सभी उपदेष्टाओ के चिन्तन मे एक रूपता होने के कारण उसमे बताया गया आचार और विचार रूप त्रैकालिक सत्य भी एक ही होता है। जैसे– आचार मे सामायिक–समभाव की साधना प्रमुख है और विचार में अनेकान्त–स्याद्वाद या विभज्यवाद प्रमुख है। और आज तक हुए अनन्त-अनन्त तीर्थंकरो ने इसी त्रैकालिक सत्य का उपदेश दिया है, द्वादशागी गणिपिटक का मूलाधार सामायिक और अनेकान्त–स्याद्वाद ही है। इस त्रैकालिक सत्य के उपदेश की अपेक्षा से द्वादशागी गणिपिटक को अनादि-अनन्त कहा है। और जब उपदेश अनादि-अनन्त है, तो उसके

काल से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी की अपेक्षा से गणि पिटक सादि-सान्त है। क्योकि उक्त कालचक्र में कुछ समय ऐसा होता है, जिसमें तीर्थंकर नही होते, परन्तु जहां उक्त कालचक्र नही है, वहा की अपेक्षा से वह अनादि-अनन्त है।

भाव की अपेक्षा से तीर्थंकर भगवान ने द्वादशागी गणिपिटक की परूपणा की, गणवरो ने उसे धारण किया, अपने शिष्य-प्रशिष्यो को उसका उपदेश दिया, हेतु, दृष्टान्त, नय एव उपमा आदि के द्वारा समझाया, इस अपेक्षा से वह सादि-सान्त है और क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से वह सदा स्थित रहता है, अत. अनादि-अनन्त है।

—नदीसूत्र, ४२ (मूल सुत्ताणि), पृष्ठ, ३०९।

उपदेष्टा तो स्वतः ही अनादि-अनन्त सिद्ध हो जाते हैं। और जब जैन धर्म के आगम एव आगमों के उपदेष्टा अनादि काल से विद्यमान हैं, तब फिर धर्म को अनादि काल से मानने में शका-संशय को जरा भी अवकाश नहीं रह जाता है।

—त्रैकालिक सत्य के उपदेश एव उपदेष्टा की अपेक्षा से जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इसलिए इसके उद्भव काल एव सस्थापक का पता लगाना असभव है। उसी वस्तु का उद्भव स्रोत ढूढा जा सकता है, जिसका निर्माण किसी काल विशेष मे हुआ हो। परन्तु, जो अनादि काल मे प्रवहमान है, उसका समय खोज निकालना इन्सान की शक्ति से बाहर है। फिर भी क्षेत्र, एव काल की अपेक्षा से हम धर्मोपदेशक का समय निकाल सकते हैं। जैन धर्म मे काल की गणना उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की अपेक्षा से की जाती है। उत्सर्पिणी मे मनुष्य आदि का शरीर, आयु, शक्ति आदि बढती है और अवसर्पिणी मे इन सबका ह्रास होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दस कोटा-कोटि सागरोपम की होती है। और उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी के मिले हुए २० कोटा-कोटि सागरोपम के काल को एक काल चक्र कहते है। ससार मे ऐसे अनन्त-अनन्त काल चक्र बीत चुके है और बीतते जा रहे है। वर्तमान काल चक्र मे अभी अवसर्पिणी काल का पञ्चम आरा चल रहा है। इस काल के तीसरे आरे के अतिम भाग मे अर्थात् करीब एक कोटा-कोटि सागरोपम पूर्व इसी भरत क्षेत्र मे भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ था। ये इस काल और इस क्षेत्र की अपेक्षा से पहले तीर्थंकर या धर्मोपदेष्टा थे। उन्होंने यहा सब से पहले चार तीर्थ की स्थापना की, धर्म का मार्ग बताया। उनके बाद २३ तीर्थंकर और हुए, जिन्होंने उसी त्रैकालिक सत्य—आचार और विचार रूप

सामायिक धर्म एव अनेकान्त दृष्टि का उपदेश दिया। भगवान महावीर अन्तिम अर्थात् २४ वे तीर्थंकर थे। इसलिए वर्तमान मे उपलब्ध आगम भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित माने जाते है। क्योकि वे ही हमारे निकट काल मे हुए है।

इस तरह हम जैनागमो एव जैन इतिहास की दृष्टि से देख चुके है कि जैनधर्म कोई अभिनव धर्म नही, अपितु प्राचीन धर्म है और वह भी इतना प्राचीन है कि उसके मूल स्रोत तक पहुचने की शक्ति किसी भी ऐतिहासिक व्यक्ति मे नही है। अब हम जैनेतर ग्रथ एव विचारको के आधार पर विचार करेगे कि उनकी दृष्टि मे भी जैनधर्म अर्वाचीन नही प्राचीन ही है।

वैदिक परपरा का विश्वास है कि वर्तमान मे उपलब्ध साहित्य मे वेद सबसे प्राचीन है। हम यहा इस बात की सत्यता एव असत्यता को जाचने मे समय न लगाकर, इस बात पर विचार करेगे कि उसमे भी अपने युग के पूर्व से चले आ रहे जैनधर्म के सबध मे उल्लेख मिलता है या नही ? क्योकि यदि वेद प्राचीनतम साहित्य है, तो उसमे उल्लिखित धर्म एव धार्मिक व्यक्ति उससे भी प्राचीन स्वत सिद्ध हो जाते है। क्योकि प्रत्येक लेखक अपने ग्रथ मे उन्ही व्यक्तियो, धर्मो एव रीति-रिवाजो के सबध मे लिखता है, जो उसके समय से पहले हुए हो या उसके काल मे विद्यमान हो। इसी अपेक्षा से हम यह निसन्देह कह सकते है कि जैनधर्म वेदो से भी प्राचीन है। क्योकि वेदो मे भी जैनधर्म एवं उसके उपदेष्टा तीर्थंकरो का उल्लेख मिलता है। और यह बात प्राय पूर्वीय एव पाश्चात्य सभी निष्पक्ष विद्वानो एव ऐतिहासिको को मान्य है कि जैनधर्म वैदिक धर्म की शाखा नही, बल्कि एक स्वतत्र एव मौलिक धर्म है और वह वेद युग से भी पहले भारत मे विद्यमान

रहा है। ‡

भगवान ऋषभदेव वर्तमान काल के प्रथम तीर्थंकर हैं। विष्णु पुराण मे भी ऋषभदेव के जीवन का उल्लेख किया गया है। उस मे लिखा है कि 'नाभिराज की महारानी मरुदेवी की कुक्षि से महामना ऋषभदेव पुत्र रूप मे जन्मे। उनके सौ पुत्र थे, जिनमे भरत सबसे ज्येष्ठ पुत्र था। न्याय और बुद्धि पूर्वक राज्य करने के पश्चात् ऋषभदेव ने पृथ्वी का राज्य भरत को दे दिया था, आदि। §

वैदिक परंपरा द्वारा मान्य प्राचीन ग्रंथ श्री भागवत पुराण में भगवान ऋषभदेव के जीवन का विस्तार से वर्णन मिलता है। उसमे लिखा है कि ऋषभदेव अर्हन् का अवतार रजोगुण- युक्त मनुष्यों को मोक्ष मार्ग दिखाने के लिए हुआ है। $

भागवत पुराण मे जिस ऋषभदेव का वर्णन मिलता है, वह जैनों के ऋषभदेव के अतिरिक्त और कोई नही है। विल्सन ने विष्णु पुराण में भागवत पुराण की टिप्पण देते हुए लिखा है—"उसमे ऋषभदेव की तपस्या का विस्तार से वर्णन दिया गया है। इतना ही नही, बल्कि अन्य किसी पुराण मे उपलब्ध नही होने वाली बाते भी उसमे विशिष्ठ रूप से वर्णित है। इसमे ऋषभदेव के विहार—भ्रमण के दृश्यो का

---

‡ विष्णु पुराण और भागवत पुराण आदि वैदिक साहित्य के इन सब उल्लेखो से हम (डॉ याकोबी) इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि जैनो की कथा में कुछ ऐतिहासिकता है, जो ऋषभदेव को जैनो का पहला तीर्थंकर मानती है।

—इण्डि. एण्टी, (डा. याकोबी) पृष्ठ १६३।

§ विष्णु पुराण (विल्सन) पृष्ठ १६३।

$ अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः।

—भाग० स्कंध ५, अध्याय ६।

वर्णन सबसे रोचक है। जैसे—कोंक, बंकाट, कटुक और दक्षिण कर्नाटक तथा द्वीप कल्प के पश्चिमी भाग का रोचक वर्णन है और यह भी संकेत कर दिया गया है कि उक्त देशो के लोगो द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लिया गया था। †

ऋषभदेव के अतिरिक्त पाचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के सबध में भी भागवत मे उल्लेख मिलता है कि "वह कितने ही नास्तिको द्वारा देव-रूप मे पूजित होगा।" इसके सिवाय भगवान नेमीनाथ कृष्ण के चाचा और जैनो के बाइसवें तीर्थंकर हैं और उग्रसेन की पुत्री राजमती के कारण कृष्ण की कथा से सबद्ध हैं, का भी उल्लेख मिलता है। *

वैदिक परपरा के प्राचीन ग्रथो में ऋगवेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान ऋषभदेव के सबध मे उसमे उल्लेख मिलता है। एक जगह लिखा है—

"तू अखण्ड पृथ्वीमडल का सार त्वचा रूप है, पृथ्वीतल का भूषण है और दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। हे ऋषभनाथ सम्राट! इस ससार मे जगरक्षक व्रतो का प्रचार करो। ‡

भगवान ऋषभदेव के निर्वाण स्थान के संबंध में उल्लेख करते हुए शिव पुराण मे लिखा है— "विश्व का कल्याण करने वाले सर्वज्ञ

† विष्णुपुराण (विल्सन) पृष्ठ १६४, टिप्पण।

* इण्डि० एण्टी, (डा. याकोबी) पृष्ठ १६३।

‡ आदित्या त्वगसि आदित्य सदासीद्, अस्तभ्नादद्या वृषभो तरिक्ष जमिमीते वरिमाणम्। पृथिव्या आसीत् विश्वा भुवनानि, सम्राट् विश्वे तानि वरुणस्य व्रतानि। —ऋगवेद ३० अ० ३।

जिनेश्वर भगवान ऋषभदेव कैलाश पर्वत पर मुक्ति को प्राप्त हुए। §

शिव पुराण के प्रस्तुत श्लोक मे ऋषभदेव के लिए जिनेश्वर विशेषण का प्रयोग किया गया है और जिनेश्वर शब्द जैन तीर्थंकर या अर्हन्त के लिए प्रयुक्त होता है। जैनो की मान्यता के अनुरूप ही शिव-पुराण मे भगवान ऋषभदेव का निर्वाण कैलाश पर्वत पर माना गया है। इस सबध मे जैन साहित्य एव शिव पुराण दोनो में एक समान उल्लेख मिलता है।

भारतीय साहित्य मे 'योगवशिष्ठ' ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ मे वशिष्ठ जी ने भगवान राम को धर्मोपदेश दिया है। उक्त ग्रन्थ मे एक स्थान पर भगवान राम की आन्तरिक कामना का चित्रण करते हुए भगवान राम के मुख से कहलाया है कि "मैं राम नही हूं। मुझे किसी वस्तु की चाह नहीं है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि जिनेश्वर देव की तरह अपनी आत्मा मे शान्ति लाभ प्राप्त करू। *

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म भगवान राम से भी पूर्व मे विद्यमान था। यदि भगवान राम के समय मे या उसके पहले जिनेश्वर भगवान का अस्तित्व नही होता, तो राम के मन मे उनका स्मरण करने की भावना ही कैसे जगती ? परन्तु राम के मन मे जिनेश्वर भगवान की तरह शान्ति प्राप्त करने की जो भावना उद्बुद्ध हुई, उस

§ कैलाशे पर्वते रम्ये, वृषभोऽय जिनेश्वर:।
चकार स्वावतार च, सर्वज्ञ: सर्वग: शिव:॥

—शिवपुराण, ५९।

* नाहं रामो न मे वाञ्छा, भावेषु न मे मन:।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

—योगवशिष्ठ।

से उस समय भी जैनधर्म के होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इतिहासकार राम के युग को ११ लाख वर्ष पूर्व मानते है। इस से जैनधर्म ११ लाख वर्ष से भी पूर्व था, यह स्वत सिद्ध हो जाता है।

यजुर्वेद मे भगवान नेमिनाथ का वर्णन मिलता है । एक मत्र मे लिखा है कि "भाव यज्ञ को प्रकट करने वाले, ससार के सब जीवो को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से सब जीवो की आत्मा बलवान होती है, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिए आहुति समर्पित है।" *

प्रभास पुराण मे भी लिखा है, "पवित्र रैवताचल (गिरनार) पर्वत पर नेमिनाथ जिनेश्वर हुए, जो कि ऋषियो के आश्रयभूत और मोक्ष के कारण थे। §

जैन भी यही मानते हैं कि भगवान नेमिनाथ का निर्वाण गिरनार (रैवताचल) पर्वत पर हुआ था।

नागपुराण मे भगवान ऋषभदेव का जैनागमो मे प्रयुक्त आदिनाथ नाम भी मिलता है और उनके नाम स्मरण की महिमा का भी उल्लेख किया गया है। उक्त प्रसग मे लिखा है कि "जो फल ६८ तीर्थो की यात्रा करने से होता है, वह फल आदिनाथ भगवान का नाम स्मरण करने से होता है।"$

---

* वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा च विश्व भुवनानि सर्वतः। स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजा पुष्टि वर्द्धयमानो अस्मै स्वाहा —यजुर्वेद ९,२५

§ रेवताद्रौ जिनो नेमियुगादिर्विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रयादेव मुक्ति मार्गस्य कारणम् । —प्रभास पुराण ।

$ अष्ट षष्टिषु तीर्थेषु, यात्राया यत्फल भवेत् ।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत् ।। —नाग पुराण

वेदो एव पुराणो मे यत्र-तत्र जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध मे अनेको उदाहरण मिलते है। और भी प्रमाण दिए जा सकते है, परन्तु विस्तार भय से अधिक उदाहरण न दे कर, अब हम कुछ आधुनिक विद्वानो के विचारो का अवलोकन करेगे कि उन्होने जैन-धर्म के सम्बन्ध मे क्या कहा है।

डा० शार्पेटियर ने लिखा है कि "मथुरा के जैन शिला लेखो की परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि इन मे गृहस्थ भक्तो द्वारा ऋषभ-देव को अर्घ्य अर्पित किए जाने का उल्लेख है।‡ इस के अतिरिक्त वहुत से शिलालेखो मे केवल एक अर्हन्त को ही नही, अपितु अर्हन्तो का उल्लेख है।† भले ही उन शिलालेखो मे राजाओ के नाम न खुदे हो, फिर भी सब इण्डो-सिदियन काल के हैं ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है। और यदि कनिष्क एव उनके वशजो का काल शक युग ही माना जाता हो, तो ये लेख पहली और दूसरी सदी के मालूम होते हैं। इस से स्पष्ट होता है कि जैनधर्म के सस्थापक महावीर नही थे। यह उन से भी पहले था, इसमे अनेक तीर्थंकर हो चुके हैं।§

डा० याकोबी लिखता है कि यदि हम तीर्थकरो की वात को छोड भी-दे, तव भी हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थो मे हमे जैन तत्त्व-ज्ञान के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र जिसे तेलाग और

‡ प्रीयताम्भगवानृषभश्री., अर्थात्—भगवान ऋषभ देव प्रसन्न हो।
—एपी०, इण्डि०, पुस्तक १, पृ० ३८६।

† नमो अरहत्ततानं, अथवा अर्हन्तो को नमस्कार हो,
—वही, पृ० ३८३।

§ वही, पृ० ३७१।

अन्य विद्वानो ने ईसा पूर्व चौथी सदी की प्राचीन रचना माना है, मे स्याद्वाद और आत्मा सवन्धी जैनधर्म की मान्यता का खण्डन किया गया है। इस के अतिरिक्त महाभारत, मनुस्मृति, शिवसहस्र, तैत्तरीय आरण्यक, यजुर्वेद सहिता और अन्य हिन्दू शास्त्रो मे जैन धर्म सम्वन्धी हमे अनेक उल्लेख प्राप्त होते है।‡

डा० शार्पेटियर कहता है कि तथ्यो के सामन्य विचार की दृष्टि से यह वक्तव्य विश्वस्त माना जा सकता है कि शास्त्र का प्रमुख भाग महावीर और उनके निकटस्थ अनुयायियो ने तैयार किया था, अत. इसके अतिरिक्त एक दूसरी परपरा भी है, वह यह है कि पूर्वो की रचना स्वय महावीर ने की थी और अगो की रचना उनके गणघरो ने की थी।*

इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर और उनके उत्तराधिकारी गणधर आगम साहित्य के कर्ता हैं। जव यह कहा जाता है कि महावीर आगम के कर्ता थे, तो उसका यह अर्थ नही है कि ये शास्त्र उन के ही लिखे हुए हैं। किन्तु, उस का तात्पर्य यह है कि जो कुछ लिखा गया है,उस का उपदेश उन्हो ने दिया था। क्योकि भारतवर्ष मे कर्तृत्व मुख्यरूप से वस्तु पर से ही माना जाता है। जव तक कि भाव वही हो तो शब्द किस के है, यह वात अप्रासगिक मानी जाती है। फिर जैन-साहित्य की कुछ विशिष्टताओ के कारण हम देख

‡ Sacred Book of the East, Vol 8, P. 32 और अमेरिकन ओरियटल सोसायटी पत्रिका, सख्या ३१ पृ० २९; डा: याकोवी का लेख।

* Sacred Book of the East, Vol. 22, Introduction P. 45

सकते हैं कि धर्म की भाति आगम साहित्य मे वर्धमान और उन के समय के पहले तक का भी अनुसन्धान मिलता है। इस से हम कह सकते हैं कि जैन धर्म महावीर से भी बहुत पहले का है।‡

प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्रो. नागेन्द्र नाथ वसु अपने हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग के ६४वे पृष्ट पर लिखते हैं—

"ऋषभदेव ने ही सम्भवत लिपि विद्या के लिए लिपि-कौशल का उद्भावन किया था। ऋषभदेव ने ही सम्भवत ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया था।"

महामहोपाध्याय डा० श्री सतीश चन्द्र विद्याभूषण प्रिन्सिपल सस्कृत कालेज कलकत्ता ने कहा है, "जैनधर्म तब से ससार मे प्रचलित है, जब से ससार मे सृष्टि का आरम्भ हुआ है। मुझे इस मे किसी बात का उज्र नही कि यह वेदान्त आदि दर्शनो से पूर्व का है।

इतिहास शास्त्र के सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जर्मन विद्वान् डाक्टर जेकोबी ने लिखा है, "जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नही है। इसीलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धर्मपद्धति का अध्ययन करने वालो के लिए बडे महत्त्व की चीज़ है।"

मेजर जनरल फर्लांग ने लिखा है, "जैनधर्म बहुत पुराना भारतीय धर्म है। इस के आरम्भ का पता लगाना कठिन है। ओकसियाना, कासबिया, बलख, समरकन्द मे भी फैला हुआ था। सन् ईस्वी से अनगिनत वर्ष पूर्व जब भारत मे द्रविड लोग राज्य करते थे, तब यह तत्त्वज्ञानपूण धर्म फैला हुआ था। आर्य लोगो के गगा

‡ कल्पसूत्र (स. डा याकोबी) पृष्ठ, १५।

व सरस्वती नदी तक आने के बहुत पूर्व जैन तीर्थंकरो की शिक्षा यहां फैली हुई थी। ''*

प्रसिद्ध प्रोफैसर सर डॉक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है, " जैन पुराणो मे ऋषभदेव को धर्म का सस्थापक कहा है । इस बात के प्रमाण मिले है कि सन् इस्वी से १०० वर्ष पूर्व लोग ऋषभदेव की पूजा किया करते थे, जो पहले जैन तीर्थंकर है । इस मे कोई सन्देह नही है कि जैनधर्म श्री वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले फैला हुआ था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजित व अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरो के नाम प्रसिद्ध हैं। 'भागवत पुराण' भी कहता है कि श्री ऋषभ ने जैनधर्म को स्थापित किया था। ''†

स्वतत्र भारत के प्रथम गवर्नर जनरल राजगोपालाचार्य ने भी अपने एक प्रवचन मे कहा है, ''जैनधर्म प्राचीन है और उस का विश्वास अहिंसा मे है। ''

उक्त सब विद्वान अजैन है और प्राय सब पक्के वेदानुयायी है, तथापि इन्होने अपने सच्चे एव निष्पक्ष हृदय से जैन धर्म का अस्तित्व प्राचीन और वेदो से पूर्व का स्वीकार किया है। उक्त विद्वानो के उद्गारो से स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है कि जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म हैं, वेदो से भी बहुत प्राचीन है और भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म है। इस के अतिरिक्त योगवशिष्ट मे जिन का, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३२ मे जैनधर्म के स्याद्वाद का, अग्नि-पुराण अध्याय १६ मे अर्हत् का, शिवपुराण मे श्वेताम्बर जैन साधुओ के वेष का वर्णन भी

* The Short Studies in Science Co-operative Religion.

† Indian Philosophy (Dr. Radhakrishanan).

उपलब्ध होता है। इन सब वर्णनो से मालूम होता है कि योगवशिष्ठ, महाभारत तथा पुराण काल से पहले जैनधर्म प्रचलित था।

जैन इतिहास के अनुसार भरत चक्रवर्ती जैन थे। राम, लक्ष्मण, भगवती सीता जैन थे। कृष्ण, वलभद्र, सत्यभामा, रुक्मणी आदि सव जैन धर्म के अनुयायी थे। इसी तरह महावली पाण्डव और सती द्रौपदी भी जैन धर्म के महापथ के पथिक थे। किन-किन के नाम लिखे जाए, भारत की वडी-वडी विभूतिया जैनधर्म को मानती थी। इस से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म भारत का व्यापक धर्म था।

प्रश्न– कई विचारक कहते हैं कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है, क्या यह सत्य है?

उत्तर– इतिहासवेत्ता जैनधर्म के आदिकाल को खोजने मे प्रयत्नशील है। कुछ विचारक जैनधर्म के मूल ग्रन्थो को देखे विना ही इधर-उधर के ग्रन्थो मे जैनधर्म के सबध मे लिखी हुई वातो के आधार पर कल्पना करने लगते हैं। महात्मा बुद्ध और भगवान महावीर समकालिक थे और दोनो ने याज्ञिक हिंसा, जातिवाद एवं वर्गभेद का विरोध किया था। इस से कई विचारको को यह भ्रम हो गया कि महात्मा वुद्ध के वाद जैन धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु, जब पाश्चात्य एव भारतीय विद्वानो ने जैन ग्रन्थो एव आगमो का अनुशीलन–परिशीलन शुरु किया और उन पर गहराई से चिन्तन-मनन करने लगे तो उन्हे यह स्पष्ट हो गया कि जैन धर्म वौद्ध या वैदिक धर्म की शाखा नही है, वह एक स्वतन्त्र एव मौलिक धर्म है और वैदिक काल से पहले भी उसका अस्तित्व रहा है। § बहुत से विचारको ने भगवान ऋषभदेव

§ इस पर पीछे के पृष्ठो पर विस्तार से वर्णन कर चुके है।

को जैनधर्म का प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया है। भगवान महावीर से पूर्व हुए २३वे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को सभी विचारक ऐति-हासिक व्यक्ति मानने लगे है। † इसमे अब किसी को सन्देह नही रह गया है। अत इससे स्पष्ट होता है कि जैनधर्म भगवान महावीर और बुद्ध से भी पहले था। इसलिए जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नही, बल्कि उस के अस्तित्व काल के पहले से चला आ रहा है।

डॉ० याकोबी कहता है कि "निग्रन्थो का उल्लेख बौद्धो ने अनेक बार किया है। यहां तक कि पिटको के प्राचीनतम भाग मे भी निर्ग्रंथो के सबध मे उल्लेख मिलता है। परन्तु बौद्धो के सबध मे स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जैन सूत्रो मे कही भी मेरे देखने मे नही आया है। जबकि उन मे जमाली, गौशालक आदि अन्य पाखण्डी धर्मा-चार्यो के विषय मे लम्बे-लम्बे कथानक मिलते हैं। क्योकि, बाद के समय मे दोनो धर्मो का पारस्परिक सबध जैसा हो गया था, उस से यह स्थिति एकदम विपरीत है। और दोनो धर्मो के समकालिक प्रा-रभ की हम लोगो की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध के समय में नया स्था-पित नही हुआ था। पिटको का अभिमत भी यही बताता है। क्योकि उसमे कही विरोधी सूचन नही मिलता। ‡

यह स्पष्ट है कि बौद्ध पिटको मे निर्ग्रन्थो का कई जगह वर्णन मिलता है और उनके 'चातुजाम धम्म अर्थात् चतुर्याम धर्म' का भी

† Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable

—Sacred Book of the East, Vol 45.
Introduction, Page, 21-33

‡ Sacred Book of the East, Vol 9, page 161.

उल्लेख मिलता है। चतुर्याम—चार महाव्रत रूप धर्म भगवान पार्श्वनाथ के युग तक था। भगवान महावीर ने पञ्चयाम या पाच महाव्रत रूप धर्म का उपदेश दिया था। जिसमे उन्होने ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो महाव्रतो को अलग-अलग कर दिया था। बौद्ध पिटको मे पांच महाव्रतों का कही उल्लेख नही मिलता, यत्र-तत्र चार याम धर्म का उल्लेख मिलता है। और यह चार याम धर्म भगवान पार्श्वनाथ के समय तक था। और भगवान पार्श्वनाथ बुद्ध मे पहले हुए हैं। और प्राय. सभी ऐतिहासिक विद्वान इस बात को मानते हैं कि बुद्ध ने पहले भगवान पार्श्वनाथ की परपरा मे दीक्षा स्वीकार की थी। उनके द्वारा स्वीकृत तप एव उस समय का उन का रहन-सहन इस बात को स्पष्ट बताता है कि पहले वे जैन धर्म की परपरा मे दीक्षित हुए थे। जो भी कुछ हो, जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नही है। वह बौद्ध धर्म से भी प्राचीन है। और यह बात जैन और बौद्ध साधुओ के आचरण एवं सैद्धांतिक मान्यताओं से भी स्पष्ट हो जाती है।

जैन साधु	बौद्ध भिक्षु
श्वेत वस्त्र पहनते है।	कषाय रंग के वस्त्र पहनते हैं।
पैदल घूमते हैं। किसी भी तरह की सवारी का उपयोग नही करते।	बौद्ध भिक्षुओ के लिए सवारी मे बैठने का प्रतिबन्ध नही है। वे खुले रूप मे सवारी करते हैं।
धन-धान्य आदि परिग्रह नही रखते और न किसी से स्वीकार ही करते हैं।	आवश्यकतानुसार पैसा रखने या लेने का विधान है। वर्तमान काल मे तो ये धन-सपत्ति का सग्रह भी करने लगे है।
कच्ची सब्जी का स्पर्श	कच्ची सब्जी तो क्या, मास खाने

तक नही करते ।	से भी परहेज नही करते ।
रात्रि को भोजन नही करते और न रात को पानी ही पीते है ।	रात्रि-भोजन या पानी आदि पीने पर कोई प्रतिवन्ध नही है ।

इस तरह दोनो सम्प्रदायो मे आचरण सवधी वहुत वड़ा अन्तर मिलता है। इसके अतिरिक्त दोनो सम्प्रदायो की सैद्धान्तिक मान्यताओ मे भी एक रूपता या समानता नही है ।

जैन धर्म	वौद्ध धर्म
अनेकान्तवाद को मानत्ता है ।	क्षणिकवाद को मानता है ।
जीव, अजीव, पुण्य-पाप आदि नव-तत्त्व को मानता है ।	दु ख, आयतन, समुदाय और मार्ग इन चार को मानता है ।
आत्मा के कर्ममल से रहित नित्तान्त शुद्ध स्वरूप को मोक्ष माना है ।	आत्मा के अस्तित्व के नाश को मोक्ष स्वीकार किया है। मोक्ष अर्थात् शून्य अवस्था ।

इस तरह आचार सवधी एव सैद्धातिक मान्यताओ मे दोनो परपराओ मे वहुत अन्तर है और इसी के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जैन धर्म वौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न है। इस के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानो ने भी जैन धर्म को स्वतन्त्र धर्म माना है और उसे वौद्धधर्म से पहले का स्वीकार किया है।

लोकमान्य,प० वालगगाधर तिलक अपने केसरी समाचार पत्र मे लिखते हैं,"महावीरस्वामी जैनधर्म को पुन प्रकाश में लाए,इस वात को आज २४०० वर्ष वीत चुके है। वौद्ध धर्म की स्थापना के पहले भी जैनधर्म भारत मे फैला हुआ था, यह वात विश्वास करने योग्य है। २४ तीर्थंकरो मे महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। इस से भी जेन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।"

वावू अम्बुजाक्ष सरकार एम ए, वी एड. लिखते है कि "यह अच्छी तरह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा नही है। महावीर स्वामी जैनधर्म के स्थापक नही हैं। उन्होने केवल प्राचीन जैनधर्म का प्रचार किया है।"

इन सव प्रमाणो से स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म वौद्ध या वैदिक धर्म की शाखा नही है। यह एक स्वतन्त्र धर्म है और ऐतिहासिको की पहुच एव वेद काल के पूर्व से चला आ रहा है। अत. जैन धर्म को वौद्ध धर्म की शाखा कहना या मानना असंगत और इतिहास से भी विरुद्ध है या यो कहिए कि सत्य को झुठलाना है। *

प्रश्न— हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास सं. ७५०से १७५०, लेखक डॉ. राम कुमार वर्मा, एम. ए.,पी. एच. डी., (प्रयाग विश्वविद्यालय) के सिद्ध साहित्य नामक विभाग में पृष्ठ ११८-११९ पर लिखा है— "जब वे (मत्स्येन्द्रनाथ)‡ सिंहलद्वीप गए तो वहां की रानी पद्मावती के रूप पर आसक्त होकर वहीं रहने लगे, तब गोरखनाथ को अपने गुरु के पतन की गाथा

* जैनधर्म की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले वेदवाक्य तथा ऐतिहासिक जैनेतर विद्वानो के अभिमत को और अधिक जानने के अभिलापियो को 'सत्यार्थदर्पण' लेखक— प अजित कुमार जैन, शास्त्री, प्राप्तिस्थान— मंत्री, साहित्यविभाग, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन सघ, चौरासी मथुरा, से प्रकाशित ग्रन्थ को देखना चाहिए।

‡ इन का दूसरा नाम मछन्दरनाथ था, ये श्री गोरखनाथ के गुरु माने जाते हैं।

मालूम हुई तो वे सिंहलद्वीप गए और वहां उन्होंने अपने [गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को रानी पद्मावती के अन्तःपुर में पाया। उन्होंने अपनी योगविद्या से स्मरण दिलाकर उनका विवेक जागृत किया। मत्स्येन्द्रनाथ को ज्ञान हुआ और वे रानी पद्मावती को छोड़ कर फिर योगारूढ़ हो गए। फिर वे पद्मावती से उत्पन्न अपने दोनों पुत्रों पारसनाथ और नेमिनाथ (जो आगे चलकर जैन तीर्थंकर हुए) को साथ लेकर नेपाल चले गए।

प्रस्तुत संदर्भ में पारसनाथ और नेमिनाथ को जैन तीर्थंकर लिखा है और उहें मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र स्वीकार किए हैं। क्या यह सत्य है?

उत्तर— यह बात नितात असत्य है और केवल साप्रदायिक ईर्ष्या वश जैनो का तिरस्कार करने की दृष्टि से ही सिद्ध साहित्य मे इसका उल्लेख किया गया है। मत्स्येन्द्रनाथ और भ० नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ मे कालगत साम्य भी नही है। मत्स्येन्द्रनाथ १३वी सदी मे हुए है †

† लक्ष्मीनारायणकृत "श्री ज्ञानेश्वर चरित्र" के हिन्दी अनुवाद के आधार से गोरखनाथ ज्ञानेश्वर के प्रपितामह अम्बकपन्त के समकालीन हुए है। अम्बक पन्त ने १२७० के लगभग गोरखनाथ का शिष्यत्व स्वीकार किया था। अतः गोरखनाथ का समय विक्रम की १३वी शताब्दी सिद्ध होता है। इस के अतिरिक्त डॉ रामकुमार वर्मा भी इन का समय १३वीं शताब्दी का मध्य भाग ही मानते है। और मत्स्येन्द्रनाथ गोरख नाथके समकालीन थ, अतः मत्स्येन्द्रनाथ का समय भी १३वी शताब्दी का मध्य भाग ही प्रमाणित होता है।

और भगवान नेमिनाथ और पार्श्वनाथ का समय विक्रम सवत के शुरु से भी बहुत पहले है। भगवान नेमिनाथ को ८५०० वर्ष से भी कुछ ऊपर हुए है और भ० पार्श्वनाथ को २७५०वर्ष बीत चुके है। भगवान पार्श्वनाथ भगवान महावीर से २५० वर्ष पहले हुए थे और भगवान महावीर के निर्वाण को २५०० वर्ष होने जा रहे है। ऐतिहासिक विद्वान भी इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं। इस पर हम पीछे के पृष्ठों पर विस्तार से लिख आए है। अत. यहा इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह उल्लेख केवल सांप्रदायिक- अभिनिवेश के वश किया गया है। साप्रदायिक नशे मे उन्मत्त हो कर मनुष्य कुछ का कुछ कह जाता है। वह इस से भी अधिक असत्य कह सकता है। वह उस समय सत्य-असत्य का कुछ भी ख्याल नही रखता अत हमे इस पर आश्चर्य नही होता, परन्तु हमे आश्चर्य एव दु ख इस बात का होता है कि इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० राम कुमार वर्मा इतनी गम्भीर एव अक्षम्य भूल कैसे कर गए?

यह कहा जा सकता है कि वर्मा जी ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कह कर सिद्ध साहित्य मे आई हुई घटना का उल्लेख मात्र किया है। यह बात मानी भी जा सकती है। भाषा विशेषज्ञ साहित्य का अनुसन्धान करते समय प्रत्येक साहित्य का उद्धरण देते रहे है। क्योकि.उन की दृष्टि ऐतिहासिक शोध की रही है। परन्तु, जिस उद्धरण मे उन्हे ऐतिहासिक एव साहित्यिक भूल प्रतीत होती है, उस पर वे टिप्पण लिखने से भी नही चूकते। यह सत्य है कि वे उद्धरण मे प्रत्येक साहित्यकार के शब्दो को ही उद्धृत करते है, उसमे जरा भी काट-छाट नही करते और करनी भी नही चाहिए। परन्तु, टिप्पण के द्वारा उस मे रही हुई असगति को दिखाकर पाठको के मन-मस्तिष्क को उस भूल

से बचा सकते हैं। और बडे-बडे सशोधक (Research Scholar) ऐसा ही करते हैं। साहित्यकार का मत कहा तक सही या गलत है, इस बात को वे ऐतिहासिक एव साहित्यिक प्रमाण दे कर स्पष्ट कर देते है। परन्तु, वर्मा जी ने प्रस्तुत प्रसग पर कोई टिप्पण नही दिया। वे इस बडे भारी असत्य को कैसे स्वीकार कर गए, यह हमारी समझ मे नही आया। आज इतिहास का साधारण पाठक भी इस बात को जानता है कि भगवान पार्श्वनाथ और नेमिनाथ का युग तो छोडिए, भगवान महावीर का युग भी मत्स्येन्द्रनाथ से १२ सदी पहले का है। हम यह नही मान सकते कि यह भूल वर्मा जी के ध्यान मे नही आई हो। हा, यह हो सकता है कि उन्होने सोचा हो कि जैनो मे कोई विरोध करने वाला तो है नही, जो दिल मे आए सो कह एव लिख जाओ। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्मा जी के मन मे जैन धर्म के प्रति उपेक्षा एव तिरस्कार की भावना रही है। और यह मनोवृत्ति एक रिसर्च स्कॉलर के लिए बहुत बड़ा दोष एव कलक है। क्या वर्मा जी इस कलक को धो सकेंगे ?

दूसरे मे जैन समाज की भी एक कमजोरी है कि वह अभी तक इतने बड़े भारी असत्य को अनावृत्त करके नही रख सकी है। किसी भी जैन विद्वान या विचारक ने इस का खुल्ला विरोध नही किया है। जैन विचारको का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वर्मा जी को उनकी भूल से सावधान करके उसे सुधारने के लिए प्रेरित करे तथा जनता के मन-मस्तिष्क से उस झूठ को निकालने के लिए उसे वास्तविक स्थिति से परिचित कराए और प्रस्तुत प्रकरण में उक्त उद्धरण की असत्यता को स्पष्ट करने वाली टिप्पण लगाने के लिए लेखक एव प्रकाशक को प्रेरित करे। इस तरह का प्रयत्न नही किया गया तो साप्रदायिक

प्रवाह में प्रवहमान लेखक जैनधर्म पर प्रहार करते हुए जरा भी सकोच नही करेंगे। अत जैनो को प्रत्येक असत्य का—चाहे उसे कितने ही बड़े विद्वान क्यो न कहे गए हो स्पष्ट शब्दो मे विरोध करना चाहिए। जनता एव पाठको के सामने सत्य को रखते हुए हमे ज़रा भी डरना नही चाहिए।

यह स्पष्ट है कि वर्मा जी ने भगवान पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के सबध मे जो कुछ लिखा या उद्धृत किया है, वह सर्वथा असत्य है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसमे ज़रा भी सत्यता को अवकाश नही है। आशा है, वर्मा जी उस पर निष्पक्ष दृष्टि से सोचेंगे और ऐतिहासिक विद्वान एव रिसर्च स्कॉलर होने के नाते अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करेंगे।

प्रश्न– जैनधर्म के धारक वैश्य लोग ही हैं या इसके पालक राजालोग भी थे? भारत के प्रचीन इतिहास में किसी ऐसे राजा का नाम बता सकते हो, जो जैनधर्म का अनुयायी रहा हो ?

उत्तर– जैन जगत का विश्वास है कि भगवान ऋषभ देव से लेकर महावीर पर्यन्त चौवीसो तीर्थंकरो का जन्म राजवंशो मे ही हुआ था। प्रत्येक तीर्थंकर के काल मे अनेकानेक जैन राजा भी हुए, चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होने जैन धर्म मे दीक्षा ली थी और जैनधर्म के प्रचार एव प्रसार मे सहायता प्रदान की थी। मर्यादापुरुषोत्तम राम और त्रिखण्डाधिपति कृष्ण भी जैन थे। राम ने जैन साधु बन कर मुक्ति प्राप्त की थी और कृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमार भगवान नेमिनाथ के चरणो मे दीक्षित हुए थे। कृष्ण ने स्वय गजसुकुमार को भगवान नेमिनाथ के पास जैन साधु बनवाया था। भगवान नेमिनाथ ने बताया

था कि श्री कृष्ण भी भविष्य मे १२वे तीर्थंकर बनेंगे। इसके अतिरिक्त अनेकानेक जैन राजा हुए हैं, इतिहास इस बात का साक्षी है। फिर भी, भगवान महावीर के समकालीन एव वाद मे हुए जैन राजाओ का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है।

राजा चेटक भ० महावीर के अनन्य श्रद्धालु श्रावक एवं वैशाली के अत्यन्त प्रभावशाली और वीर राजा थे। ये १८देगो के गणराज्य के अध्यक्ष थे। इन की प्रतिज्ञा थी कि मैं अपनी कन्याओ का विवाह केवल जैनधर्मानुयायी राजाओ के साथ ही करूगा, किसी अजैन के साथ नही। सिन्धु के उदयन, अवन्ती के चन्दप्रद्योतन, कौशाम्बी के शतानीक चम्पा के दधिवाहन और मगध के श्रेणिक राजा महाराज चेटक के दामाद थे। ये सभी राजा जैनधर्म के अनुयायी थे। राजा उदयन ने तो भगवान महावीर के पास दीक्षा स्वीकार करके जैनधर्म के प्रचार मे सक्रिय सहयोग दिया था।

इतिहास प्रसिद्ध मगधनरेश विम्वसार जैन साहित्य मे श्रेणिक के नाम से विख्यात रहे है। जैन शास्त्रो मे इन का जीवनवृत्त उपलब्ध होता है। इन को जैन बनाने वाले अनाथी मुनि थे। अनाथी मुनि के सदुपदेश से इन्होंने जैन धर्म को स्वीकार किया था। इन के पुत्र सम्राट् कूणिक भी भगवान महावीर के अनन्य भक्त थे। यह भगवान महावीर का समाचार प्राप्त करके ही भोजन ग्रहण करता था। कूणिक के पुत्र अजातशत्रु ने भी जैनधर्म को स्वीकार किया था।

काशी-कौशल के अठारह लिच्छवी और मल्लि राजाओ ने भगवान महावीर का निर्वाण-उत्सव मनाया था। उनके द्वारा प्रसारित वीर-निर्वाण-उत्सव आज दीपमाला के रूप मे मनाया जाता है। ये सब राजा भी जैनधर्म को मानने वाले थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त जैनधर्म के अनुयायी थे। ये श्री भद्रबाहु स्वामी के पास दीक्षा स्वीकार करके मैसूरप्रात (दक्षिण) में गए थे। श्रवणबेलगोला की गुफा मे इन्होने आत्मसाधना की थी।

महाराज चन्द्रगुप्त के पौत्र सम्राट् अशोक अपने पूर्व राज्यकाल मे जैन थे। ईस्वी सन् से १००वर्ष पूर्व हुए कलिंग देश के सम्राट् राजा खारवेल भी जैन थे। यह बात उडीसा के खण्डगिरि के शिलालेखो मे प्रसिद्ध है। दक्षिण व पश्चिम मे राज्य करने वाले अनेक देशो के राजा जैन थे। गग वश के भी सब राजा जैन थे। इस वश ने दूसरी से ११वी शताब्दी तक दक्षिण मे राज्य किया था। राजकूट वश के प्रसिद्ध राजा अमोघवर्ण भी जैन थे। अठारह देशो मे आज्ञा चलाने वाले महाराज कुमारपाल जैन थे। इस प्रकार जैनधर्म को मानने वाले अनेक राजा लोग थे, जिन्होने जैनधर्म की प्रभा को फैलाने मे योग दे कर अपने जीवन को यशस्वी बनाया था।

राजाओ के अतिरिक्त मत्री और सेनापति भी जैन धर्म के अनुयायी रहे है। जैनमत्रियो मे वस्तुपाल और तेजपाल का नाम इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति है। दोनो भाई बाघेला वश के राजा वीरधवल के मत्री थे। राजनीति के पण्डित और जैनधर्म के अनन्य भक्त होकर भी समस्त धर्मो के प्रति बडे उदार थे। मेवाड़ के महाराणा प्रतापसिंह के प्रधानमत्री भामाशाह जैन को कौन नही जानता? सकट काल में बारह वर्ष तक २५ हजार आदमी भोजन कर सके इतना धन भामाशाह ने महाराणा प्रताप को दिया था। मेवाड़ मे आज भी भामाशाह के वंशज जीवित है, जो जैन हैं। अजमेर के राजा विजयसिंह के सेनापति धनराज सिंघवी जैन थे। गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव के सेनाध्यक्ष आभु भी जैन थे।



आस्तिक नास्तिक समीक्षा

पञ्चम अध्याय

प्रश्न– आस्तिक और नास्तिक शब्द का व्याकरण सम्मत क्या अर्थ होता है ?

उत्तर– भारतीय चिन्तन धारा दो भागों मे विभक्त है– १ आस्तिक और २नास्तिक। कुछ चिन्तनशील विचारक, दार्शनिक आत्मा और परलोक के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तथा आयु कर्म समाप्त होने के बाद आत्मा एक गति के शरीर को त्याग कर दूसरी गति या योनि के शरीर को धारण करती है, इस बात मे विश्वास करते हैं और उसे आगम,तर्क एव अनुभव से प्रामाणिक मानते हैं। ऐसी मान्यता मे श्रद्धा रखने वाले विचारको को दार्शनिक भाषा मे आस्तिक कहते हैं और जो विचारक आत्मा एव परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, उन्हे नास्तिक कहते हैं। फलितार्थ यह निकला कि आत्मवाद मे विश्वास रखने वाले दार्शनिक आस्तिक कहलाते है और अनात्मवाद को आधार मान कर चलने वाले विचारक नास्तिक कहलाते हैं। उक्त उभय शब्दो की व्याख्या करते हुए वैयाकरणिको ने भी यही बात कही है। शाकटायन का व्याकरण बहुत प्राचीन माना जाता है। पाणिनीय ने अपने द्वारा रचित व्याकरण मे शाकटायन व्याकरण के प्रमाण दिए है। आचार्य शाकटायन लिखते हैं—

"दैष्टिकास्तिक–नास्तिकाः । ३, २, ६१.

दैष्टिकादयतदस्येति षष्ठ्यन्ते ठणन्ता नियात्यन्ते। दिष्टा प्रमाणानुपातिनी मतिरस्य, दिष्ट दैवं प्रमाणमिव मतिरस्येति वा दैष्टिकः । अस्ति परलोक पुण्यपापमिति च मतिरस्येत्यास्तिक । एव नास्तीति नास्तिकः ।

पाणिनीय व्याकरण सिद्धात कौमुदी मे आचार्य भट्टो जी दीक्षित ने भी उक्त उभय शब्दो पर अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है–

"आस्ति–नास्ति दिष्टं मतिः । ४, ४, ६०.

तदस्य इत्येव अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिक । नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिक. । दिष्टमिति मतिर्यस्य स दैष्टिक. ।"

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने नास्तिक की परिभाषा करते हुए लिखा है– "नास्ति पुण्य पापमिति मतिरस्य स नास्तिक ", अर्थात् जिस की बुद्धि मे पुण्य-पाप का अस्तित्व नही है, उसे नास्तिक कहते है।

उक्त वैयाकरणो द्वारा दी गई परिभाषाओ से यह स्पष्ट हो गया कि आस्तिक और नास्तिक शब्द की मूल प्रकृति अस्ति और नास्ति शब्द हैं। अस्ति शब्द सत्ता का, अस्तित्व का परिचायक है और नास्ति शब्द निषेध का ससूचक है। जिन विचारको एव दार्शनिको का आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप आदि के अस्तित्व मे विश्वास है, श्रद्धा है, वे आस्तिक हैं और जो विचारक इन के अस्तित्व मे विश्वास नही रखते अर्थात् जिन की मति–बुद्धि एव धारणा यह है कि आत्मा, परलोक, पुण्य-पाप आदि कुछ नही है, वे नास्तिक है। इस तरह आस्तिक और नास्तिक शब्दो का व्याकरण सम्मत एव व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यह है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र मे नास्तिक का स्वरूप बताते हुए यही कहा गया है कि कुछ लोग मानते है कि जीव नही है, जाति नही है, जीव को पुण्य-पाप का फल नही मिलता है,नरक-स्वर्ग आदि कुछ नही

है। इस तरह आत्मा, पुण्य-पाप एव परलोक आदि तत्त्वो के अस्तित्व को स्वीकार नही करने वाले को नास्तिक कहा है। *

प्रश्न– जैन दर्शन आस्तिक दर्शन है या नास्तिक दर्शन ?

उत्तर– जैन दर्शन का भली-भाति अनुशीलन परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह आस्तिक दर्शन है । क्योकि, जैन दर्शन आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानता है, परलोक, पुण्य-पाप, कर्म-बन्धन, मुक्ति आदि के अस्तित्व को स्पष्टत. स्वीकार करता है। वस्तुतः जैन दर्शन ने उक्त तत्त्वो पर जितनी गहराई से सोचा-विचारा और जितना सूक्ष्म अन्वेषण किया है,उतना किसी भी विचारक ने नही सोचा। प्राय. सभी दार्शनिको एव चिन्तको ने ऊपर-ऊपर से उडाने भरी है,पर आत्मा की गहराई मे उतरने का जैन विचारको के अतिरिक्त किसी ने साहस किया हो ऐसा दिखाई नही देता। इसलिए आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व मानने तथा पुण्य-पाप एवं कर्मबन्ध तथा मुक्ति के सबध मे हमे जितने स्पष्ट एव तर्क सम्मत प्रमाण जैन दर्शन मे उपलब्ध होते हैं, उतने अन्य दार्शनिक ग्रन्थो मे उपलब्ध नही होते । जैनो का आगम एव दर्शन साहित्य आत्म तत्त्व के विवेचन से भरा पड़ा है। जैन दर्शन द्वारा मान्य नव तत्त्वो मे आत्मा या जीव तत्त्व मुख्य है, नव तत्त्व का प्राण है। इस के अतिरिक्त कोई व्यक्ति अपने ज्ञान की विशिष्टता से या तीर्थकर अथवा किसी विशिष्ट ज्ञानी के उपदेश से इस को जान लेता है कि मै पूर्व-पश्चिम आदि किसी एक दिशा से आया हू और मेरी आत्मा उत्पत्तिशील है तथा इन दिशा-विदिशाओ मे स्थित विभिन्न योनियो मे परिभ्रमण करने वाला मैं ही

* प्रश्न व्याकरण सूत्र, २, ७।

हू, राग-द्वेष के ससर्ग के कारण मेरी आत्मा वार–वार जन्म मरण करती है†। आत्मा ही सुख दु.ख का कर्ता एव भोक्ता है, आत्मा ही वेतरनी नदी तथा कूटशामिली वृक्ष – नरको मे प्रवहमान दु खद नदी एव वृक्ष को प्राप्त करता है और वही कामधेनु के सुख का उत्पादक है। वन्धन और मुक्ति को प्राप्त करने वाला आत्मा हीहै। *

ससारी आत्मा के एक गति से दूसरी गति मे परिभ्रमण करने के सबध मे भी जैनागमो मे पाठ मिलता है। जैसे गीता मे कर्मयोगी श्री कृष्ण ने अर्जुन से कहा– हे अर्जुन ! जिस अविनाशी योग के सबध मे मै तुम्हे जो वता रहा हू, मैंने इस का सर्वप्रथम उपदेश विवस्वत को दिया था, उसने अपने पुत्र मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया था। तव अर्जुन ने पूछा– भगवन् ! आपका जन्म तो अव हुआ है और विवस्वत का जन्म आप से बहुत समय पहले हो चुका है, फिर आपने उसे इस योग का उपदेश कैसे दिया ?

इसका उत्तर देते हुए कृष्ण ने कहा— हे अर्जुन ! मेरे और तेरे इस जन्म के पहले अनेकों जन्म हो चुके हैं। तू इस वात को नही जानता है, परन्तु मै इसे भली-भाति जानता हू। §

इसी तरह भगवान महावीर ने भो गौतम से कहा कि हे गौतम ! तेरा और मेरा वहुत काल से अर्थात् अनेक जन्मो से संबध चला आ रहा है, तू मेरा पुराना परिचित है । भगवान महावीर के

† श्री आचाराग मूत्र १, १, ५।

* उत्तराध्ययन सूत्र २०.

§ वहूनि मे व्यतीतानि, जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यह वेद सर्वाणि, न त्व वेत्थ परतप ॥
—श्री भगवद्गीता, ४, ५।

इस कथन को सुन कर गौतम स्वामी को भी भगवान साथ के किए गए पूर्व जन्मो का तथा उनके साथ रहे हुए सबध का परिज्ञान हो गया।*

इस तरह पुनर्जन्म की मान्यता को प्रमाणित करने वाले आगमो मे अनेक उद्धरण मिलते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि को मानता है। इसलिए वह नास्तिक दर्शन नही, आस्तिक दर्शन ही है। पाश्चात्य एव भारतीय विद्वान तथा विचारक भी जैन दर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप मे स्वीकार करते हैं। सन् १९५५ की महावीर जयन्ती के अवसर पर दिल्ली मे आयोजित एक सभा मे भगवान महावीर के जीवन पर प्रकाश डालते हुए भारत के प्रसिद्ध विद्वान, सर्वोदयी विचारक काका कालेकर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"जिस जमाने मे कही-कही मनुष्य का मास खाने वाले लोग भी थे, मनुष्य को गुलाम बना कर बेचा जाता था, सेनाओ के बीच युद्ध होते थे और पशु मास का आहार तो सार्वजनिक था। ऐसे समय मे पानी और हवा मे जो सूक्ष्म जन्तु होते है, उन के प्रति आत्मीयता बतलाना और विश्व मे अहिसा की स्थापना करने का अभिप्राय रखना तथा यह विश्वास रखना कि इतनी व्यापक अहिसा भी मनुष्य का हृदय कबूल करेगा और किसी दिन उसे सिद्ध भी करेगा—यह उच्च-कोटि की आस्तिकता है। ईश्वर पर या शास्त्र पर विश्वास रखना गौण है। मनुष्य हृदय पर विश्वास रखना कि वह विश्वात्मैक्य की ओर अवश्य बढेगा। यह सब से बडी आस्तिकता है। इसलिए मैंने भगवान

* चिरससिट्ठोऽसि मे गोयमा! चिरपरिचियोऽसि मे गोयमा..

—श्री भगवती सूत्र, शतक १४, उद्देशक ७।

महावीर को आस्तिक शिरोमणि कहा है।*

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन आस्तिक दर्शन है और उसकी आस्तिकता सब दर्शनो से उत्कृष्ट है । आत्मा एव लोक-परलोक के सबध मे जैन चिन्तको ने जितनी गहराई से चिन्तन-मनन एव अन्वेषण करके प्रकाश डाला है, उतना गहरा विचार किसी भी दार्शनिक ने नही दिया। इसलिए आज भी सभी निष्पक्ष विचारक जैन दर्शन को आस्तिक दर्शन के रूप मे स्वीकार करते है। और गाधीवादी नेता काका कालेलकर तो जैन दर्शन को एक उत्कृष्ट आस्तिक दर्शन और भगवान महावीर को आस्तिक शिरोमणि मानते हैं।

प्रश्न– आस्तिक-नास्तिक शब्द व्याकरण सम्मत परिभाषा के अनुसार ही साहित्य में प्रयुक्त होते रहे हैं या आगे चलकर उन में कुछ परिवर्तन हुआ हैं ? यदि परिवर्तन हुआ है, तो परिवर्तन आने का वास्तविक कारण क्या रहा है ?

उत्तर– इस प्रश्न का समाधान पाने के पहले हमे शब्द और व्याकरण के सबध को भी भली-भाति समझ लेना चाहिए। यह बात हमे सदा ध्यान मे रखनी चाहिए कि व्याकरण शब्दो को परिष्कृत करता है, न कि उनकी रचना। प्रत्येक भाषा का यही नियम है कि उसके उच्चारण एव प्रयोग के रूप को व्यवस्थित करना व्याकरण का काम है। इस से यह स्पष्ट होता है कि शब्द का निर्माण व्याकरण से नही, वल्कि जनता की वोल-चाल की भाषा से होता है। व्याकरण केवल इतना ही काम करता है कि जनता या साहित्यिको के द्वारा जिस शब्द का

* श्रमण, वर्ष ७, अंक १२।

जिस अर्थ मे प्रयोग होता है, उस अर्थ को या परिभाषा को स्पष्ट कर के उस के रूप को व्यवस्थित वना देता है, उस मे रही हुई उच्चारण की अशुद्धता या कमी को दूर कर देता है।

इस से यह स्पष्ट होता है कि पाणिनीय एव शाकटायन से भी पहले आस्तिक-नास्तिक शब्द का प्रयोग एव परलोक आदि के स्वरूप को स्वीकार करने और अस्वीकार करने के अर्थ मे ही हुआ था और वैयाकरणिको ने उसी अर्थ को स्वीकार करते हुए उस की परिभाषा की है। अत. पाणिनीय युग तक इसी अर्थ मे उभय शब्दो का प्रयोग होता रहा। यदि शाकटायन और पाणिनीय के वीच के युग मे इन उभय शब्दो की अर्थ मान्यता मे भेद आया होता तो पाणिनीय-अष्टाध्ययी मे उसका उल्लेख अवश्य करते। पाणिनीय के वाद भी भट्टोजीदीक्षित ने "सिद्धात कौमुदी" के मूल सूत्र एव उस की व्याख्या मे उसी अर्थ को स्वीकार किया है। उन्होने कही भी यह सकेत नही दिया कि उक्त उभय शब्दो की अर्थगत मान्यता मे परिवर्तन हुआ है। यदि तव तक अर्थ मान्यता मे परिवर्तन हुआ होता तो वे उस का उल्लेख किए विना नही रहते। परन्तु,उन्होने उभय शब्दो की परिभाषा मे कोई परिवर्तन नही किया। इस से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सिद्धात कौमुदी की रचना के समय तक आस्तिक-नास्तिक शब्दो का प्रयोग आत्मादि के अस्तित्व को मानने और न मानने के अर्थ मे ही होता रहा है।

परन्तु, दार्शनिक युग मे आकर इसकी परिभाषा मे अन्तर डाला गया। आत्मा आदि के अस्तित्व मे विश्वास रखने, न रखने के साथ ईश्वर को जोडा गया। ईश्वर भी उन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है। उस का अर्थ है— जो एक है, जगन्नियन्ता है, ससार का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्म फल का प्रदाता है, वार-वार ससार मे अवतार लेता है, ससार रूपी घटीयत्र का सचालक है तथा

समस्त प्राणी जगत का सर्वेसर्वा है

इसके बाद ज्यो-ज्यो साप्रदायिक अभिनिवेश वढता गया, त्यो-त्यो कुछ दार्शनिको एव विचारको के मन मे एक-दूसरी परपरा को या सप्रदाय को नीचा दिखाने का भाव बढता गया और इसी कारण उभय शब्दो की परिभाषा मे परिवर्तन होता गया। आस्तिक-नास्तिक शब्द की परिभाषा के बदले हुए रूप परमत विद्वेष के परिचायक है। इस से यह स्पष्ट पता लगता है कि दार्शनिक युग मे सांप्रदायिक मनोवृत्ति का काफी प्रावल्य था और उस युग मे ये दार्शनिक अपने आप को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए दूसरी सप्रदायो पर शब्दो का कीचड उछाला करते थे। इसी साप्रदायिकता का परिणाम है कि विशाल एव व्यापक अर्थ मे प्रयुक्तमान आस्तिक-नास्तिक शब्द की परिभाषा को एक साप्रदायिक दायरे मे बाधने का प्रयत्न किया गया और ईश्वर कर्तृत्व के साथ यह भी जोड दिया गया कि जो वेद को प्रमाणिक नही मानते वे नास्तिक है। इस शब्द को जोडा ही नही गया, बल्कि और सभी अर्थो को गौण करके केवल इतनी ही परिभाषा बना दी कि जो वेद को प्रामाणिक नही मानता वह नास्तिक है और इसी अपेक्षा से जैन एव बौद्ध दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा गया। वस्तुत. देखा जाए तो जैन दर्शन नास्तिक दर्शन नही, आस्तिक दर्शन है। परन्तु, साप्रदायिक अभिनिवेश के कारण मनुष्य सत्य को झुठला कर असत्य की स्थापना एव परूपणा करने से नही हिचकता, यह इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि वैदिक पुराणो मे अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक आचार्य शंकर को भी जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन और चार्वाक दर्शन की तरह नास्तिक कहा है और उस के द्वारा परूपित मायावाद को असत्–मिथ्या शास्त्र कहा है। मायावाद एक तरह

मे मिथ्यावाद एव नास्तिक मान्यता है। †

यह हम ऊपर देख आए हैं कि व्याकरण की दृष्टि से आस्तिक-नास्तिक का यह अर्थ किसी भी तरह घटित नही होता। इस से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि इस परिभाषा की रचना के पीछे सत्यता, प्रामाणिकता एव ईमानदारी के स्थान मे साप्रदायिकता का खुला हाथ रहा है और वह भी सप्रदाय विशेष का तिरस्कार करने की दृष्टि से इस परिभाषा को बदला गया है। आधुनिक विद्वान इस बात से सहमत हैं कि इस परिभाषा को बदलने के पीछे साप्रदायिक विद्वेष की भावना ही मूल कारण है।

वैदिक परम्परा का विश्वास है कि वेद अपौरुषेय है, मनुष्य इस का रचियता नही है। इस का निर्माण भगवान ने किया है, किन्तु जैन परम्परा इस बात को नही मानती। जैन परम्परा प्रत्येक शास्त्र को पुरुषकृत मानती है और वह वेदो को सर्वथा प्रामाणिक रूप से स्वीकार नही करती है। वेदो के नाम से की जाने वाली पशु हिंसा तथा

मायावादी वेदाती (शकर भारती) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने सपद्यते इति ज्ञेयम्। अत्र प्रमाणानि साख्यप्रवचनभाष्योदाहृतानि पद्मपुराणवचनानि यथा---

मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव च।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥
अपार्थं श्रुतिवाक्याना दर्शयल्लोकगर्हितम्।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ॥
सर्वकर्मपरिभ्रशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्य मयात्र प्रतिपाद्यते ॥

—साख्य प्रवचन भाष्य, १, १, न्याय कोश, पृ ३७२।

ईश्वर कर्तृत्व आदि असगत मान्यताओं पर जैन दर्शन का कतई विश्वास नहीं है। जैन दर्शन धर्म के नाम पर की जाने वाली निरपराध मूक प्राणियों की हिंसा का कभी भी समर्थन नहीं करता, प्रत्युत दृढता के साथ उसका विरोध करता है। यह वैदिक दार्शनिकों को असह्य था, इसलिए उन्होंने जैनों को नास्तिक प्रमाणित करने के लिए आस्तिक-नास्तिक शब्दों की व्याकरण सम्मत परिभाषा को आमूलचूल बदल करके रख दिया है। तब—वेदों को जो अपौरुषेय मानता है, उसे पूर्णरूप से प्रमाणिक स्वीकार करता है, वह आस्तिक होता है और जो वेदों पर आस्था नहीं रखता, उन्हें प्रामाणिक रूप से स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक कहलाता है। इस प्रकार को सकीर्ण और द्वेषपूर्ण परिभाषा चालू की गई।

वैदिक परम्परा मे पलने वाले कई दर्शन वेद एव ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। साख्य दर्शन ब्रह्म को नहीं मानता है और न अद्वैतवाद अर्थात् एकेश्वरवाद को ही मानता है। न्यैयायिक-वैशेषिक भी द्वैतवाद के समर्थक हैं, उन्हे भी वेदांत का एकेश्वरवाद स्वीकार नहीं है। और शैव दर्शन अद्वैतवाद को तो मानता है, परन्तु वेद को प्रमाण नहीं मानता है। इतने पर भी उक्त दर्शनों को आस्तिक दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उनका जैन दर्शन पर ही द्वेष था। इसलिए "वेद को प्रामाणिक न मानने वाला नास्तिक है" इस परिभाषा का प्रयोग जैन और बौद्ध दर्शन के लिए ही किया गया। और यही कारण है कि वेद को प्रमाण रूप से नहीं मानने वाले, एकेश्वरवाद एवं याज्ञिक हिंसा को नहीं स्वीकार करने वाले जैनेतर (वैदिक) दर्शनों को नास्तिक नहीं कहा गया। यह वैदिक विचारकों के साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ज्वलन्त प्रमाण है।

इस से यह स्पष्ट प्रतीत होना है कि उनका मानस संकीर्ण स्वार्थों से आवृत्त था।

जैन दर्शन को वेद एव वैदिक परम्परा से द्वेष नही है। वैदिक परम्परा के— "अहिसा परमो धर्म.", "मा हिंस्यात् सर्वानि भूतानि" आदि अहिंसा के समर्थक वाक्यो का जैन सम्मान के साथ स्वीकार करते है। केवल स्वीकार ही नही करते, वल्कि उन का परिपालन भी करते है। उनके मन में यह द्वेष नही है कि अमुक वाक्य वेद का है, इसलिए उसे स्वीकार नही किया जाए। आचार्य हरिभद्र सूरी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि न तो मुझे महावीर से मोह है और न कपिल आदि वैदिक ऋषियो से मेरा द्वेष है। मै तो युक्ति सगत, सत्य एव निर्दोष वचनो को स्वीकार करता हूं। सत्य एवं अहिंसा से ओत-प्रोत वाक्य चाहे जैनागमो के हो या वेदो के हो या किसी अन्य परपरा के भी क्यो न हों, मुझ स्वीकार है। इतनी वडी वात जैनो के सिवाय अन्य किसी भी दार्शनिक ने नही कही।

हम स्याद्वाद प्रकरण मे स्पष्ट कर चुके है कि जैन दर्शन का ध्येय समन्वय का रहा है। उसने सदा अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। उसे एकान्तवाद कतई स्वीकार नही है। वह वैदिक परम्परा के एक आत्मवाद, नित्यवाद को भी आंशिक रूप से सत्य मानता है और वौद्ध परम्परा के द्वारा मान्य क्षणिकवाद मे भी आंशिक सत्यता को देखता है। उसकी दृष्टि मे कोई भी दर्शन सर्वथा असत्य नही है, यदि वह एकान्तवाद का आग्रह न रखता हो। इस से स्पष्ट हो जाता है कि जैन दर्शन का व्यक्तिगत किसी भी परम्परा से द्वेष नही है। वह किसी व्यक्ति या विचारक का तिरस्कार नही करता है। हा, एकान्तता एव हिंसामूलक प्रवृत्ति को स्वीकार नही करता, चाहे वह किसी भी

परम्परा को क्यों न हो। यदि कोई जैन भी धर्म के रूप में धर्म के नाम पर हिंसामूलक प्रवृत्ति को प्रश्रय देता है, तो जैन दर्शन की दृष्टि से वह भी असत्य है। जैन दर्शन व्यक्ति एवं संप्रदाय की दृष्टि से सत्यता-असत्यता को नहीं मानता, उस की मान्यता सिद्धान्त के आधार एवं सत्य और अहिंसा की नींव पर स्थित है।

वेदों में जो अच्छाई है, उसे जैन दर्शन मानता है। परन्तु, जो असत्यता है उसे वह नहीं मानता। जैसे जैन दर्शन वेदों को अपौरुषेय नहीं मानता, याज्ञिक हिंसा या वैदिक हिंसा, हिंसा नहीं होती के सिद्धान्त को नहीं मानता। वह इस बात को भी सत्य नहीं मानता कि ईश्वर जगतकर्ता है, भाग्य विधाता है, कर्म फल प्रदाता है। वह आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा स्वयं ही कर्म कर्ता है और वही कृत कर्म का फल भोगता है और वही कर्म बन्धन को तोड़ कर मुक्त बनता है। स्वर्ग या नरक में जाने का अच्छा या बुरा पुरुषार्थ वही करता है। ईश्वर किसी के कार्य में दखल नहीं देता। वह न किसी को स्वर्ग भेजता है और न किसी को नरक के गड्ढे में ही गिराता है। यदि वस्तुत. देखा जाए तो वेदों का अपौरुषेय कहना, याज्ञिक हिंसा, ईश्वर कर्तृत्व आदि बातें युक्ति एवं बुद्धि संगत भी नहीं है। इसी कारण जैन दर्शन वेदों को प्रामाणिक नहीं मानता है।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग जाता है, तो धर्म फीका पड़ जाता है। या यों कहना चाहिए कि साम्प्रदायिकता की कालिमा में धर्म की उज्ज्वलता दब-सी जाती है। सांप्रदायिक मान्यताएं ही धर्म का बाना पहनकर सामने आने लगती हैं और इसी कारण मानव 'सत्य सो मेरा' के वास्तविक आदर्श को भूलाकर 'मेरा सो सत्य' के नारे को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। और

उसे सत्य सिद्ध करने के लिए वह समस्त दर्शन के सिद्धातो एव विचारो का खण्डन करता है और परिणाम स्वरूप देश में कटुता,द्वेष एव वैमनस्य की अभिवृद्धि होने लगती है। आज साप्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एव विषाक्त हो गया है कि इसके कारण राष्ट्रीय ताकत छिन्न-भिन्न-सी हो गई है। हिन्दू मुस्लमानो को मलेच्छ कह कर उन से घृणा एव नफरत करते है, तो मुस्लमान हिन्दुओ को काफर बता कर जिहाद का नारा बुलन्द करते है। वैदिक परम्परा मे पले व्यक्ति जैनो को नास्तिक कहने मे सकोच नही करते। और वीतरागता के उज्ज्वल,समुज्ज्वल, महोज्ज्वल ध्वज को लहराने का दावा करने वाले जैन अपने से इतर सप्रदाय वाले को मिथ्यात्वी, ढोंगी पाखण्डी कहने से नही चूकते, आज वे भी राग-द्वेष के महापक मे फसे हुए है। धर्म के नाम पर प्रज्वलित राग-द्वेष एव साप्रदायिक वैमनस्य की आग ने मानव जीवन को स्वाह कर दिया है। धर्म और सभ्यता की कितनी बडी विडम्ना है, यह।

मनुस्मृति मे लिखा है— "वेद निन्दको नास्तिक।" अर्थात् वेदो को नही मानने वाला नास्तिक है। इस बात को हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इस कथन मे जरा भी सत्यता नही हे। ये परिभाषाए सत्य पर आधारित नही है, बल्कि साप्रदायिक अभिनिवेश की परिसूचक है। दो सप्रदायो मे भेद एव सघर्ष पैदा करने वाली हैं। यदि इस परिभाषा को सत्य मान लिया जाए तो फिर जैन भी आस्तिक-नास्तिक के लिए इस प्रकार की परिभाषा बना सकते हैं— "नास्तिको जैनागम निन्दक।" इसी तरह बौद्ध अपनी परम्परा एव साप्रदायिक मान्यता के अनुसार परिभाषा रच लेंगे और अन्य सप्रदाय वाले अपनी अपनी डफली और अपना-अपना राग बजाने लगेंगे। परिणाम यह

आएगा कि कोई भी दर्शन आस्तिक दर्शन नही रह जाएगा।

जैन और वैदिक दर्शन की बात छोडिये। वैदिक दर्शनो मे भी एकरूपता नही है। वेदान्ती वेद को अपौरुषेय मानते है, एक आत्मवाद एव अद्वैतवाद को मानते हैं और साख्य दर्शन वेद को पौरुषेय और अनेक आत्मा तथा द्वैतवाद को मानता है। सनातनी मूर्तिपूजा, ईश्वर के अवतरित होने, श्राद्ध एवं याज्ञिक हिंसा को वेदविहित मानते हैं, किन्तु आर्यसमाजी इसके विपरीत विश्वास रखते हैं, अर्थात् वे इन्हे वेदविहित नही मानते हैं और ये सभी वैदिक दर्शन हैं। ऐसी स्थिति मे एक-दूसरे की दृष्टि मे एक-दूसरा नास्तिक हो जाएगा। साख्य की दृष्टि मे वेदान्ती नास्तिक है, तो वेदान्त की दृष्टि मे साख्य। सनातन धर्म की दृष्टि मे आर्यसमाजी नास्तिक है, तो आर्यसमाज की दृष्टि मे सनातनी नास्तिक है। इसी तरह अन्य संप्रदायो के सबध मे भी कल्पना की जा सकती है। अस्तु मनुस्मृति द्वारा की गई यह परिभाषा—'वेद निन्दको नास्तिक." सर्वथा असत्य एव अयथार्थ है। दुख इस बात का है कि आज के बौद्धिकवादी युग मे कई विद्वान इस परिभाषा का प्रयोग करते हुए गर्व का अनुभव करते हैं। परन्तु, यह दृष्टि किसी भी तरह से उचित एव आदरास्पद नही कही जा सकती।

अन्त मे निष्कर्ष यह निकला कि आस्तिक-नास्तिक की मूल परिभाषा व्याकरण सम्मत है। मनुस्मृति आदि की अन्य परिभाषाए साप्रदायिक युग की देन है और इस परिवर्तन का या नई परिभाषाए घड़ने का मूल कारण साप्रदायिक विद्वेष रहा है।



ईश्वर-मीमांसा

षष्ठम अध्याय

प्रश्न– ईश्वर के सबध में दार्शनिकों की क्या मान्यता है और जैन दर्शन इसके संबध में क्या मान्यतो रखता है ?

उत्तर– भारतीय चिन्तनधारा दो प्रवाहो मे बही है—कुछ विचारक ईश्वर के अस्तित्व को नही मानते और कुछ मानते हैं। पहली विचार धारा चार्वाक आदि नास्तिक विचारको की है, जो आत्मा के स्वतत्र अस्तित्व एव परलोक आदि की सत्ता से इन्कार करते है। दूसरी विचारधारा आस्तिक परम्परा की है। आस्तिक विचारक मुख्य रूप से तीन विभागो मे विभक्त हैं– १ वैदिक दर्शन, २ जैन दर्शन और ३ बौद्ध दर्शन।

वैदिक परम्परा मे अनेक शाखा-प्रशाखाए है और उनमे थोडा-बहुत विचारभेद भी है। परन्तु,ईश्वर के सबध मे प्राय सभी वैदिक दार्शनिको एव विचारकों का यह अभिमत रहा है कि ईश्वर एक है, सच्चिदानद है, घट-घट का ज्ञाता है,सर्वशक्तिमान है,ससार का निर्माता है, जीवो को भले-बुरे कर्मो का फल प्रदाता है, सृष्टि का कर्ता एव हर्ता–विनाशक है। दुष्ट एव पापियो का नाश करने तथा भक्तो एव धर्मात्माओ का उद्धार करने के लिए वह समय-समय पर अवतरित होता है– भगवान से पुन. इन्सान के रूप मे जन्म लेता है और अपनी

लीला दिखा कर फिर से वैकुण्ठ धाम मे जा विराजता है। वह सदा स्मरणीय है, नमस्करणीय है।

आजकल आर्य समाज के विचारक उक्त मान्यता मे पूर्णत. सहमत नही है। वे भी ईश्वर को एक, सच्चिदानद एव सृष्टि का कर्ता-हर्ता तथा पुण्य-पाप का फल प्रदाता मानते है। परन्तु, वे अवतार धारण करने की बात को स्वीकार नहीं करते हैं। उन की मान्यता है कि किसी पापी या दुष्ट का विनाश करने हेतु ईश्वर ससार में नही आता है। वह सदा स्मरणीय है।

जैनागमो मे ईश्वर शब्द का प्रयोग नही मिलता है। उस मे परमात्मा, सिद्ध, बुद्ध आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है और सिद्ध एक-दो नही, दस-बीस नहीं, अनन्त हैं और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, सच्चिदानद हैं, कर्म फल मे सर्वथा अलिप्त हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, किसी भी जीव के कार्य मे दखल नही देते। वे न सृष्टि के रचियता हैं और न विनाशक ही हैं, न किसी प्राणी को सुख देते हैं और न दुःख ही देते हैं। न किसी भक्त को स्वर्ग में भेजते हैं और न किसी को नरक मे। प्रत्येक जीव कर्म के करने एवं कृत कर्म के फल को भोगने में स्वतन्त्र है। स्वर्ग और नरक का निर्माण करने मे तथा कर्म बन्धन की जजीर को सर्वथा तोड कर मुक्त होने मे प्रत्येक प्राणी पूर्णत. स्वतन्त्र है। दुनिया की एक भी आत्मा किसी अदृश्य शक्ति के अधीन नही है और न वह कठपुतली की तरह किसी एक सूत्रधार या नट के इशारे पर नाचती ही है। प्रत्येक आत्मा अपने अच्छे या बुरे पुरुषार्थ से अपना रास्ता तय करती है और शुभाशुभ गतियो मे परिभ्रमण करती है तथा अपनी ही सम्यक् साधना से कर्म वन्धन को तोडकर निर्वाण को भी प्राप्त कर लेती है।

बौद्ध दर्शन भी ईश्वर को जगत्कर्ता एव पुण्य-पाप का फल-प्रदाता नही मानता है। बौद्धो ने मोक्ष को माना है, परन्तु उन की मुक्ति एव मुक्त अवस्था मे स्थित आत्मा के स्वरूप का कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। उन्होने आत्मा की शून्य अवस्था को मोक्ष माना है।

इस से भली-भाति स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आस्तिक दर्शनो की तरह जैन भी ईश्वर को मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि जैनागमो मे ईश्वर शब्द के स्थान मे सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, मुक्त, परमात्मा आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है और उस का कारण जैन एव वैदिक सिद्धात की मूल मान्यता का अन्तर ही है। इस पर हम आगे वाले प्रश्न के उत्तर मे विस्तार से विचार करेगे।

प्रश्न– वैदिक परंपरा में जैन दर्शन को अनीश्वरवादी दर्शन कहा है। जब जैन परमात्मा को मानते हैं; तो फिर ऐसा क्यों कहा गया ?

उत्तर– ईश्वर शब्द वैदिक परपरा का है। ईश्वर का अर्थ स्वामी होता है और वैदिक परपरा मे यह शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। हम ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक परपरा मे ईश्वर एक माना गया है और उसे जगन्नियन्ता, जगत्कर्ता और सृष्टि का सचालक माना है अर्थात् वह स्वामी है और सारा ससार, सृष्टि के छोटे-बडे सभी प्राणी उसके सेवक है। वह अपनी इच्छानुसार कुभकार के चाक की तरह सब को इधर-उधर घूमाता-फिराता रहता है। कुछ वैदिक विचारको की दृढ मान्यता है कि ईश्वर सदा ईश्वर ही बना रहता है और जीव जीव ही बना रहेगा। जीव ईश्वर के निकट पहुच सकता है, परन्तु

ईश्वर नही बन सकता। स्वामी और सेवक का भेद सदा बना ही रहेगा।

जैन दर्शन इस विचारधारा को नही मानता है। इसी दृष्टि से जैनागमो मे ईश्वर शब्द का प्रयोग न करके सिद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, मुक्त, परमात्मा आदि शब्दो का प्रयोग किया है और इन शब्दो से जैन दर्शन की सैद्धान्तिक मान्यता स्पष्ट हो जाती है। 'सिद्ध' शब्द का अर्थ है— जिसने अपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया है, अब उसके लिए कुछ भी करना शेष नही रहा है। अर्थात् आत्मा के पूर्ण एव शुद्ध स्वरूप को जिसने प्रकट कर लिया वह सिद्ध कहलाता है। सिद्धो मे ज्ञान की पूर्णता होती है,उनकी आत्मा पर जरा भी आवरण नही रहता,उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान से युक्त होती है,इसलिए उन्हे बुद्ध भी कहते हैं। इस अवस्था मे जरा और मृत्यु का प्रवेश नही होता। क्योकि जरा और मृत्यु शरीर के साथ ही लगी हुई है और सिद्ध अवस्था मे शरीर का सर्वथा अभाव है, इसलिए वे अजर-अमर है। कर्मो से सर्वथा मुक्त होने के कारण मुक्त कहलाते हैं और सिद्ध अवस्था मे आत्मा का परम स्वरूप है—शुद्ध स्वरूप है अर्थात् यो भी कह सकते हैं कि परमात्मा वैदिक दर्शन की तरह कोई अलौकिक एव आत्मा से अलग शक्ति नही, बल्कि उन्होने आत्मा से ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त किया है, अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म-मल को सर्वथा दूर करके आत्मा की परम ज्योति को अनावृत्त कर लिया है,इसी अपेक्षा से उन की आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि जैन दर्शन स्वामी और सेवक की गुलामी की भावना को नही स्वीकार करता। वह आत्मा को किसी दैवी या ईश्वरीय शक्ति के अधीन परतन्त्र नही, बल्कि पूर्ण स्वतन्त्र मानता है। प्रत्येक आत्मा अपने जीवन की स्वतन्त्र निर्माता है।

आत्मा और परमात्मा में स्वामी और सेवक का भेद जैनो को स्वीकार नही है। जैन इस बात को नही मानते कि आत्मा या जीव सदा ईश्वर का सेवक–गुलाम ही बना रहेगा। ईश्वर के निकट पहुच कर भी वह ईश्वर नही बन सकता, बल्कि सेवक ही रहता है और उस को इच्छा होते ही फिर से ससार मे भटकने के लिए इस दुनिया की ओर धकेल दिया जाता है। जैनो का दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा स्वरूप है। आत्मा और परमात्मा के आत्म–स्वरूप मे कोई अन्तर नही है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि उन्होने आत्मा पर लगे हुए कर्म आवरण को अनावृत्त कर दिया है और हम अभी उस से आवृत्त है। परन्तु यह भी सत्य है कि जितनी भी आत्माए परमात्मा बनी है, वे स्वय अपने पुरुषार्थ से निरावरण हो कर ही बनी है और आज भी आत्मा सम्यक् पुरुषार्थ कर के परमात्मा बन सकता है। इस तरह आत्मा स्वतन्त्र है, सिद्ध अवस्था मे स्थित अनन्त आत्माए भी स्वतन्त्र हैं। वहा सब आत्माओ मे अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख एव अनन्त शक्ति समान रूप से है। समस्त सिद्ध शुद्ध आत्म ज्योति मे रमण करते रहते हैं। वहा ऐसा नही है कि एक स्वामी और अन्य सब दास हो और वह स्वामी जब चाहे तब उन्हे धक्का दे कर निकाल दे। सब आत्माए वहां समान रूप हैं और सदा के लिए शुद्ध आत्म-स्वरूप मे स्थित है।

इस दृष्टि से जैनागमो मे ईश्वर शब्द का प्रयोग नही किया गया। भगवान महावीर स्वामी-सेवक की जघन्य एव सासारिक मनोवृत्ति के समर्थक नही थे; इसलिए उन्होने ईश्वरवाद को ज़रा भी प्रश्रय नही दिया। इस अपेक्षा से भले ही कोई जैनो को अनीश्वरवादी कह दे, इस मे हमे कोई आपत्ति नही है। और वैदिक विचारको ने जैनो को अनीश्वरवादी इसी अपेक्षा से कहा है— वे ईश्वर को जगत्कर्ता

नही मानते, सर्वव्यापक नही मानते, कर्म का फल-प्रदाता नहीं मानते, इत्यादि। और हम स्वय इस वात को मानते है कि जैनदर्शन अनीश्वर-वादी है। क्योकि वह वैदिक परपरा एवं शाब्दिक अर्थ के अनुसार आत्मा एव ससार पर ईश्वर के स्वामीत्व को नही स्वीकार करता। और यह सत्य भी है। इस की सच्चाई पर हम आगे विचार करेंगे। यहा तो हम इतना ही वताना चाहते है कि जैनदर्शन परमात्मा को अवश्य मानता है और वह भी एक नही अनन्त परमात्मा को मानता है और साथ मे इस वात पर भी जैनो का दृढ विश्वास है कि आत्मा से ही परमात्मा वने है, वनते हैं और भविष्य मे भी वनेंगे। अत. हम कह सकते है कि जैनदर्शन ने ईश्वर शब्द का भले ही प्रयोग न किया हो, परन्तु उसके शुद्ध एव निरावरण स्वरूप को जैनो ने ही स्वीकार किया है, अन्य दार्शनिक एव विचारक वहा तक नही पहुच पाए हैं।

प्रश्न– क्या ईश्वर को जगत्कर्ता मानना चाहिए ?

उत्तर– नही, कदापि नही। क्योकि परमात्मा सर्व कर्मो से एव कर्म-जन्य उपाधियो से रहित है। उस मे राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-तृष्णा आदि दोपो का सर्वथा अभाव है। ऐसी स्थिति मे उसे जगत का निर्माता माना जाए तो उसमे कई दोष मानने पड़ेगे ?

पहला प्रश्न यह होगा कि जव वह शरीर एव कर्म जन्य उपाधि रहित है, तव वह जगत का निर्माण किस से और कैसे करता है ? हम देखते हैं कि कुभकार अपने हाथो के द्वारा विभिन्न आकार–प्रकार के वर्तन वनाता है। यदि ईश्वर भी कुभकार की तरह विभिन्न आकृतियो एवं प्रकृतियो के जोवधारी एव निर्जीव पदार्थों का निर्माण करता है, तो फिर मानना होगा कि वह भी कुभकार की तरह सावयव है। क्योकि विना अवयव के अवयव - युक्त पदार्थो का निर्माण हो नही

सकता। हम प्रत्यक्ष मे देखते है कि विना हाथ-पैर हिलाए केवल इच्छा करने मात्र से ही कोई वस्तु तैयार नही हो जाती है । प्रत्येक वस्तु के निर्माण के लिए इच्छा-आकाक्षा के साथ तदनुरूप श्रम भी करना पड़ता है और श्रम के लिए शरीर का होना अनिवार्य है। इस तरह ईश्वर को भी सावयव मानना होगा । फिर उपनिषद् एव अन्य ग्रन्थो की यह मान्यता असत्य ठहरेगी कि परमात्मा न श्वेत है, न पीत है, न रक्त है, न कृष्ण है, न नील है, न भारी है, न हल्का है, न मोटा है, न पतला है, उसके कोई आकार नही है।

ईश्वर को ससार का, जगत का रचयिता मानने से यह भी प्रश्न उपस्थित होगा कि ईश्वर ने ससार का निर्माण क्यो किया ? यदि यह कहा जाए कि ईश्वर ने दया,करुणा से प्रेरित होकर ससार को बनाया। तो यह भी युक्ति-सगत प्रतीत नही होता। क्योकि दया-करुणा किसी दु खी एव सतप्त प्राणी पर की जाती है । परन्तु ससार का निर्माण करने के पूर्व तो दुनिया मे कुछ था ही नही। न कोई सुखी प्राणी था और न दु खी ही था। ऐसी स्थिति मे किसी पर करुणा एव अनुग्रह करने का प्रश्न ही पैदा नही होता, जिस से प्रेरित होकर ईश्वर को ससार वनाने के कार्य मे प्रवृत्त होना पड़ा।

कुछ विचारको का कहना है कि ईश्वर अकेला था, उस का मन उदास हो गया। अत. अपने मन को लगाने के लिए उसने यह इच्छा की कि 'मैं अकेला हू, वहुत हो जाऊ' § और यह अभिलाषा करते ही एक विराट् ससार खड़ा हो गया। कितनी विचित्र मान्यता है। एक ओर तो यह कहा है कि ईश्वर मे इच्छा, अभिलाषा, कामना, वासना आदि विकार नही हैं, वह समस्त दोषो से रहित है और दूसरी तरफ

§ एकोऽहम्, वहु स्याम्।

यह कहना कि उस ने सृष्टि के होने की कामना की और वह कामना तुरन्त साकार रूप में परिणत हो गई। इस तरह वैदिक परपरा द्वारा मान्य सिद्धात से भी यह मान्यता गलत ठहरती है और अनुभव एव सत्य की दृष्टि से तो यह मान्यता गलत है ही।

सर्वप्रथम तो यह कहना ही नितान्त असत्य है कि ईश्वर ने अपने मन या दिल वहलाने के लिए ससार को बनाया है। क्योंकि यह हम पहले देख चुके है कि ईश्वर के कर्म या कर्म जन्य उपाधि— शरीर,मन एव वासना आदि नही होते। ऐसी स्थिति मे मन लगाने का सवाल ही पैदा नही होता।

यदि एक क्षण के लिए इस तर्क को मान भी ले, तो यह कहना होगा कि ईश्वर राग-द्वेप आदि दोपो से सर्वथा रहित नही, प्रत्युत राग-रग में आसक्त प्राणी है। तभी तो उसने विपय-वासना की कालिमा से धूमिल एवं कपायो की आग से सतप्त विश्व का निर्माण करके अपनी आकांक्षा को पूरा किया। इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईश्वर एक ऐसा तमाशवीन है कि जो अपने मन को वहलाने के लिए दो सांडों को परस्पर लड़ाता है और एक दूसरे को खून से लथपथ हुआ देख कर प्रसन्न होता है। क्या ऐसे व्यक्ति को ईश्वर कहा जा सकता है? कदापि नही।

प्रश्न– संसार में जितने भी पदार्थ दिखाई देते हैं, वे किसी न किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित होते हैं। इस प्रकार यह ससार भी किसी की रचना है और यह रचना करने वाला कौन है ?

उत्तर– यह हम पहले वता चुके है कि ससार मे मूल द्रव्य दो हैं— १-जीव और २-अजीव। अत. दुनिया मे परिलक्षित होने वाले सभी जड़ या चेतन पदार्थ इन दो द्रव्यो पर ही आधारित है और वे अनादि काल

से चले आ रहे हैं। जड़ अर्थात् पुद्गल का शुद्ध रूप परमाणु है और परमाणु का न कभी निर्माण हुआ है और न कभी नाश ही होता है। वह अनादि काल से अपने रूप मे स्थित है और अनन्त-अनन्त काल तक वना रहेगा। उसकी न आदि है और न अन्त ही है। इतना होने पर भी उसकी पर्यायो मे परिवर्तन होता है। जैसे तख्त को लीजिए। अनन्त-अनन्त परमाणुओ के सयोग से यह स्कन्ध बना है। प्रति समय इसमे परिवर्तन होता रहता है। कुछ पुराने परमाणु इस मे से अलग होते हैं और नए परमाणु मिलते रहते हैं। इसी तरह परमाणुओ के सघटन एव विघटन से या सघटन-विघटन उभय रूप कार्य से स्कन्धों मे परिवर्तन आता रहता है। हम देखते हैं कि ऑक्सीजन और हाईड्रोजन दोनो गैसो मे स्थित परमाणु अपने रूप मे स्थित हैं। परन्तु दोनो गैसो का मिश्रण करते ही, उभय गैस रूप स्कन्ध का नाश हो कर जल रूप अभिनव स्कन्ध का निर्माण हो जाता है। तो यह परमाणुओ के सघटन-विघटन का परिणाम है, न कि किसी ईश्वर का काम है। वहां कोई ईश्वर गैसो को पानी के रूप मे वदलने के लिए नही आता। इस तरह हवा, आंधी एव नदी आदि के प्रवाह से पहाडो की चट्टानो के पत्थर टूट-टूट कर पानी के साथ वह जाते हैं, इस से दुर्गम पहाडो मे भी दर्रे वन जाते हैं और लोगो को आवागमन का मार्ग मिल जाता है। इस तरह स्कन्धो के सघटन-विघटन की प्रक्रिया से हम यह देखते हैं कि एक दिन जहां रेतो के टिब्बे थे, वहा मैदान एव नदी तथा समुद्र नज़र आता है और जहा कभी सागर लहर–लहर कर लहरा रहा था, वहा रेत के पहाड खडे हैं। इसी तरह कही पहाडो के स्थान में समतल मैदान वन गए हैं और कही समतल मैदान पर्वतमाला के रूप में वदल गए हैं। भले ही इस प्रक्रिया को लाखो, करोड़ो, अरवों वर्ष ही नही,

इस से भी अधिक समय क्यों न लगा हो, परन्तु ये समस्त रेगिस्तान, मैदान, पत्थर-पहाड़ आदि के रूप मे परिलक्षित होने वाले पुद्गल स्कन्धो के सघटन-विघटन का ही प्रतिफल है। परमाणुओं के मिलन एवं विछुडन से ही इन सब की पर्यायो मे परिवर्तन आता है। या यो कहिए एक रूप का नाश हो कर दूसरे रूप का निर्माण होता है। और उसका नाग एव निर्माण परमाणुओं के मिलने या मिलाने एव अलग करने या अलग कराने पर ही आधारित है। इस परिवर्तन मे किसी ईश्वर की शक्ति का हाथ नही है। यह वात वैज्ञानिक प्रयोगशाला मे भी प्रमाणित हो चुकी है। अत हमे प्रत्यक्ष मे परिलक्षित होने वाले सत्य को छोड़कर किसी असत्य कल्पना के चक्कर मे नही पड़ना चाहिए।

हम यह देख चुके है कि परमाणु का अस्तित्व सदा विद्यमान रहा है, रहता है और रहेगा। इसी तरह आत्मा का भी कोई निर्माता नही है। वह भी पुद्गल की तरह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है, परिवर्तनशील है। हम तत्त्व-मीमांसा प्रकरण मे वता आए हैं कि आत्मा का उपयोग—ज्ञान, दर्शन गुण है। यो भी कह सकते हैं कि ज्ञान, दर्शन आत्मा को पर्यायें हैं। और संसारी आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त होने के कारण शरीरधारी है और एक गति से दूसरी गति मे जाता है। और उस का ज्ञान, दर्शन एव शरीर सदा वदलता रहता है और गति की अपेक्षा भी शरीर एव ज्ञानादि पर्यायो मे अन्तर आता रहता है। इस अपेक्षा से आत्मा को कथचित् अनित्य भी कहा है। उसके एक रूप का नाश एवं दूसरे रूप का उत्पाद होता है। जैसे वाल्य रूप का नाश एव युवावय का उत्पाद होता है तथा इसी तरह आयु कर्म के समाप्त होने पर मनुष्य शरीर का नाग एव जिस योनि का आयुष्य वन्ध कर चुका है, उस योनि

को प्राप्त करता है। इस तरह आत्मा मे एक रूप का नाश और दूसरे रूप का उत्पाद पाया जाता है। इसी कारण जैन दर्शन आत्मा को कथंचित् अनित्य स्वीकार करता है। आत्मा कथचित् अनित्य है. इस वाक्य मे प्रयुक्त कथचित् शब्द आत्मा की नित्यता को भी व्यक्त कर रहा है। कथचित् अनित्य होने पर भी आत्मा नित्यता से युक्त है। नर, तिर्यंच आदि किसी भी अवस्था को प्राप्त आत्मा सदा आत्मा ही रहता है; अपने मूल स्वरूप को नही छोड़ता, वह अनात्मा या जड़ नही बन जाता।

ऊपर के विवेचन से हम यह प्रकट करना चाहते हैं कि ससार मे जीव और अजीव ये दो द्रव्य अनादि है। सदा से चले आ रहे हैं। इन को किसी ने बनाया नही है। स्वय वैदिक परम्परा ईश्वर, जीव, प्रकृति इनको अनादि स्वीकार करती है। अत. यह कहना कि ससार में जितने भी पदार्थ है वे सब किसी के द्वारा बनाए गए है, ठीक नही है। इसीलिए जैन दर्शन कहता है कि यह जगत अनादि है, भूतकाल मे था, वर्तमान मे है, और भविष्य मे रहेगा। इस का कभी बीज-नाश नही होगा। अवस्थान्तरित होता हुआ भी यह सदा से विद्यमान है, और सदा रहेगा।

ससार अनादि है, यह किसी की रचना नही है। यह मान्यता है, जैन दर्शन की। वस्तुस्थिति भी यही है। यदि यह मान लिया जाए, कि ससार को बनाया गया है तो प्रश्न उपस्थित होता है—ईश्वर को किसने बनाया ? जिसने ईश्वर की रचना की है, उस की रचना किस ने की है ? कहा जाता है कि ईश्वर तो अनादि है, उसे कौन बना सकता है ? इस पर हम कह सकते हैं— ससार अनादि है, इसे कौन बना सकता है ! कुछ क्षणों के लिए मान लिया जाए कि ईश्वर ने संसार को बनाया है, तो हम पूछते हैं कि ईश्वर ने ससार को किस तत्त्व

मे वनाया ? कुभकार जैसे माटी से घट बनाता है, वैसे ससार रूप घट को वनाने के लिए किस माटी का प्रयोग किया और वह माटी कहा से आई ? इसके अलावा, ईश्वर के बनाएं प्राणियो मे भिन्नता क्यों मिलती है ? सभी एक जैसे होने चाहिए थे। कोई लूला, कोई लगड़ा, कोई अन्धा, कोई काना, कोई राजा, कोई रक, कोई विद्वान और कोई मूर्ख, ऐसा क्यो है ? समभावी ईश्वर की रचना मे यह विविधता और विपमता क्यो है ? कहा जाता है कि इस विविधता और विपमता का कारण ईश्वर नही है, जीवो के अपने शुभाशुभ कर्म हैं। ऐसा कहना तर्क सगत प्रतीत नही होता। क्योंकि जग-निर्माण से पूर्व कर्म करने वाला था कौन ? कर्ता के विना तो कर्म की सृष्टि हो ही नही सकती ? यदि कहा जाए कि वाद मे कर्मगत विविधता हो गई तो हम कहते है कि ईश्वर ने ऐसे व्यक्तियो की रचना क्यो की, जो कुकर्म करे। पहले सोच समझ कर उनको वनाना चाहिए था। इस तरह के अन्य भी अनेको प्रश्न है, जिनका कोई समाधान नही मिलता है। अत यही समझना चाहिए कि ईश्वर ने ससार को नही वनाया है। जो पदार्थ वनाए जाते है उनका निर्माता प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है, सुना जाता है, और समझा जा सकता है, पर ससार का रचयिता न देखा गया है, न सुना गया है और वह किसी हेतु से सिद्ध किया जा सकता है।

प्रश्न– कहा जाता है कि ईश्वर की इच्छा विना कुछ नहीं होता। संसार का प्रत्येक कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होता है। क्या ऐसा कहना सत्य है ?

उत्तर– विल्कुल नही। ससार के किसी कार्य मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है। ईश्वर ससारके कार्यों मे किसी भी प्रकार का कोई दखल नही देता। यदि ससार के सभी कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते मान

लिए जाएं तो प्रश्न उपस्थित होता है कि कसाई जीवो का घात करते हैं, चोर चोरी करते हैं, डाकू डाके डालते है, गाठ-कतरे गाठे काटते हैं, व्यभिचारी पतिव्रता और सन्नारियो का शील-भग करते है, इस प्रकार के सभी दुष्ट कार्य क्या ईश्वर की प्रेरणा से होते है ? क्या ईश्वर इन कार्यो की प्रेरणा करता है ? यदि नही तो यही मानना होगा कि ससार के किसी कार्य में ईश्वर का कोई दखल नही है। ईश्वर किसी को कोई प्रेरणा नही देता। जीव स्वय ही अच्छे या बुरे कार्यो मे प्रवृत्त होते हैं, ईश्वर का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रश्न– क्या ईश्वर को भाग्य का विधाता मानना चाहिए ?

उत्तर– कभी नही। यदि ईश्वर को भाग्य का रचयिता मान लिया जाए तो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी उस ईश्वर की भाग्य-रचना मे कोई दोष नही होना चाहिए। और यदि दोष रह जाए तो तत्क्षण उस का उसे सुधार कर देना चाहिए। पर ऐसा होता नही है। साधारण कारीगर किसी यन्त्र का निर्माण करता है, और उसमे यदि वह कोई दोष देखता है तो वह उसका पुन सशोधन करके उसके दोष को निकालने का प्रयत्न करता है। स्विटज़रलैण्ड के एक घडी निर्माता के पास एक ग्राहक आया और उसने कहा कि आपके यहा से खरीदी हुई यह घडी सप्ताह मे एक मिण्ट पीछे चलती है। घडी-निर्माता ने घडी को लिया और तुरन्त एक हथौडा मार कर तोड़ दिया, ग्राहक को दूसरी नई घडी देकर रवाना किया और वह स्वय उस घड़ी के दोष को दूर करने के लिए नई घडी बनाने मे सलग्न हो गया। यह आज के वैज्ञानिक की कार्य पद्धति है— जो सर्वज्ञ नही है और जिसकी शक्ति भी सीमित है। जब ईश्वर सर्वज्ञ एव सर्वशक्ति-सपन्न है तो उसके आविष्कार मे पहले तो दोष रहना नही चाहिए। यदि रह गया तो उसे अब तक कभी सुधार लेना चाहिए था। इतनी भूल तो वर्षा के समय

गीली मिट्टी से घरो के बनाने वाले अबोध बालक भी नही करते। यदि उनका रेत का घरौदा टेढा मेढा या विकृत प्रतीत होता है, तो वे तुरत उसे बिखेर कर नव-निर्माण मे लग जाते हैं। परन्तु, जगत का भाग्य अभी तक उसी प्रकार चल रहा है। उसमे कोई सशोधन नही हो पाया, इससे स्पष्ट है कि जगत एव व्यक्तियो के भाग्य को ईश्वर द्वारा निर्मित मानना, उसको अज्ञानी एवं सदोष व्यक्त करना है।

दूसरे, यदि भाग्य का विधाता ईश्वर है, तो फिर किसी भी व्यक्ति का कोई दोष एव अपराध नही माना जाएगा। क्योकि वे जो कुछ बुरा-भला करते हैं, वह भाग्य के अनुसार करते है और उस भाग्य का विधाता ईश्वर है। अत जैसा ईश्वर उनसे कराता है, वैसा ही वे कर देते हैं। इसलिए कोई व्यक्ति चोरी करता है, कोई ब्लैक-मार्केट करता है, कोई व्यभिचार करता है, कोई छल कपट करके अपना स्वार्थ साधता है, इस तरह अनेक पाप एव दोषयुक्त कार्य कराने वाला ईश्वर है। इससे जीवन मे एक तरह से अव्यवस्था एव उच्छृखलता आ जाएगी। दुराचारी व्यक्ति निश्शक भाव से दुष्कार्यों मे प्रवृत्त होगे और उस उद्दण्डता के लिए ईश्वर के नाम की भी दुहाई देंगे। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए—

कल्पना करो, एक पापी है, उससे किसी ने पूछा— भाई! तू यह पाप कर रहा है, तुझ परम पिता परमात्मा का कोई डर नही है? तू नही जानता कि परमात्मा के दरबार मे तेरी जब जाच पड़ताल होगी और जाच पड़ताल मे जब तेरा पाप सामने आयगा तो परमात्मा तुझ पर रुष्ट होगा, और तुझे दण्डित करेगा। पता नही, तुझे वह नरक मे भेज दे, या कुत्तो की योनि मे डाल दे। अत कुछ विचार कर और इस पाप कर्म का परित्याग कर।

यह सुनते ही पापी ने उत्तर दिया। वह बोला— भाई! तू पागल

है, तुझे कुछ पता नही है। मैं सब कुछ जानता हू, इसीलिए निश्चिन्त हो कर पाप कर रहा हू। मुझे पता है कि मैं जो पाप कर रहा हू, यह मेरी बुद्धि का परिणाम है। बुद्धि की प्राप्ति भाग्य से होती है। भाग्य अच्छा हो तो बुद्धि अच्छी मिल जाती है, और भाग्य खराब हो तो बुद्धि भी खराब मिल जाती है। भाग्य का निर्माता परम पिता परमात्मा स्वय है। परम पिता परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी हैं, घट-घट का ज्ञाता है। उसे पता है कि मैं इसके भाग्य का जो निर्माण कर रहा हू, इससे इसे दुष्ट बुद्धि की प्राप्ति होगी। बुद्धि की दुष्टता से यह पाप करेगा, लोगों को दुःख देगा। यह सब कुछ जानते हुए भी परम-पिता परमात्मा ने मेरा ऐसा भाग्य बनाया। अत भाई साहिब ! पाप करने मे मुझे कोई दोष नही लगता। मैं जो कुछ कर रहा हू, उसका उत्तर-दायित्व मुझ पर नही है। उसकी सब जवाबदारी परमात्मा पर है। तूने सुना नही —

करे करावे आपो आप, मानुष के कुछ नाहीं हाथ।*

कितनी स्पष्टता के साथ कहा गया है कि जो कुछ कराता है, वह स्वय परम पिता परमात्मा कराता है। मनुष्य के वश की कोई बात नही है। अत. भाई ! तू चिन्ता क्यो करता है ? परमात्मा के दरबार मे जब मुझ से पूछा जाएगा तो मैं झट जवाब दे दूगा। मेरे पास घडा-घड़ाया जवाब तैयार पडा है। क्या कहूगा? तू भी सुनले-

खुदा जब मुझ से पूछेगा कि यह तकसीर किसकी है ?
तो कह दूगा कि इस तकदीर में तहरीर किसकी है ?

समझ गया है न ? परमात्मा जब मुझ से पूछेगा कि यह तकसीर (भूल या पाप) किसने की है ? तो उत्तर मे मै कह दूगा— प्रभो !

* पत्ता भी हिलता है तो उसकी रजा से।

मुझ से क्या पूछते हो ? आप तो अन्तर्यामी है। आप से क्या छिपा है ? यह सब आप की ही कृपा है, आप ही तो इस तकदीर (भाग्य)को बनाने वाले हो ? फिर इसका उत्तरदायित्व किमी दूसरे पर थोड़ा आ सकता है ? इसके तो आप ही जवाबदार है। ससार मे जो भी पाप होते है, वे सब आपके आदेश से ही होते हैं, क्योकि आप ने ही तो उस तकदीर को बनाया है। जब तकदीर बनाने वाले आप हैं तो दोष किसका ? जो कुछ भी है, वह सब आपका ही है।

भाव यह है कि यदि ईश्वर को भाग्य का विधाता मान लिया जायगा तो संसार मे फैल रहे पाप का मूल परमात्मा को मानना पड़ेगा। विश्व की अराजकता और विषमता की सब जवाबदारी परमात्मा पर आ जायगी। परमात्मा इस जवाबदारी से बच नही सकता। अत. यही मानना उचित और तर्क-सगत है कि परमात्मा भाग्य का विधाता नही है।

दूसरी बात, भाग्य का विधाता ईश्वर समभावी है, उसके यहा राग-द्वेष नही रहता है। फिर उसने भाग्य का निर्माण करते समय किसी का भाग्य अच्छा और किसी का भाग्य बुरा क्यो बनाया है ? सब प्राणियो का भाग्य उसे एक जैसा ही बनाना चाहिए था। पर देखा ऐसा नही जाता। देखा गया है कि ससार मे एक तो ऐसा भाग्यशाली है कि लक्ष्मी उसके चरण चूमती है, गगनचुबी अट्टालिकाओ मे रमणियो के साथ वह आनन्द लूटता है और एक ऐसा भाग्यहीन है कि भूखो मरता है,दिन-रात परिश्रम करने पर भी,दिन-रात एक कर देने पर भी खाली पेट ही रहता है। अपने परिवार का तो क्या, आराम के साथ अपना पेट भी नही भर पाता है। बेचारा भूखा सोता है,-भूख की आग से झुलसा हुआ तड़प-तड़प कर जीवन खो बैठता है। वीतरागी और समभावी ईश्वर के दरबार मे यह अधेर क्यो ? यदि कहा जाए कि यह

सब मनुष्य के दुष्ट कर्मों का परिणाम है, तो फिर हम कहते हैं कि ईश्वर ने उसका ऐसा भाग्य ही क्यों बनाया, जिससे वह दुष्ट कर्म करे?

ईश्वर को भाग्य का विधाता मान लेने पर उक्त प्रकार की अनेकानेक आपत्तिया ईश्वर पर आती हैं, जो उसके ईश्वरत्व को सुरक्षित नही रहने देती। अतः यही मानना उचित और तर्कसगत है कि ईश्वर भाग्य–विधाता नही है। भाग्य का निर्माण स्वय मनुष्य करता है। अच्छा भाग्य बनाए या बुरा, यह सब मनुष्य के हाथ की बात है। परमपिता परमात्मा उस मे कोई दखल नही देता। वस्तुस्थिति भी यही है। इसीलिए जैनदर्शन ईश्वर को भाग्य का विधाता नही मानता।

प्रश्न– ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता मानने में क्या आपत्ति है?

उत्तर– ईश्वर को कर्मफल का प्रदाता मान लेने पर ईश्वर पर एक नही, अनेको आपत्तियां आती है। अत. ईश्वर को कर्मफलदाता नही मानना चाहिए।

जैनदर्शन का विश्वास है कि मनुष्य जो कर्म करता है, उन कर्मो का फल देने वाली तथा जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाली ईश्वर नाम की कोई शक्ति नही है। ससार के पदार्थो मे जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं, वे सब के सब प्राकृतिक नियमो के अनुसार स्वय ही होते रहते हैं। उदाहरण के लिए जल को ले लीजिए। धूप की उष्णता पाकर जल भाप बन कर आकाश में उड़ जाता है, आकाश के शीत भाग में पहुच कर भाप छोटे-छोटे जलबिंदुओ के रूप मे परिवर्तित हो कर मेघ के रूप मे दिखलाई देती है। फिर मेघो के भारी हो जाने पर वर्षा का होना, बिजली का चमकना गड़गड़ाहट

का घोर शब्द होना आदि जितनी भी बाते हैं, उनका सचालक कोई नही है। ये सब घटनाए व परिवर्तन प्राकृतिक नियमो के अनुसार स्वतः ही होते रहते है। इसी प्रकार मनुष्य को उसके पूर्वकृत कर्म का फल देने वाला, एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाला,माता के गर्भ में भ्रूण अवस्था से ले कर यौवन और वृद्धावस्था पर्यंत शरीर की वृद्धि व ह्रास करने वाला तथा जीवन की अन्य जितनी भी दशाएं हैं, उन को निश्चित करने वाली ईश्वर नाम की कोई शक्ति नही है। ये सब कार्य कर्मजन्य प्राकृतिक नियमो के अनुसार अपने-आप ही होते रहते हैं।

ईश्वर को यदि कर्मफल-प्रदाता मान लिया जाए तो ईश्वर जीवों को फल किस प्रकार देता है? यह विचारणीय है। वह स्वय साक्षात् तो दे नही सकता। क्योंकि वैदिक दर्शन की मान्यतानुसार वह निराकार है। और यदि वह साकारावस्था मे प्रत्यक्ष रूप से कर्मों का फल दे तो इस बात को मानने से कौन इन्कार कर सकता है? परन्तु ऐसा देखा नही जाता। यदि वह राजा आदि के द्वारा जीवो को उनके कर्मों का दण्ड दिलवाता है, तो ईश्वर पर अनेको आपत्तिया आती हैं। जानकारी के लिए केवल कुछ-एक का निम्नोक्त पक्तियो मे वर्णन किया जायगा।

१–ईश्वर को यदि किसी धनी के धन को चुरा या लुटा कर उस धनी के पूर्वकृत कर्म का फल देना अभीष्ट है तो ईश्वर इस कार्य को स्वय तो आकर करता नही, किन्तु किसी चोर या डाकू द्वारा ही ऐसा कराएगा। तो ऐसी दशा मे वह जिस चोर या डाकू द्वारा ऐसा कर्म करवाएगा, वह चोर या डाकू ईश्वर की आज्ञा का पालक होने से निर्दोष होगा। तथापि दोषी ठहरा कर पुलिस जो उसे पकड़ती है और दड देती है,वह ईश्वर के न्याय से बाहिर की बात होगी। यदि उसे भी ईश्वर के न्याय मे मान कर चोर को चोरी करने का दण्ड पुलिस द्वारा

दिलवाना आवश्यक समझा जाए तो वह ईश्वर का अच्छा अन्धेर न्याय है कि एक ओर तो वह स्वय धनी को दण्ड देने के लिए चोर को उसके घर भेजता है, और दूसरी ओर पुलिस द्वारा उस चोर को पकड-वाता है। क्या यह "चोर से चोरी करने की बात कहे और शाह से जागने की" इस कहावत के अनुसार ईश्वर मे दोगलापन नही आ जायगा ?

ईश्वर ने प्राणदण्ड देने के लिए ही कसाई, चण्डाल तथा सिंह आदि हिंसक जीव पैदा किए हैं, तदनुसार वे प्रतिदिन हजारो जीवो को मार कर उनके कर्मो का फल उन्हे देते हैं। ईश्वर को कर्मफल-प्रदाता मानने पर ये सभी जीव निर्दोष समझने चाहिए। क्योकि वे भी तो ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं। यदि ईश्वर इन जीवो को निर्दोष माने तब उसके अन्य सभी जीव जो कि दूसरो को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुचाते है, निर्दोष ही समझने चाहिए। यदि उन्हे भी दोषी माना जायगा तो उनके साथ महान् अन्याय होगा। क्योकि राजा की आज्ञा के अनुसार अपराधियो को उन के अपराध का दण्ड देने वाले जेलर, फांसी लगाने वाले व्यक्ति आदि सभी जीव जब न्याय की दृष्टि मे निर्दोष माने जाते हैं तब उनके समान ईश्वर की प्रेरणानुसार अपराधियो को अपराध का दण्ड देने वाले प्राणी दोषी नही होने चाहिए ?

२—ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, अतः उस के द्वारा दी हुई सजा अनिवार्य और अमिट होनी चाहिए। पर ऐसा होता नही है। ईश्वर ने किसी व्यक्ति को उसके अशुभ कर्म का फल देकर उसके नेत्रो की नजर कमजोर करदी, वह अब न तो कोई दूर की वस्तु साफ देख सकता है और न छोटे-छोटे अक्षरो वाली पुस्तक पढ सकता है। ईश्वर का दिया हुआ यह दण्ड अमिट होना चाहिए था। परन्तु

उस व्यक्ति ने डाक्टर से ऐनक ले ली और आखो पर उसे लगा कर ईश्वर की दी हुई सजा को निष्फल बना दिया। वह ऐनक लगा कर दूर की चीज साफ देख लेता है और बारीक से बारीक अक्षर भी पढ लेता है। इसी भाति ईश्वर की भेजी हुई प्लेग, हैजा आदि बीमारियों को डाक्टर लोग, सेवा-समितिया अपने अनथक परिश्रम से बहुत कम कर देते है। इसके अतिरिक्त, कर्मो का फल भुगताने के लिए भूकम्प भेजते समय ईश्वर को यह भी ख्याल नही रहने पाता कि जहां मेरी आराधना और उपासना होती है, ऐसे स्थानक, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारा आदि धर्म-स्थानो को नष्ट करके अपने उपासको की सम्पत्ति को नष्ट न होने दू।

३-ससार जानता है कि चोर, डाकू आदि आततायी लोगो की सहायता करना एक भयकर दोष माना गया है। ऐसा करना लोक-विरुद्ध होने के साथ-साथ धर्म-विरुद्ध भी है। जो लोग चोर आदि दुष्ट लोगो की स्वार्थवश सहायता करते है, तो वे शासन-व्यवस्था के अनुसार दण्डित किए जाते हैं। ऐसी दशा मे जो ईश्वर को कर्म-फल-प्रदाता मानते हैं,और यह समझते हैं कि किसी को जो दु ख मिलता है वह उसके अपने कर्मो का फल है और वह फल भी ईश्वर का दिया हुआ है। फिर भी वे यदि किसी अन्धे की, लूले-लगडे की, अनाथ और असहाय की सहायता करते हैं तो यह ईश्वर के साथ विद्रोह नही तो और क्या है ? क्या वे ईश्वर के चोर की सहायता नही कर रहे ? क्या ईश्वर ऐसे द्रोही व्यक्तियो पर प्रसन्न रह सकेगा, तथा दुःखो और असहाय व्यक्ति की सहायता करना, ईश्वर के साथ द्रोह करना है, ऐसा मान लेने पर दया, दान आदि सात्त्विक और परोपकारपूर्ण अनुष्ठानो का कुछ महत्त्व रह सकेगा ? उत्तर स्पष्ट है— कभी भी नही।

४-ईश्वर जीवो के कृत कर्मों के अनुसार उनके शरीर आदि का निर्माण करता है। जीवो के कर्मों के अनुसार ही वह जीवो को फल प्रदान करता है। अपनी इच्छा के अनुसार वह कुछ नही कर सकता है। ऐसी दशा मे यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर परतन्त्र है। परतन्त्रता की वेडियो मे जकड़ा व्यक्ति कभी ईश्वर कहा नही जा सकता। जो सर्वथा स्वतन्त्र है, समर्थ है, उसी व्यक्ति के लिए ईश्वर की सज्ञा दी जा सकती है। परतन्त्र जीवन को ईश्वर का पद प्राप्त नही हो सकता। जुलाहा यद्यपि कपड़े बनाता है, परन्तु वह परतन्त्र है, स्वार्थ परिवार, समाज आदि के वधनो मे वह वधा हुआ है, इसलिए उसे ईश्वर नही कहा जाता है। कर्म-अधीन होने से ईश्वर की भी यही स्थिति है। यदि ईश्वर अपनी इच्छा से कर्मफल मे हेराफेरी करने लग जाए तो उसकी प्रामाणिकता समाप्त हो जाती है।

५-किसी प्रांत मे किसी सुयोग्य न्यायशील शासक का शासन हो तो उसके प्रभाव से चोरो, डाकुओ तथा आततायी लोगो का चोरी आदि दुष्कर्म करने मे साहस नही पडता। और वे उद्दण्डता को छोड कर प्राय सत्पथ अपना लेते है। जिससे प्रात मे शाति की स्थापना हो जाती है। और वहा के लोग निर्भयता के साथ सानन्द जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु यह समझ मे नही आता कि जब ससार का शासक ईश्वर है, और वह ऐसा शासक है, जो सर्वथा दयालु है, न्यायशील है, सर्वशक्तिमान है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है, तथापि ससार मे बुराई कम नही हो पाती। मासाहारियो, व्यभिचारियो और चोरो आदि हिसक लोगो का आधिक्य ही दृष्टिगोचर होता है। सर्वत्र छल, कपट और ईर्षा-द्वेष की आग जल रही है। ऐसी दशा मे कैसे कहा व माना जाए कि ईश्वर ससार का शासक है?

६-जब कोई मनुष्य चोरी करता है तो उस पर राज्य की ओर

से व्यवस्थित ढग से अभियोग चलाया जाता है। यह प्रमाणित होने पर कि इस व्यक्ति ने चोरी की है, या अमुक अपराध किया है तो न्यायाधीश (जज) उसको जेल या जुरमाना आदि का उपयुक्त दण्ड देता है। वह अपराधी व्यक्ति तथा लोग यह जान जाते हैं कि चोरी आदि दुष्कर्मो का फल जेल आदि के रूप मे दण्ड मिलना है। इस दण्ड का ज्ञान होने पर वह व्यक्ति एवं साधारण जनता यह जान जाती है कि चोरी आदि दुष्कर्म नही करने चाहिए। यदि किए गए तो जेल आदि के रूप मे उसका दण्ड भुगतना पडेगा। फलस्वरूप भविष्य मे किसी व्यक्ति का चोरी आदि लोकविरुद्ध तथा राज्यविरुद्ध कार्य करने मे सहसा साहस नही होने पाता। जनता का भावी सुधार हो, यह उद्देश्य दण्ड देने मे रहा हुआ है। परन्तु यदि किसी देश का शासक किसी अपराधी को पकड़ या पकड़वा कर जेल मे डाल दे और उसपर कोई अभियोग (मुकद्दमा) न चलावे और न यही प्रकट करे कि इस व्यक्ति ने क्या अपराध किया है। तो ऐसी दशा मे जनता उस व्यक्ति को निर्दोष और शासक को अन्यायी समझने लगेगी। अपराध तथा उसके फलस्वरूप दण्ड का बोध न होने से जनता कभी भी उस व्यवस्था से शिक्षित नही हो सकेगी। इस का कुफल यह होगा कि न कोई अपराध करने से डरेगा और न उस व्यक्ति का सुधार होगा।

नाथूराम गोडसे ने सैकडो व्यक्तियो के सामने महात्मा गाधी के सीने मे तीन गोलिया मारी थी। अतः नाथूराम को हत्यारा प्रमाणित करने के लिए किसी गवाह की आवश्यकता नही थी, और व्यावहारिक रूप से भारत सरकार को गोडसे को फासी के तख्ते पर लटका देना चाहिए था। परन्तु भारत सरकार ने ऐसा नही किया, प्रत्युत व्यवस्थित रूप से अदालत मे गोडसे को हत्यारा प्रमाणित करने के अनन्तर ही उसे फासी दी गई। राज्य व्यवस्था इसी ढंग से जीवित रह सकता

थी। अपराधी के अपराध को प्रमाणित किए बिना उसे दण्डित करना किसी भी दृष्टि से उचित और न्याय संगत नही कहा जा सकता।

ईश्वर ससार का शासक है। इसी प्रकार उसे भी व्यवस्थित ढग से ही काम लेना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नही है। जब कोई व्यक्ति मनुष्य योनि मे जन्म लेता है, और जन्म से ही वह अन्धा और पगु शरीर वाला होता है। तो उस व्यक्ति को, उसके परिवार को तथा उसके देशवासियो को यह ज्ञात नही होता कि यह अन्धत्व और पगुत्व किस कर्म का फल है? किसी को भी यह मालूम नही होने पाता कि यह सदोष शरीर किस कर्म के कारण इस व्यक्ति को प्राप्त हुआ है? सब के सर्वथा अज्ञात रहने के कारण उक्त दुष्ट शरीर की प्राप्ति के मूलभूत दुष्कर्म का किसी को ज्ञान नही होने पाता। इस से दण्ड देने का यह उद्देश्य कि अपराधी भविष्य मे अपराध न करे, और लोगो को इस से शिक्षा प्राप्त हो, सफल नही होने पाता। ईश्वर का कर्तव्य बनता है कि वह किसी भी व्यक्ति को दण्ड देने से पूर्व उसके अपराध को प्रमाणित करे, यह स्पष्ट करे कि इस व्यक्ति ने अमुक दुष्कर्म किया था, इस लिए उसको अमुक दण्ड दिया जाता है। ऐसा करने से ईश्वर की दण्डमर्यादा सफल हो सकती है। और ऐसा करने से ही जनमानस उस दुष्कर्म से भयभीत होगा, और भविष्य मे उस से सुरिक्षत रह सकेगा। इसके अतिरिक्त, ऐसा करने से ही दण्डित व्यक्ति के मानस का सुधार होगा और वह भी भविष्य मे पाप करने मे सकोच करेगा। परन्तु ईश्वर ऐसा कुछ नही करता।

७–जो ईश्वर कर्म का फल देने का सामर्थ्य रखता है, उसमे अपराधी को दुष्कर्म करने से रोकने का बल भी रहता है। लौकिक व्यवहार भी ऐसा ही है। जो शासक डाकुओ के दल को उस के अपराध के दण्ड–स्वरूप जेल मे बन्द कर सकता है, अथवा प्राण दण्ड दे

सकता है, तो उस शासक मे यह भी शक्ति होती है कि यदि उस को पता चल जाए कि डाकुओं का दल अमुक गाव मे या अमुक नगर में अमुक समय डाका डालेगा और लोगो के जीवन-धन को लूटेगा तो उस शासक का कर्तव्य बनता है कि वह डाका डालने के समय से पूर्व ही डाकुओ को डाका डालने से रोके या उन्हे गिरफ्तार करे। यदि शासक जान बूझ कर प्रजा के धन, माल का सरक्षण नही करता है तो वह अपने कर्तव्य की हत्या करता है।

कर्मफलप्रदाता ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, और साथ मे परम दयालु भी है। वह जानता है कि अमुक व्यक्ति यह अपराध करेगा और इस समय करेगा। ऐसी दशा मे उस का कतव्य है कि वह अपराधी की भावना को परिवर्तित करदे, अपराध करने का उसने जो निश्चय किया है उसे बदल दे। या उसके मार्ग मे ऐसी बाधाए उपस्थित कर दे कि जिस से वह अपराध कर ही न सके। इसके विपरीत यदि ईश्वर अपराधी के भावो को जानता है, और अपराध रोकने का सामर्थ्य भी रखता है, परन्तु उसे रोकता नही है, अपराधी को अपराध करने देता है तो मानना पडेगा कि वह भी अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होता है। ऐसे ईश्वर का कर्तव्यपालक, न्याय-शील या दयालु नही कहा जा सकता है।

यदि कहा जाए कि ईश्वर ने जीवो को कर्म करने मे स्वतन्त्रता दे रखी है। जीव यथेच्छ कर्म कर सकते हैं, ईश्वर उसमे बाधक नही बनता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर जो कर्म फल देता है, उसका उद्देश्य प्राणियो का सुधार नही है, प्रत्युत अपना मनोविनोद या शासन की महत्त्वाकाक्षा पूर्ण करने के लिए वह ऐसा करता है। यदि जन-मन का सुधार करना ईश्वर का उद्देश्य हो, फिर तो वह जीवो को दुष्कर्म करने से पूर्व ही रोक दे। परन्तु वह ऐसा क्यो करे क्योकि

यदि जीव दुष्कर्म करना छोड़ दे तो ईश्वर अपना मनोविनोद और शासन करने की महत्त्वाकाक्षा को पूर्ण कैसे करे ? लोगो के हित की चिन्ता न करने वाला, प्रत्युत अपने ही विनोद और शासन का ध्यान रखने वाला व्यक्ति क्या ईश्वर कहलाने योग्य है ? उत्तर स्पष्ट है, कभी नही।

८-ससार मे अनन्त जीव हैं और प्रत्येक जीव मन, वचन और काया मे कुछ न कुछ करता ही रहता है। एक जीव की क्षण-क्षण की क्रियाओं का इतिहास लिखना और उन का जीव को फल देना, यदि असभव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। जब एक जीव के क्षण-क्षण का ब्योरा रखना, एव उसका फल देना इतना दुष्कर है तो ससार के अनन्त जीवो के क्षण-क्षण की क्रियाओ का ब्योरा रखना एव उन का फल देना ईश्वर के लिए कितना दुष्कर कार्य है। यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त, संसार के अनन्त जीवो के क्षण-क्षण मे किए गए कर्मो के फल देने मे लगे रहने से वह ईश्वर कैसे शान्त तथा अपने आनन्द स्वरूप मे कैसे मग्न रह सकता है ? तथा यह सब झंझट ईश्वर करता किस लिए है ? ईश्वर को क्या आवश्यकता पड़ी है कि वह ससार के अनन्त जीवो के कर्मों का हिसाब रखे और फिर उन्हे दण्ड दे ?

९-देखा जाता है कि किसी कर्म का फल, कर्त्ता को तुरन्त मिल जाता है और किसी का कुछ समय के वाद मिलता है, किसी का कुछ वर्षों के वाद और किसी कर्म का फल, जन्मान्तर मे मिलता है। इस का कारण क्या है ? कर्मफल के योग मे यह विषमता क्यो देखी जाती है ? क्या ईश्वर के यहा भी रिशवतें चलती है जो किसी को आगे और किसी को पीछे कर्मों का फल भुगताता है ?

ईश्वर को यदि कर्मफल का प्रदाता स्वीकार कर लिया जाए तो

उक्त प्रकार की अन्य भी अनेकों आशकाएं उपस्थित होती है, किन्तु उनका कोई सतोषजनक समाधान नही मिलता है। अत. यही मानना सगत और उपयुक्त है कि कर्मफल के भुगताने मे ईश्वर का कोई हाथ नही है। प्रत्युत कर्म-परमाणु स्वय ही प्राकृतिक नियमो के अनुसार कर्ता को फलानुभव करवा डालते हैं।

जैनदर्शन की इस मान्यता का, कि कर्मफल के भुगताने मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है, जैनेतर धर्म शास्त्र श्रीमद् भगवद्गीता मे भी पूरा-पूरा समर्थन मिलता है। वहा लिखा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि,लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल-सयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

—गीता अ० ५-१४

अर्थात् ईश्वर न तो ससार की रचना करता है, न जीवों के कर्म बनाता है और न कर्मों का फल ही देता है। किन्तु प्रकृति ही सब कुछ करती है। तात्पर्य यह है कि जगत के निर्माण मे, भाग्यविधान में तथा कर्मफलप्रदान मे ईश्वर का कोई हाथ नही है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसका वैसा फल पा लेता है।

नादत्ते कस्यचित पापं, न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

—गीता अध्याय ५-१५

अर्थात् किसी का न तो पाप लेता है और न किसी का पुण्य ही लेता है। अज्ञान से आवृत होने के कारण यह जीव स्वय मोह मे फस जाते हैं।

प्रश्न— ईश्वर यदि कर्मों का फल नहीं देता है तो फिर कर्मफल

कौन देता है ? जीव को एक योनि से दूसरी योनि में कौन ले जाता है ?

उत्तर– प्राकृतिक नियमो के अनुसार जीवों को जो शक्ति कर्मफल प्रदान करती है, उसे कार्मणशरीर कहते हैं। जैन दर्शन का विश्वास है कि दीपक जैसे बत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से ज्वालारूप मे परिणत कर देता है, बदल देता है, वैसे ही आत्मा काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकारो से कर्म योग्य पुद्‌गलो को ग्रहण करके उन्हे कर्म रूप मे परिणत कर लेता है। उन्ही कर्म पुद्‌गलो के समूह का नाम कार्मणशरीर है। यह कार्मणशरीर या कार्मण शक्ति सारे शरीर मे व्यापक रहती है। शरीर मे जहा-जहा आत्मा है वहां-वहा यह शक्ति निवास करती है। यह शरीर के किसी एक भाग मे केन्द्रित नही रहती, प्रत्युत आत्मा की भाति सारे शरीर मे व्याप्त है और आत्मप्रदेशो के साथ क्षीर-नीर की तरह मिली रहती है।

कार्मण शरीर को सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। यही सूक्ष्म शरीर आत्मा को एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाने वाला है। माता के गर्भ मे कलल से भ्रूण, भ्रूण से शिशु, युवक व वृद्ध बनाने वाला भी यही है। शरीर-सम्बधी सभी बातो को निर्धारित करने वाला, तथा आत्मा की शक्ति को आवृत करके उसके शुद्ध आनन्दस्वरूप को विकृत बनाने वाला भी यही है। इसी के प्रताप से आत्मा काम, क्रोध आदि विभावो मे परिणत होता है।

सूक्ष्म शरीर के सूक्ष्म पुद्‌गल परमाणुओ मे व्यक्ति को पूर्वकृत कर्मो का फल देने वाली शक्ति इस प्रकार अवस्थित होती है, जिस प्रकार विद्युत् यन्त्र बैटरी (Battery) मे विद्युतशक्ति। जैसे चुंबक की आकर्षण शक्ति द्वारा खिच कर लोहा उसकी ओर चला जाता है,

वैसे ही जीव इस कार्मण शक्ति द्वारा वर्तमान शरीर को छोड़ कर दूसरी योनि की ओर आकर्षित होता हुआ वहा जा उत्पन्न होता है। इस तथ्य को एक उदाहरण से समझिए।

कल्पना करो। चुम्बक पत्थर के सामने एक लोहा पड़ा है, और उस पर एक मक्खी बैठी है। जिस समय चुम्बक के आकर्षण से लोहा उसकी ओर आकर्षित होगा, तो लोहे के साथ-साथ उस के ऊपर बैठी मक्खी भी आकर्षित हो जायगी। चुम्बक से आकर्षित हुआ लोहा जिधर को जायगा तो उधर को मक्खी भी खिसकती जायगी। तो जैसे मक्खी को आकर्षित करने वाला तत्त्व परम्परा से वह चुबक पत्थर ही ठहरता है, वैसे ही कार्मणशरीर से युक्त आत्मा को जिस स्थान पर उसे उत्पन्न होना है, उस स्थान मे स्थित परमाणु ही उसे आकर्षित कर लेते है। उत्पत्ति स्थान के परमाणुओ का आत्मस्थ कर्म परमाणुओ के साथ ऐसा विचित्र और अवाच्य आकर्षण होता है कि जिसके प्रभाव से आत्मा स्वत ही अपने उत्पत्तिस्थान में पहुँच जाता है। कर्मवाद की दृष्टि मे आत्मा को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुचाने वाली शक्ति केवल परमाणुओ और उत्पत्ति स्थान मे अवस्थित परमाणुओ का पारस्परिक आकर्षण ही है। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार आत्मा के परलोकगमन मे कर्म परमाणु ही कारण है, ईश्वर या किसी अन्य दैविक् शक्ति विशेष का उससे कोई संबंध नही है। परमाणुओ मे एक विलक्षण आकर्षण रहता है? उसी आकर्षण के कारण परमाणुओ द्वारा अनेको ऐसे कार्य सम्पन्न होते हैं, जिन्हे सुन कर एक साधारण व्यक्ति तो विस्मित हो उठता है। परमाणुओ मे कितना विलक्षण आकर्षण है? और यह आकर्षण किस तरह अद्भुत और असभावित कार्य करता है? इस सबध मे प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय अध्याय मे प्रकाश डाला गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करे।

रही कर्मों के फल देने की बात, उसके सबंध मे जैन दर्शन का कहना है कि कर्म परमाणु अपना फल स्वय देते हैं, उस के लिए किसी न्यायाधीश को आवश्यकता नही है। जैसे शराब पीने पर व्यक्ति को नशा हो जाता है और दूध पीने पर व्यक्ति का मस्तिष्क पुष्ट होता है। शराब या दूध पीने के अनन्तर उनका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिमान नियामक की जैसे आवश्यकता नही होती, वैसे ही जीव की प्रत्येक कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्माणु जीवात्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से § क्षीर-नीर या लोह-अग्नि की भाति मिल जाते है,

§ आत्मप्रदेशो का कर्म-परमाणुओ के साथ जो क्षीर नीर जैसा सबध बतलाया गया है, वह केवल कर्माणुओ का आत्मप्रदेशो के साथ अत्यधिक निकट का सबध प्रकट करने के लिए ही बताया गया है। वस्तुत. आत्मप्रदेश दूध के परमाणुओ की भाति व्यवधान वाले नही हैं।जैन दर्शन का विश्वास है कि आत्मा के असख्य प्रदेश होते हैं, और उनका कभी पारस्परिक वियोग नही होता है। वे सदा एक दूसरे से सम्बद्ध रहते है।अतः उनमे कर्माणु क्षीर नीर या लोह-अग्नि की भाति नही मिल सकते। क्योकि दूध के अणुओ में सयोग-वियोग होता रहता है, और इनमें जो जल-कण मिलते हैं, वे जैसे वस्त्र के तन्तुओ पर मल की तहें बैठ जाती है, ऐसे नही मिलते, बल्कि दुग्धपरमाणु और जलपरमाणु दोनो समकक्ष या समश्रेणिस्थ होकर मिलते हैं। आत्मप्रदेश खण्डित न होने के कारण कर्माणु उन के साथ समकक्ष हो कर नही मिल सकते। तथापि आत्म-प्रदेशों का कर्माणुओ के साथ जो क्षीर-नीर का सम्बन्ध कहा जाता है,यह केवल स्थूल उदाहरण द्वारा उनका अत्यधिक निकट का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए ही कहा जाता है। वस्तुतः कर्माणुओ का और आत्मप्रदेशो का सम्बन्ध केतु द्वारा ग्रसित सूर्य, या राहुद्वारा आच्छादित चन्द्र के समान समझना चाहिए।

उन कर्माणुओ मे भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति निवास करती है,जो चैतन्य के सबध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसके प्रभाव मे मुग्ध हुआ जीव ऐसे-ऐसे काम करता है जो सुखदायक तथा दुःखदायक होते हैं। कर्म करते समय यदि जीव के भाव अच्छे हैं तो बन्धने वाले कर्म-परमाणु अच्छे होते है और बाद मे उस का फल भी अच्छा ही होता है। तथा यदि जीव के भाव बुरे होते है तो उस समय बुरे परमाणुओ का बध पडता है और कालान्तर मे उसका फल भी बुरा ही होता है। अतः जैन दर्शन कहता है कि कर्मफल की प्राप्ति मे कर्म परमाणु ही सर्वेसर्वा कारण है, ईश्वर का उसके साथ कोई सबध नही है।

प्रश्न– ईश्वर जगत का निर्माता नहीं है, भाग्य का विधाता नहीं है, और वह कर्मफलप्रदाता भी नहीं है,फिर उसका स्मरण करने की क्या आवश्यकता है? ईश्वर जब वीतराग है, वह न प्रसन्न होता है और नाँहीं रुष्ट होता है; फिर उसके गुण गाने का क्या प्रयोजन? यदि ईश्वर हमारा कुछ नफा-नुकसान नहीं करता तो उसके भजन से क्या लाभ?

उत्तर– जैसे दर्पण को देख कर मनुष्य अपने मुँह पर लगे हुए दाग को साफ कर लेता है। वैसे ही परमात्मा को आदर्श मान कर हम अपनी आत्मा को धो सकते हैं। इसीलिए परमात्मा का भजन व चिन्तन हमारे लिए नितान्त आवश्यक है। परमात्मा के भजन का केवल इतना ही उद्देश्य होता है कि उस का चिन्तन करके हम उस के स्वरूप को अवगत कर सके, और उसके विशुद्ध गुणो को अपने अन्दर प्रकट कर सकें। पथिक को/ जिस पथ पर चलना होता है, सर्वप्रथम

उसे गन्तव्य पथ को जानने तथा समझने की आवश्यकता होती है, मार्ग को जाने विना उसका उस पर चलना असभव है। मार्ग पर चलने से पूर्व मार्ग की जानकारी प्राप्त करनी ही पडती है, तभी यात्री अपने गन्तव्य पथ पर चल कर अपने लक्ष्य तक पहुच सकता है। ऐसे ही परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए, उसके स्वरूप को समझना होगा और समझने के अनन्तर उसे अपनाना होगा। जब तक परमात्मा के स्वरूप को अवगत नही किया जायगा, तब तक उसे प्राप्त करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। परमात्मा का स्मरण और उसका चिन्तन उसके स्वरूप को अवगत और परम्परा से उसे प्राप्त करने का साधन है। इसीलिए परमात्मा का स्मरण किया जाता है। और यथाशक्ति करना भी चाहिए।

दु खो के उत्पादक राग और द्वेष ये दो जीवन-विकार है। इन दोनो को दूर करने के लिए राग-द्वेष रहित परमात्मा का अवलम्बन लेना नितान्त आवश्यक है। स्फटिक के पास जिस रग का फूल रखा जायगा तो वैसा रग स्फटिक अपने मे ले आता है। ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष के वातावरण मे बैठ कर जीव को राग-द्वेष के सस्कार मिलते हैं। इन सस्कारों से बचने के लिए सुन्दर, पवित्र और सात्त्विक ससग प्राप्त करने की विशेष आवश्यकता रहती है। ईश्वर का स्वरूप परम निर्मल और शान्तिमय है। राग-द्वेष का रग या उसका तनिक सा भी प्रभाव उसके स्वरूप मे नही है, अत उसका अवलम्बन लेने से, उसका ध्यान व चिन्तन करने से आत्मा मे वीतराग भाव का सचार होता है, आत्मा मे ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि राग द्वेष की प्रवृत्तिया धीरे-धीरे शान्त होने लगती हैं। और जीव स्वय वीतराग बन जाता है। आग का सान्निध्य पाकर मनुष्य का जैसे शैत्य दूर हो जाता है, ठीक

इसी प्रकार वीतराग प्रभु का स्मरण करने से आत्मा के राग-द्वेष आदि विकारो का सैन्य भी भागने लगता है और आत्मा निज स्वरूप मे आकर अनन्त आनन्द और ज्ञान की अनन्त विभूति से मालामाल हो जाता है। परमात्मा के गुणो के स्मरण व चिन्तन करने का यही सब से बड़ा लाभ है।

दूसरी बात यह भी है कि परमात्मा का नाम इतना पवित्र और सात्त्विक है कि जब कोई व्यक्ति शुद्ध हृदय से उसका चिन्तन करता है, उसके गुणों मे रमण करने लग जाता है, तब उसके मन मे कोई विकार उत्पन्न नही होने पाता, मन सर्वथा शान्त और निर्विकार बन जाता है, मन एक अनुपम तथा अपूर्व सा उल्लास अनुभव करता है। ऐसी दशा यदि लगातार बनी रहे तो मानव धीरे-धीरे अभ्यास बढाता हुआ एक दिन इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसका मन फिर कभी भी सांसारिक विषयो की ओर नही जाता। और अन्त मे जीवनगत विकारों का सर्वथा खातमा करके परमात्म स्वरूप बन जाता है। अतः जीवन को परमात्म स्वरूप मे लाने के लिए परमात्मा के गुणो के स्मरण या चिन्तन का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। और उस अभ्यास को सतत बनाए रखने के लिए परमात्म-स्मरण को दैनिक आवश्यकता होती है। तीसरी बात यह भी है कि मनुष्य जब तक प्रभु-स्मरण मे लगा रहता है, परमात्मा के गुण गाता रहता है, कम से कम उतने समय के लिए तो वह पापाचार से बचा ही रहता है। १६ आने गंवाने की अपेक्षा यदि दो आने भी बचा लिए जाए तो वह अच्छा ही है। इसी तरह मन यदि सारा दिन पवित्र नही रह पाता है,तो जितने क्षण सात्त्विक और पवित्र बना रहे तो उतना ही अच्छा है, जीवन के उतने ही क्षण सफल होते हैं। इसीलिए भक्तराज कबीर ने कहा है—

सांस सफल सो ही जानिए, जो प्रभु-सिमरण में जाय।
और सांस यूं ही गए, कर - कर बहुत उपाय ॥

प्रभु-स्मरण करते समय एक बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रभु-स्मरण आत्मशुद्धि या आत्मकल्याण के लिए ही करना चाहिए। उसके पीछे पुत्र, कलत्र या अन्य सासारिक पदार्थो की कामना नही रहनी चाहिए। परमात्मा वीतराग है, वहां राग और द्वेष का सर्वथा अभाव है, अत. नाम लेने से वह प्रसन्न होगा, प्रसन्न हो कर हमारी कामना पूर्ण करेगा, ऐसी आशा नही रखनी चाहिएं। जैनदर्शन किसी आध्यात्मिक अनुष्ठान को ऐहिक स्वार्थ के लिए, करने का निषेध करता है। दशवैकालिक सूत्र के नवम अध्ययन मे लिखा है- कि तपस्वी साधु ऐहलौकिक सुखो के लिए तप न करे, पारलौकिक स्वर्गादि सुखो के लिए तप न करे. आत्म प्रशसा के लिए तप न करे । किन्तु केवल आत्मशुद्धि तथा कर्मो की निर्जरा के लिए ही तप का अनुष्ठान करे। प्रभु का स्मरण करना भी एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। अत. इस अनुष्ठान को भी स्वच्छ और परमार्थ भावना से करना चाहिए। इसके पीछे कोई स्वार्थ या ऐहिक महत्त्वाकाक्षा आदि दुर्भाव नही रखना चाहिए।

प्रश्न- क्या ईश्वर अवतार धारण करता है?

उत्तर- नही करता, क्योकि अवतार [जन्म] उन्ही जीवो का होता है, जो कर्म, इच्छा, मोह, माया, अविद्या से युक्त हो। ईश्वर मे ये सब चीजें नही है, फिर वह अवतार कैसे ले सकता है?

वैदिक परम्परा मे विश्वास पाया जाता है कि § जब-जब धर्म

---

§ यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत !
परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम् ॥

की हानि होती है, अधर्म की वृद्धि होती है पाप का भूत जाग उठता है, और धर्म का देव सो जाता है, तो धर्म के देव को जगाने के लिए और अधर्म के असुर का नाश करने के लिए तथा साधु जीवन का सरक्षण और पापियो का विनाश करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। परम पिता परमात्मा वैकुण्ठधाम मे मृत्युधाम मे आ जाता है। धर्म की सस्थापना करने के लिए भगवान से इन्सान बनता है।

अवतारवाद की इस वैदिक मान्यता पर यदि गभीरता से विचार किया जाए तो इस मान्यता मे कोई सार दृष्टिगोचर नही होता। कितने आश्चर्य की बात है कि जो परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्व शक्तिसम्पन्न है, जिसके स्मरण से मानस शान्ति के सरोवर मे डुबकिया लेने लगता है, आनन्दानुभूति करता है, उस परमपिता परमात्मा को कभी कछुआ बना देना, कभी मछली और कभी सूअर बना देना कहां की शिष्टता है ? ईश्वर क्या हुआ, एक अच्छा खासा बहुरूपिया बन गया, जिसे न जाने कितने स्वाग धारण करने पड़ते हैं।

किसी अवतारवादी से पूछा जाए कि इस समय भारत मे इतना अनर्थ हो रहा है, सर्वत्र पापाचार का दानव नग्न नृत्य कर रहा है, सत्य का जनाज़ा निकाला जा रहा है, धर्म, कर्म सब बदनाम हो रहे हैं, ऐसी स्थिति मे भगवान मौन क्यो बैठे है ? कान मे तेल डालकर क्यो सो रहे हैं ? इस भीषण और भयावह युग मे भी वह अवतार क्यो नही लेते ? तब वह एक पेटेण्ट (Patent) घड़ाघडाया जवाब देता है कि अभी पाप का घड़ा भरा नही है। खूब रहो, घडा भी बड़ा अनो-

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय, सभवामि युगे युगे ॥

खा है, जो कभी तो हाथी की थोडी सी चिंघाड़ मात्र से भर जाता है और कभी भूमण्डल के सभी प्राणियों की करुण पुकार से भी नही भरने पाता। कभी तो नाई के वदले राजा के पैर दवाने के लिए भगवान भाग उठते हैं और अब दु खो के मारे जन–गण कराह रहे है, अन्नाभाव और अर्थाभाव के कारण ऐडिया रगड़–रगड़ कर लोग दम तोड रहे हैं तथापि दीन–दयालु करुणा के सागर सानन्द वैकुण्ठधाम मे वैठे आराम की वन्सरी वजा रहे हैं, पता नही, उनके कानो पर जूं तक क्यो नही रेंगती ? तथा कभी तो द्रौपदी के अग को ढकने के लिए भगवान साड़ियो की वर्षा कर देते हैं, और अब जब कि हजारों नही लाखो द्रौपदियो को नग्न किया गया, और वडी निर्दयता के साथ उन का शील भग किया और कराया गया तथापि भगवान को दया नही आई।

वास्तव में देखा जाए तो अवतारवाद का सिद्धात सर्वथा थोथा और खोखला सिद्धात है, इसके पीछे कोई दार्शनिक वल नही है। सच तो यह है कि ईश्वर को अवतारवाद के साथ जोड कर ईश्वरके ईश्वरत्व को अपमानित किया गया है।

आध्यात्मिक जगत मे ईश्वर का सर्वोपरि स्थान है। यह स्थान कर्मों को क्षय करने के अनन्तर उपलब्ध होता है। तत्त्वार्थसूत्र के दशम अध्याय मे आचार्य उमास्वाति कहते है कि "कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्ष"। अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय कर देने का नाम मोक्ष है। मोक्ष मे जाने वाला आत्मा कर्मों से सर्वथा और सर्वदा मुक्त रहता है। मुक्त अवस्था की प्राप्ति ही तभी होती है जब कर्मो का आत्यन्तिक क्षय कर दिया जाए। जो आत्मा कर्मो का सर्वथा नाश करके उनसे नितान्त छुटकारा प्राप्त कर लेता है, वह पुन कर्मो के बन्धन में कैसे आ सकता है? कर्म बन्धन क्रोध, मान, माया आदि

विकारो से होता है, जव विकार ही समाप्त हो गए तो फिर कर्म-वध कैसे हो सकता है ? वीज के सर्वथा जल जाने पर जैसे उस मे अकुर की उत्पत्ति नही होती वैसे कर्म-रूपी वीज के जल जाने पर ससाररूप (जन्म–मरण रूप) अकुर पैदा नही हो सकता । ईश्वर को सर्वथा निष्कर्म मान लेने पर उसका अवतार कैसे सभव हो सकता है ? जव वह निष्कर्म है तो वह नव मास अन्धेर कोठरी में उलटा क्यो लटके ?

ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, सर्वशक्तिसम्पन्न है, तथा वोतरागो है, फिर वह भला नीचे क्यो आए ? क्यो मत्स्य, वराह और मनुष्य आदि का रूप धारण करे ? इसके अतिरिक्त,भगवान को अवतार लेने की जरूरत ही क्या है ? क्या वह जहा वैठा है, वही से अपनी अनन्त–शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हल्का नही कर सकता है ? जब पापियो † का ही गला घोटना है, तो यह काम वह वही वैठा, वैठा भी कर सकता है । यदि वह वहां ऐसा नही कर सकता तो वह सर्व-शक्तिसम्पन्न है, यह कैसे माना जा सकता है ? अवतारवाद मान लेने

† जैनदर्शन पापियो के विनाश को अच्छा नही समझता है । जैन दर्शन कहता है कि पापी वुरा नही होता, वुरा पाप होता है । पापी का गला घोटने से पाप नही मर सकता । क्योकि अगले जीवन मे भी पापी के पापमय सस्कार साथ जाते है । अत यदि पापी का सुधार करना है तो पाप का गला घोटने की आवश्यकता है । पाप की मृत्यु हो जाने से पापी, पापी नही रहेगा । वह वाल्मीकि की तरह ससार को एक ऋषि के रूप में दर्शन देगा । अत. पाप के विनाश के लिए पापी का नाश करना जैन दर्शन को इष्ट नही है । इगलिश में भी कहा है—'Hate the sin,not the sinner' अर्थात् पाप मे नफरत करो, पापी मे नही । दूसरी वात, पापियो का नाश करने में भगवान की क्या विशेषता है ? उसकी विशेषता तो उनका सुधार करने में है ।

पर ऐसी अनेकों आपत्तियां उपस्थित हो जाती हैं,जिनका कोई सतोष-जनक समाधान नही मिलता। इसीलिए जैन दर्शन ईश्वर के अवतार-वाद मे कोई विश्वास नही रखता है।

जैनदर्शन का आदर्श ईश्वर का अवतार नही है, जैन दर्शन मनुष्य के उत्तार की बात कहता है। यहा ईश्वर का मानव के रूप मे अवतरण (ऊपर से नीचे की ओर आना) नही माना जाता, बल्कि मानव का ईश्वर के रूप मे उत्तरण (नीचे से ऊपर की ओर जाना) माना जाता है। जैन सस्कृति मे मनुष्य से बढ कर और कोई प्राणी नही है। उसकी दृष्टि मे मनुष्य केवल हाड-मास का चलना-फिरता पिजर नही है, प्रत्युत अनन्त शक्तियो का पुज है, देवताओ का भी देवता है, और अनन्त सूर्यो का भी सूर्य। मनुष्य मे वह शक्ति है जो मुक्ति के पट खोलती है,मगर आज वह मोह-माया के अधकार से आ-च्छादित हो रही है।सत्य-अहिंसा के दिव्यालोक मे जिसदिन यह मनुष्य अपने अज्ञानाधकार को नष्ट कर निजस्वरूप को पाएगा तो उस दिन वह अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक ज्योतियो का पुज बन कर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा बन जायगा। जैन सस्कृति मे मनुष्य की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है। यही जैन सस्कृति का उत्तार-वाद है। जो मानव को सत्य-अहिंसा की पवित्र साधना द्वारा सिद्ध-बुद्ध-परमात्मा बनने की आदर्श प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार जैन सस्कृति का उत्तारवाद मानव जाति को ऊपर उठना सिखाता है, वैदिक सस्कृति की तरह यह अवतारवाद के माध्यम से मनुष्य को ईश्वर के हाथ की कठपुतली नही बनाता।

प्रश्न— ईश्वर एक है या अनेक?

उत्तर— जैन दर्शन इस का उत्तर स्याद्वाद की भाषा मे यदि दे तो कहना होगा— ईश्वर एक भी है और अनेक भी। गुणों की दृष्टि

से ईश्वर एक है, क्योंकि सभी ईश्वरों मे ईश्वरत्व बराबर रहता है, सभी सच्चिदानन्दमय हैं, सभी मे ज्ञान और आनन्द की अनन्तता विराजमान है। कोई किसी से ज्ञानादि गुणो में हीन नही है। और सभी ईश्वर व्यक्तियों पर ईश्वर यह एक शब्द लागू होता है। अतः ईश्वर एक है, किन्तु व्यक्तियो की अपेक्षा ईश्वर अनेक हैं, अनन्त है। जो भी जीव कर्मबन्धन से मुक्त हो गए जैन दर्शन की दृष्टि से वे सब ईश्वर ही है। इसलिए ईश्वर एक न होकर अनेक हैं, अनन्त है।

जैनदर्शन का विश्वास है कि प्रत्येक भव्य आत्मा मे परमात्मा बनने की योग्यता निवास करती है, मोक्षमार्ग पर चलने वाला प्रत्येक आत्मा धीरे-धीरे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। § ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। इन मार्गों के राही के लिए मोक्ष दूर नही है। इन मार्गो का राही अमुक व्यक्ति बन सकता है, अमुक नही, ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है। जैन दर्शन ने प्रत्येक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के लिए मोक्ष के द्वार खोल रखे हैं। इसीलिए जैन दर्शन कहता है कि मुक्त जीव एक नही, अनेक है, असख्य हैं, अनन्त हैं।



§ जीव, अजीव आदि तत्त्वो का यथार्थ बोध प्राप्त करना ज्ञान है, उक्त तत्त्वो के प्रति सच्चा श्रद्धान रखना दर्शन और अहिंसा, संयम, तप को जीवनांगी बनाना, आत्मा को निजस्वरूप में लाने के लिए सत्प्रयत्न करना चारित्र कहलाता है।

जैन धर्म और वैदिक धर्म

सप्तम अध्याय

प्रश्न– जैनधर्म और वैदिक धर्म में आचार–विचार–सम्बन्धी क्या मतभेद है?

उत्तर– भारत मे मुख्यतया दो सस्कृतियो की प्रधानता रही है–श्रमण सस्कृति और ब्राह्मण सस्कृति । श्रमण सस्कृति को समन और शमन सस्कृति भी कहा जाता है। श्रमण श्रम् धातु से बना है । इसका अर्थ है— परिश्रम करना । यह अर्थ इस बात को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख-दु ख, उत्थान–पतन, सभी के लिए वह स्वय उत्तरदायी है । समण शब्द समता भाव का परिचायक है। समता भाव का अर्थ है— सभी को आत्मतुल्य समझना, सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरो के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए ? इसकी कसौटी अपनी ही आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है, वह दूसरो के लिए भी बुरी है। "आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्", यह अमर स्वर समता की अन्तरात्मा का है। समाज विज्ञान का यही मूल तत्त्व है । किसी के प्रति राग या द्वेष न करना, शत्रु, मित्र को बराबर समझना, जन्म से जातपात न मानना तथा स्पृश्य या अस्पृश्य आदि भेदो को स्वीकार न करना,समता का अपना स्वरूप है। शमन का अर्थ होता है– अपनी

वृत्तियो को शान्त रखना। मन-मन्दिर मे क्रोध, मान, माया आदि विकारो को उत्पन्न न होने देना, यदि उत्पन्न हो गए तो क्षमा, मृदुता तथा सरलता आदि द्वारा उनको शान्त कर देना शमन का लक्ष्य होता है। श्रमण, समन और शमन समण सस्कृति का निचोड है। समण प्राकृत भाषा का शब्द है, यही संस्कृत मे श्रमण, समन और शमन के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। श्रमण सस्कृति समण सस्कृति का एकागी रूपान्तर है। आज प्राय· श्रमण सस्कृति शब्द ही अधिक प्रसिद्ध हो रहा है।

ब्राह्मण सस्कृति का मूल ब्रह्म है। ब्रह्म शब्द यज्ञ, पूजा स्तुति तथा ईश्वर इन अर्थो का परिचायक है। ब्राह्मण सस्कृति इन्ही चार तत्त्वो के चारो ओर घूमती है। यज्ञ करना, देवताओ की पूजा करना, इन्द्र आदि की स्तुति करना तथा ईश्वर को जगत का निर्माता, भाग्य का विधाता, कर्म फल प्रदाता तथा ससार का सर्वेसर्वा मान कर उपासना, सध्या, वन्दन द्वारा उसकी प्रसन्नता को प्राप्त करना ही ब्राह्मण सस्कृति का मूल उद्देश्य है और यही उस की साधना का सर्वतोमुखी ध्येय है।

श्रमण सस्कृति मे जैन धर्म और बौद्धधर्म आता है, तथा ब्राह्मण सस्कृति से वैदिक धर्म का बोध होता है। वैदिक धर्म से सनातन धर्म और आर्यसमाज इन दोनो का ग्रहण किया जाता है। प्रस्तुत मे हमें जैनधर्म और वैदिक धर्म के सिद्धात और आचार के सबध मे विचार करना है। अत. इसी के सम्बध मे कुछ कहा जायगा। यदि गभीरता से विचार किया जाए तो जैन धर्म और वैदिक धर्म की मान्यताओ मे बहुत अन्तर रहता है, किन्तु यहा तो सक्षेप मे ही उन पर प्रकाश डाला जायगा।

ब्राह्मण सस्कृति का प्राण वैदिक धर्म व्यक्ति – पूजा मे विश्वास

रखता है, इसके यहा गुणो के कारण किसी की स्तुति नही की जाती। इस मे जिस समय अग्नि की पूजा को जाती है, तो उस समय अग्नि सर्वशक्तिमान है, और जिस समय विष्णु की पूजा की जाती है उस समय विष्णु सर्वश्रेष्ठ वन जाता है। महाभारत काल मे जव प्राकृतिक देवताओ का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि पौराणिक देव ले लेते हैं, ता सभी देवता शिव की स्तुति करते हैं तो कभी शिव, ब्रह्मा या सरस्वती के चरणो मे लोटते है। वैदिक धर्म के अनुसार व्यक्ति अपने मे पूज्य है। ब्राह्मण इसीलिए पूज्य है क्योंकि वह ब्राह्मण है, यदि वह सदाचार से रहित है, तव भी वह पूज्य है। इसी व्यक्ति पूजा के कारण भगवल्लीला पर समालोचना करने का किसी को अधिकार नही है। भगवान भक्तो के साथ चालाकी करते रहे, छल करते रहे, कपट करते रहे तो भी कोई चिन्ता की वात नही है। व्यक्ति पूजा मे ये सव दूषण उपेक्षणीय हैं। निम्नोक्त पौराणिक कथानक भी व्यक्ति पूजा को प्रकट कर रहे हैं।

राजा वलि सौ यज्ञो के द्वारा, इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है, किन्तु इन्द्रपद की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना पर भगवान उसके तपोमय अनुष्ठान में विघ्न उपस्थित करते हैं और उसे भग कर देते हैं। कुम्भकर्ण तपस्या द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है। भगवान को प्रकट हो कर "वर वृणीष्व" यह कहना पड़ता है, किन्तु ऐसी माया रची जाती है कि उसके मुँह से इन्द्रासन के स्थान पर निद्रासन निकल जाता है। भगवान रास रचाते हैं, गोपियो मे विहार करते है, स्नान कर रही गोपियो के वस्त्र चुरा लेते हैं। एक ओर न्याय की दुहाई दे कर अर्जुन से युद्ध कराते हैं, दूसरी ओर अपनी समस्त सैन्य शक्ति दुर्योधन को सभाल देते हैं। एक ओर पाण्डवो की विजय न्याय की विजय कही जाती है, दूसरी ओर कौरवों का नाश होने पर कौरव

माता गान्धारी से अपना और अपने यदुवंश के नाश का शाप सहन करते है। ऐसे अनेको उदाहरण हैं जो भगवल्लीला के परिचायक हैं। किन्तु इन पर ननु-नच करने का— ऐसा क्यो हुआ? यह कहने का, किसी को कोई अधिकार नही है। क्योकि व्यक्तिवाद मे तर्क या आशका को कोई स्थान नही होता।

इसके विपरीत श्रमण सस्कृति का प्राण जैनधर्म गुणो को महत्त्व देता है, व्यक्ति को नही। जैन परम्परा मे पच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता है। किन्तु उनमे किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही है। उन सभी महापुरुषो को नमस्कार किया गया है, जिन्होने अपना सारा जीवन स्व-पर-कल्याण के लिए लगा दिया है। अध्यात्म-धन का जो धनी है, तथा जिसने राग-द्वेष को सदा के लिए जीवन से निकाल दिया है, वह कोई भी क्यो न हो, जैन धर्म उसके चरणो मे नत हो जाता है, उसे भगवान मान कर उसकी आराधना तथा उपासना करता है। व्यक्तिवाद का जैनधर्म मे कोई स्थान नही।

जैनधर्म मे व्यक्तिपूजा को कितना हेय और त्याज्य समझा गया है? यह एक उदाहरण से समझ लीजिए। इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रधान शिष्य थे। ये १४ हजार साधुओ मे मुख्य थे, इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त होगए किन्तु इन्हे केवलज्ञान नही प्राप्त हुआ। एक दिन इन्होने भगवान महावीर से इसका कारण पूछा। भगवान ने कहा— गौतम! तुझे मुझ से मोह हो गया है। वीतराग के पास रह कर तू अभी तक वीतरागता प्राप्त नही कर सका है। मोह से ग्रस्त हो रहा है। इसीलिए तू आज तक केवल-ज्ञान से वञ्चित रह रहा है। पर निराश होने वाली कोई बात नही है। मेरे निर्वाण के बाद तुम्हारा मोह-बधन टूट जायगा और उसके

पश्चात् तुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जायगी। परिणाम-स्वरूप भगवान महावीर का निर्वाण हो जाने के अनन्तर ही श्री गौतम जी महाराज का मोह दूर हुआ और तभी उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। इस घटना से यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि जैनधर्म मे व्यक्तिपूजा को कोई स्थान नही है। यदि जैनधर्म व्यक्तिपूजा मे विश्वास रखता तो भगवान महावीर के व्यक्तित्व से मोहित श्री गौतम को अवश्य केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती। पर ऐसा हुआ नही है। अत वैदिक धर्म की भाति जैनधर्म व्यक्तिपूजा मे कोई विश्वास नही रखता। वह तो ससार को गुणपूजा का ही सन्देश देता है।

व्यक्तिपूजा और गुणपूजा दोनो मे महान अन्तर है। व्यक्तिपूजा मे मनुष्य आराध्य आदमी को खुश करके उसकी कृपा द्वारा सुख-साधन प्राप्त करना चाहता है। इसके विपरीत, गुणपूजा द्वारा व्यक्ति आराध्य को अपने हृदय मे उतार कर, उसके गुणो को उपलब्ध कर स्वय तद्रूप बन जाना चाहता है। पहली परम्परा सामन्त शाही को जन्म देती है, जब कि दूसरी परमात्मस्वरूप के उत्थान को।

अहिंसा

वैदिक धर्म का विश्वास है कि "वैदिकी हिसा हिसा न भवति" अर्थात् वेदों के नाम पर, वेदो के नेतृत्व मे किए जाने वाले यज्ञ मे जो हिसा होती है, मनुष्य, पशु आदि की जो बलि दी जाती है, वह हिंसा नही है, अहिंसा है। भाव यह है कि वेद को माध्यम बना कर जो हिंसा की जाती है वह अहिंसा की कोटि मे ही समाविष्ट हो जाती है। राजा हरिश्चन्द्र को इस शर्त पर पुत्र की प्राप्ति होती है कि वह उसी पुत्र के द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान करे, किन्तु पुत्र मोह के कारण राजा हिचक जाता है, उसे कुछ रोग हो जाता है। अन्त मे, बलि देने के लिए एक भूखे ब्राह्मण-पुत्र को खरीद लिया जाता है और उसकी बलि द्वारा

यम देवता को प्रसन्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त, वैदिक धर्म मे अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हमारे शत्रुओं के घर जला। इन्द्र से अभ्यर्थना की जाती है कि अपने वज्र द्वारा शत्रुओ को मार डाल। ऐसे अनेको उदाहरण उपस्थित किए जा सकते है, जिन से यह प्रमाणित हो जाता है कि वैदिक परम्परा का आधार हिंसा है। इसके अलावा, वैदिक धर्म मे यज्ञ को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि मानो वह जीवन का एक अनिवार्य अग ही हो। यज्ञ भी अनेको प्रकार के है। वहुत से यज्ञ ऐसे हैं कि जिनके न करने से पाप लगता है, तो वहुत से ऐसे है जिनसे मन की कामनाए पूर्ण होती हैं। यदि नरक से वचना इष्ट है तो यज्ञ करना आवश्यक है। यदि धन, पुत्र, राज्यविस्तार, शत्रुनाश या अन्य किसी प्रकार का स्वार्थ पूर्ण करना है तो वह भी यज्ञ से ही सम्पन्न हो सकता है। किसी के प्राण लेने हो तो वह यज्ञ द्वारा लिए जा सकते हैं। इसमें विशेषता यह है कि यज्ञ मे की गई हिंसा भी अहिंसा वन जाती है। जो जितने अधिक यज्ञ करता है, उसकी कीर्ति उतनी ही अधिक फैलती है। वहा पाप का प्रश्न ही खड़ा नही होता। इस प्रकार मनोकामना भी पूर्ण हो जाती हैं और धर्म भी हो जाता है।

इसके विपरीत जैनधर्म का महल अहिंसा की नीव पर खडा है। अहिंसा कहती है कि जिसको तुम कष्ट देना चाहते हो, वह तुम जैसा ही है। अत. किसी को कष्ट मत दो। जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम जैसा ही है, अत. किसी को मत मारो। जिसे तुम सताना चाहते हो वह तुम जैसा ही है, अत. किसी को मत सताओ। जिसे तुम तग करना चाहते हो वह तुम जैसा ही है, अत. किसी को तग मत करो। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। गृहस्थ तथा मुनियो के लिए जितने भी व्रत, नियम वनाए गए हैं उनका मूलाधार अहिंसा है। असत्य, चोरी,

अब्रह्मचर्य और परिग्रह आदि इसीलिए पाप माने जाते हैं क्योंकि ये हिसा को प्रोत्साहन देते है।

आचाराग सूत्र मे भगवान महावीर कहते हैं कि जो अरिहन्त हो चुके हैं, जो विद्यमान है, जो भविष्य मे होगे वे सब यही कहते हैं, और कहेगे कि किसी प्राणी (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव), भूत (वनस्पतिकायिक जीव), जीव (पञ्चेन्द्रिय जीव) या सत्त्व (वनस्पतिकायिक जीवो को छोड कर शेष सभी स्थावर जीव) को नही मारना चाहिए, न पकड़ना चाहिए और उन्हें नाँही कष्ट पहुचाना चाहिए। यह धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। ससार को अच्छी तरह ज्ञानियो ने बताया है।

जैन धर्म कहता है कि अहिसा धर्म है, और हिंसा पाप। हिंसा किसी के नाम पर की जाए, वेदो के नाम पर की जाए ईश्वर या किसी अन्य देवी देवता के नाम पर की जाए, हिसा हिसा है। वह कभी अहिसा का रूप नही ले सकती। आग अपने चूल्हे की हो या पड़ौसी के चूल्हे की, पर आग-आग है। वह सब को जलाती है। उस के सामने अपने और पराए का कोई पक्षपात नही रहता है। हिंसा भी एक प्रकार की आग है। वह भी जीवनगत दया को, अनुकम्पा और सहानुभूति के भावो को जला कर राख बना देती है। हिंसा की आग जन्म-जन्मान्तर तक हिंसक को जलाती रहती है। ऐसी आग को अहिसा का रूप कैसे दिया जा सकता है ?

यह सत्य है कि आगे चल कर वैदिक परम्परा मे भी साख्याचार्य कपिल और भागवत सम्प्रदाय मे वासुदेव श्री कृष्ण आदि ऐसे युगपुरुष हो गए है, जिन्होने हिंसक यज्ञो का विरोध करके अहिसा की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया। किन्तु ये युगपुरुष वैदिक परम्परा की यज्ञगत हिंसा को सर्वथा समाप्त करने मे सफल नही हो सके। फिर भी आज

वैदिक परम्परा मे जो अहिंसा की भावना पाई जाती है। इसका कारण, जैनधर्म का प्रभाव रहा है। एकबार "हिन्द तत्वज्ञाननो इतिहास" के लेखक श्री नर्मदाशंकर देवशंकर मेहता ने "जैनो और हिन्दुओ के बीच संस्कारों का पारस्परिक आदान-प्रदान" इस विषय पर बोलते हुए कहा था—

...चौबीस तीर्थंकरों मे से पार्श्वनाथ (तेइसवें) और महावीर (चौबीसवें) वास्तव मे ऐतिहासिक महापुरुष है। वे वासुदेव कृष्ण के पीछे हुए है। इन दोनो महापुरुषो मे से पार्श्वनाथ भगवान बुद्ध के पहले हुए हैं और महावीर बुद्ध समकालीन थे। इन दोनो महापुरुषो ने स्पष्ट रूप से कहा कि हिंसा और शुद्ध धर्म,इन दोनो का मेल संभव नही है। तथा धर्म के बहाने से पशुवध करना पुण्य नही, किन्तु पाप है। इस निश्चय को उन्होने अपने शुद्ध चारित्र के द्वारा और संघ के प्रभाव से प्रजा मे फैलाया। और उसका हिन्दुओ पर ऐसा गहरा प्रभाव पडा कि यज्ञ मे हिंसा करना धर्म है, ऐसा कहने के लिए कोई हिन्दू तैयार नही है। आज विद्वान और धर्म चिन्तक शास्त्री गण उस हिंसा का प्रतिपादन मात्र कर सकते हैं, किन्तु यदि कोई ठेठ वैदिक धर्म के अनुसार श्रौतकर्म करने वाला सोमयाग† करने को तैयार हो तो हिन्दू उसको तिरस्कारपूर्वक निकाल दे और स्लाटर हाऊस (वधगृह)मे पशुवध करने वाले कसाई की तरह उसकी दुर्गति करें।" §

मेहता जी के इस भाषणांश से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म की अहिंसा का वैदिक परम्परा पर काफी प्रभाव पड़ा है और इसीलिए इस परम्परा के लोग हिंसा मे अरुचि रखने लग गए हैं। तथा

† एक त्रैवार्षिक यज्ञ जिसमे सोमपान होता है— बृहद् हिंदी कोष।

§ पण्डित कैलाश चन्द्र जी शास्त्री कृत,"जैनधर्म" पृष्ठ ३४७।

अहिसा को आदर एव सम्मान की दृष्टि से देखते है। "मा हिंस्यात् सर्वाणि भूताणि" आदि जितने भी वाक्य वैदिक परम्परा मे पाए जाते है, इनके मूल मे अहिसा-प्रधान जैन धर्म का प्रभाव ही काम कर रहा है।

स्वावलम्बन

वैदिक परम्परा परावलम्बन पर आश्रित है, वह परमुखापेक्षी है, इसमे दु खो से मुक्ति प्राप्त करने के लिए तथा सुखो की उपलब्धि के लिए ईश्वर या देवी-देवताओ की शरण मे जाना पड़ता है । इसके विपरीत जैनधर्म का आधार स्वावलम्बन है । इसमे व्यक्ति को अपना उद्धार करने के लिए परमुखापेक्षी नही बनना पडता, ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता के द्वार नही खटखटाने पडते । इसके विश्वासानुसार जीव स्वय ही विकास करता है, अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, अपने भले बुरे के लिए स्वय उत्तरदायी है। जैनधर्म कहता है–

हे मानव ! तू स्वय अपना मित्र है, अपने को छोड कर अन्य मित्र कहा ढूंढ रहा है ? §सत्य अहिसा के महापथ पर चलने से तथा राग-द्वेष की वृत्तियो का परित्याग कर देने से आध्यात्मिकता की उच्चता को प्राप्त यह जीवन आत्मा को मित्र की तरह काम देता है और यही जीवन जब वासनाओ की अन्ध गलियो मे चक्र लगाने लग जाता है, हिसा और असत्य के कुपथ पर चल देता है तो आत्मा को अमित्र अर्थात् शत्रु का काम देता है। शत्रुता और मित्रता का उत्पादक आत्मा स्वयं है । बाहिर का न कोई शत्रु है, और न कोई मित्र है ।

वैदिक धर्म मे मनुष्य देवी-देवताओ का दास है, गुलाम है, उनके

§ पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसि ।

— आचाराग सूत्र, १, ३, ३ ।

क्रोध से वह काप उठता है, और उन की कृपा होने पर वह हर्ष विभोर हो जाता है, किन्तु जैनधर्म का विश्वास है कि मनुष्य को यदि भय है तो अपने ही दुष्कर्मों से है। जीवन मे खेल रहे काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकार ही मनुष्य को दु:खी और पीडित करते हैं। यदि मनुष्य इन विकारो से पिंड छुड़ा लेता है, अपने को सर्वथा निर्विकार बना लेता है तो उसे ईश्वर या अन्य किसी देवी-दवता से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नही है। जैन धर्म का विश्वास है कि आत्मा मे अनन्त दर्शन है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त सुख है और अनन्त बल है। दुर्वलता की भावना को छोड़ कर यदि वह अपनी शक्तियो को प्रकट करले, आत्म शक्तियो पर आ रहे कर्म रूपी बादलो को फाड डाले तो इस आत्मा से बढकर कोई शक्तिशाली नही है। आत्मा अनन्त शक्ति का पुज है, शक्तियो का स्रोत है। अपने वास्तविक स्वभाव मे लीन न होने के कारण तथा पापो मे आसक्त रहने के कारण यह अपने आप को भूल चुका है। जिस दिन यह त्याग और तपस्या के द्वारा अपने को विशुद्ध और निर्विकार बना लेगा, उसी दिन अपने मे ही इसे ईश्वरत्व, परमात्मत्व के दर्शन हो जाएगे। यह आत्मा स्वय परमात्मा बन जायगा।

साम्यवाद

वैदिक धर्म जन्मकृत वैषम्य को लेकर चलता है, वह जन्म से ही मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का रूप देता है। उसने ब्राह्मण को सर्वोपरि स्थान दिया है, और शूद्र को सब से हीन माना है। इसके यहां शूद्र को आध्यात्मिक उत्कर्ष का कोई अधिकार नही है। शूद्र धर्म-स्थान मे नही जा सकता, उसे धर्म-शास्त्र सुनने या पढने का कोई हक नही है। किन्तु जैन धर्म का ऐसा विश्वास नही है। यहा

मनुष्य ही नही, समस्त प्राणियो को समान अधिकार प्राप्त हैं। इस के यहा जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र है । जिसके जैसे कर्म होते है, उस को उसी नाम से पुकारा जा सकता है और प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति यथेच्छ धर्मशास्त्र पढ सकता है, धर्माराधन कर सकता है। हरिकेशी मुनि जन्म मे चाण्डाल कुल मे उत्पन्न होने पर भी साधु धर्म की परिपालना से सभी के पूज्य बन गए। यहा तक, कि देवता भी उनके सेवक बन गए थे। ब्राह्मणत्व को भी उनके चरणो मे नतमस्तक होना पडा था। ' † सक्ख खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसइ जाइविसेस कोई " इस स्वर ने आकाश को गुँजा दिया था।

जैनधर्म का कहना है कि विश्व के जितने भी मनुष्य है, वे सब मूलत एक हैं। कोई भी जाति, कोई भी वर्ण मनुष्य जाति की मौलिक एकता को भग नही कर सकता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णो की रचना तो समाज की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए की गई थी। एक वर्ग का काम था, कि वह अध्यापन का काम करे, जनता को रास्ता दिखलाने का प्रयत्न करे, और जब-जब समाज मे गल्तिया होवे तो उन्हे ठीक ढग से दुरुस्त करे। ऐसा वर्ग ब्राह्मण वर्ण के नाम से समाज के सामने आया। सबलो द्वारा निर्बल पीडित न किए जाए, दुर्बलो को रहने का उतना ही अधिकार है, जितना कि बलवानो को। अत उनकी समुचित रक्षा की जाए, इस प्रयोजन से क्षत्रिय वर्ण की स्थापना हुई। कोई वस्तु कही बहुतायत से पैदा होती है और कही कम होती है, या होती ही नही है। जहा बहुतायत से होती है, वहा वह उपयोग करने के बाद भी पडी सडती है, और जहा नही होती वहा के लोग उसके बिना असुविधा अनुभव करते हैं, और कष्ट भोगते है, इस परिस्थिति को बदलना

† साक्षात् खलु दृश्यते तपोविशेष., न दृश्यते जातिविशेष कोऽपि। -१२/३७

और यथावश्यक वस्तुए सर्वत्र सुलभ कर देना वैश्य वर्ण का कर्तव्य था। इस कर्तव्य का प्रामाणिकता के साथ पालन करते हुए अपने और अपने परिवार के निर्वाह के लिए वह उचित पारिश्रमिक लिया करता था, वैश्य वर्ण की स्थापना मे यही मूल भावना थी।

चौथा शूद्र वर्ण था। इसका कार्य बडा ही महत्त्वपूर्ण था। यह समाज की सेवा किया करता था। उसकी सेवा की बदौलत समाज स्वस्थ रहता था और प्रजा का जीवन सुख-सुविधा के साथ व्यतीत होता था। शूद्र वर्ण की स्थापना मे किसी प्रकार की हीनता की भावना नही थी।

जैनधर्म के विश्वासानुसार उक्त धन्धो के कारण मानवजाति के चार विभाग किए गए थे। या यू कहे कि मनुष्य जाति की सुख-सुविधा के लिए धन्धो को चार भागो मे बाट दिया था। और योग्यता को आधार बना कर उन के कर्ता व्यक्तियो के चार भाग कर दिए थे। अलग-अलग धन्धे करते हुए भी सब मे प्रेम था, कोई भेद-भाव नही था। मगर समय ने करवट ली। जब द्वेष और अहकार की भावनाए तीव्र हुई तो धन्धो के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्गों मे ऊच-नीच की भावना अकुरित होने लगी। उसके जहरीले फल सर्वत्र फैले और उन्होने मानव जाति की महत्ता और पवित्रता को नष्ट कर दिया। मनुष्य समझने लगा कि अमुक धन्धा करने वाला व्यक्ति उच्च है, और अमुक धन्धा करने वाला व्यक्ति नीच है। धीरे-धीरे धन्धो की बात भी उड गई और जन्म से ही उच्चता तथा नीचता, पवित्रता तथा अपवित्रता समझी जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि जन्मना जातिवाद को लेकर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करने वाली फौलादी दीवारे खडी हो गई और अखण्ड मानव जाति खण्ड-खण्ड कर दी गई।

जन्मना जातिवाद की परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाला

वैदिक धर्म है, और कर्मणा जातिवाद की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म करता है। जैन धर्म जन्मना जातिवाद का सर्वथा विरोधी है। जैनधर्म कहता है कि मनुष्य जब जन्म लेकर आता है तो वह क्या लेकर आता है? वह हड्डियो का और मास का ढेर ही तो लेकर आता है। क्या किसी की हड्डियो पर ब्राह्मणत्व की, किसी के मास पर क्षत्रियत्व की या किसी के चेहरे पर वैश्यत्व की मोहर लगी हुई होती है? या ब्राह्मण किसी और रूप मे, और क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी और रूप मे आता है? आखिर शरीर तो शरीर ही है। वह पुद्गलो का पिण्ड स्वरूप है। उसमे जाति-पाति का कोई नैसर्गिक भेद नही है। वह अपने आप मे पवित्र या अपवित्र नही है। पवित्रता या अपवित्रता का आधार आचरणगत शुद्धता और अशुद्धता है। आचरण ज्यो-ज्यो पवित्र होता चला जाता है, त्यो-त्यो शुद्धि बढती चली जाती है, और ज्यो-ज्यो वह अपवित्र होता चला जाता है, त्यो-त्यो अशुद्धि बढती चली जाती है। किसी वर्ण विशेष मे जन्म लेने मात्र मे न कोई पवित्र हो सकता है और न कोई अपवित्र या अशुद्ध हो सकता है। शुद्धता या अशुद्धता का जन्म के साथ कोई सम्बन्ध नही है। यही जैन धर्म का साम्यवाद है।

वेदों की पौरुषेयता

वैदिक धर्म वेदो मे प्रतिपाद्य विषय को ईश्वरीय ज्ञान कहता है, और उसे पौरुषेय–पुरुषकृत नही मानता है। उसका विश्वास है कि वेदो का एक–एक शब्द ईश्वर का अपना कहा हुआ है और वह ऋषियो के माध्यम से वेदो के रूप मे हमारे सामने अवस्थित है। यही उसकी अपौरुषेयता है, किन्तु जैनधर्म वेदो को अपौरुषेय नही मानता है। उसका विश्वास है कि वेद पुरुषकृत है। इनकी रचना मनुष्य ने की

है, इनका निर्माता ईश्वर नही है।

वेदो को यदि ईश्वर की रचना माना जाए, तो वह रचना तीन प्रकार से हो सकती है—एक तो ऐसे कि ईश्वर ने स्वय पहले उनको लिख लिया हो, और फिर उसकी नकल करके अन्य ऋषियो ने उसकी कॉपी कर ली हो। दूसरे इस तरह कि ईश्वर बोलता गया हो और किसी पढे-लिखे मनुष्य ने उसे लिख लिया हो, जैसे प्रज्ञाचक्षु विद्वान स्वय बोलता जाता है और लिखने वाला उसे लिखता चला जाता है। ऐसे ही ईश्वर ने वेदो को बोल दिया हो और किसी दूसरे ने उन्हे लिख लिया हो। तथा तीसरा प्रकार यह भी है कि ईश्वर ने किसी के कान मे वेदो को सुना दिया हो और उसने अन्य लोगो के हित के लिए स्वय पुस्तक रूप मे लिखकर तैयार कर दिया हो। इन तीनो मार्गों के सिवाय और कोई अन्य मार्ग दिखाई नही देता, जिसके सहारे ईश्वर ने वेदों का निर्माण किया हो।

उक्त तीनो प्रकारो मे से पहले मार्ग से वेदो का बनना सर्वथा असभव है, क्योंकि जिस ईश्वर को वैदिक दर्शन सर्वव्यापक और निराकार मानता है। लिखने के वास्ते उसके पास हाथ कहा है? जब उसका कोई आकार ही नही है, शरीर ही नही है, तो उसमे हाथ, पाव आदि शारीरिक अवयवो की अवस्थिति कैसे सभव हो सकती है? और हाथो के बिना लेखनादि कार्य कैसे हो सकता है? वैदिक दर्शन स्वय भी वेद-निर्माण मे इस पद्धति को स्वीकार नही करता है। अत. वेद रचना मे पहला प्रकार किसी भी तरह सगत नही ठहरता है। दूसरा प्रकार भी वेदों की रचना मे प्रामाणिक प्रमाणित नही होता, क्योकि ईश्वर जब निराकार है, और निराकार होने से उसके मुख, जिह्वा है ही नही, तब वह स्वय बोल कर वेदो को लिखा भी कैसे सकता है? अतः दूसरा प्रकार भी वेदो के निर्माण मे सत्य नही ठहरता है। रही

तीसरे प्रकार की बात, उसकी भी परीक्षा कर लीजिए । प्रथम तो जब ईश्वर निराकार है, तब मुखादि के अभाव मे उस मे उपदेश देने की क्रिया का होना असंभव है, दूसरे यदि कुछ देर के लिए ऐसी क्रिया मान भी ली जाए तो वह क्रिया भी सर्वव्यापक ईश्वर मे सर्वव्यापिनी ही होगी । फिर ऐसी अवस्था मे ईश्वर का उपदेश सब जीवो के हृदयो मे जाना चाहिए । जिससे सभी जीव वेदो की रचना कर सके । ऐसा न होकर केवल अग्नि, वायु, आदित्य और अगिरा इन चार ऋषियो के हृदयों मे ही और वह भी केवल क्रमश चारो मे ही एक-एक वेद का प्रकाश क्योकर हुआ ? क्योकि सर्वव्यापक ईश्वर की क्रिया सर्वव्यापिनी होती है, वह एक-देशीय नहीं हुआ करती ।

वैदिक धर्म की मान्यता के अनुसार ईश्वर ने वेदो का ज्ञान चार ऋषियो को दिया, फिर उन ऋषियो ने वैसा उपदेश अन्य को दिया । उसने फिर वैसे उपदेश से दूसरो को पढाया, इस प्रकार परम्परा चलते-चलते जब स्मरण-शक्ति क्षीण होने लगी, तो उन्होने उन उपदेशो को अक्षर रूप मे लिख डाला, जो कि आज चारो वेदो के रूप मे हमारे सामने अवस्थित है । यहा एक प्रश्न होता है कि उन ऋषियो ने ईश्वर के उनदेशानुसार ही ठीक ज्यो के त्यो वेद अक्षर-रूप मे लिख डाले थे, इसमे क्या प्रमाण है ? वे ऋषि भी तो आखिर असर्वज्ञ और ससारी मनुष्य ही थे । ईश्वर की अपेक्षा अल्पज्ञानी थे । उन की आत्मा मे राग-द्वेष भी निवास करता था, वे वीतराग नही थे । फिर उन्होने अपने ज्ञान की कमी से या कदाचित् बुद्धिप्रखरता से या राग और द्वेष के कारण उस ईश्वर के उपदेश को अक्षर रूप मे कम, अधिक या कुछ का कुछ लिख डाला हो, यह सब सभव है । ऐसी दशा मे वेदो की प्रामाणिकता और अपौरुषेयता कैसे सुरक्षित रह सकती है ?

ऐसी अनेको युक्तिए और भी उपस्थित की जा सकती है, जिनसे वेदो की अपोरुषेयता किसी भी प्रकार प्रमाणित नही हो सकती, परन्तु विस्तारभय से यहो इस विपय को समाप्त करते हुए अन्त मे इतना निवेदन करेंगे कि जैनधर्म केवल वेदो को ही नही,प्रत्युत प्रत्येक शास्त्र को पौरुषेय मानता है। उसका विश्वास है कि शास्त्रो का निर्माण मनुष्य करता है, भगवान या ईश्वर ने उसकी रचना नहीं की है। इसके अलावा, यह भी समझ लेना आवश्यक है कि जैनधर्म वेदो को जहा पुरुषकृत मानता है, वहां वह उसको सर्वसर्वा प्रामाणिक भी स्वीकार नही करता। जैनधर्म उसी शास्त्र को प्रामाणिक और अध्यात्म शास्त्र स्वीकार करता है, जो अहिसा, सयम और तप का विवेचन करता हो,और मानव जगत को इस त्रिवेणी मे गोते लगाने की प्रेरणा प्रदान करता हो। जिस शास्त्र मे ये बाते नही होतो,बल्कि जो शास्त्र हिसा का विधान करता है, जैनधर्म उस शास्त्र को अध्यात्म शास्त्र ही मानने को तैयार नही है। वेदो मे हिसामय यज्ञो का विधान है, ऐसे अनेको मन्त्र वेदो मे पाए जाते है जो स्पष्ट रूप से मासाहार तथा पशुबलि की प्रेरणा देते हैं। यजुर्वेद अध्याय १९, मन्त्र २०, तथा यजुर्वेद अध्याय १३, मन्त्र ९, आदि ऐसे अनेको स्थल हैं जो हिसा का स्पष्ट–रूप से पोषण करते है। इसीलिए जैन धर्म वेदो पर विश्वास नही रखता, और उन्हे प्रामाणिक रूप से स्वीकार नही करता।

वेदो मे ऐसे–ऐसे अश्लील मन्त्र भी आते हैं, जिन्हे सुन कर लज्जा आती है। उदाहरणार्थ-यजुर्वेद अध्याय ६,मन्त्र १४, तथा यजुर्वेद अध्याय २३ के १९वे मन्त्र से ले कर ३१वे मन्त्र तक अश्लीलता का वर्णन देखा जा सकता है। जो वेद धर्म के नाम पर की जाती पशु–हिसा, तथा ईश्वरकर्तृत्व आदि की असगत और तर्कविरुद्ध बातो, तथा

अश्लील कथनो से भरे पड़े है जैन धर्म उनको प्रामाणिक कैसे मान सकता है। §

वैसे जैनो को वेदो से कोई शत्रुता नही है। जैनो को तो, वेदो मे यज्ञ के नाम पर जो पशुहिंसा का विधान किया गया है, वीतराग ईश्वर मे जो जगतकर्तृत्व आदि का असगत विश्वास है, तथा अश्लील कथन हैं, उनका विरोध है। और यह विरोध किसी द्वेष को लेकर नही है, किन्तु वस्तुस्थिति के आधार पर है। वेदो को अपौरुषेय मानना, हिंसा को धर्म कहना, जड को भगवान समझना अर्थात् मूर्तिपूजा करना, ईश्वर को जगत का निर्माता, भाग्य का विधाता, कर्मफल प्रदाता, अवतार लेकर आता, इस प्रकार स्वीकार करना आदि बाते किसी भी तरह युक्तियुक्त प्रमाणित नही होती हैं। इसोलिए जैनधर्म वेदो को अपना धर्म-ग्रन्थ मानने से इन्कार करता है।

ईश्वर का अकर्तृत्व

वैदिकधर्म जगत का नियामक और रचयिता ईश्वर को मानता है। उसका विश्वास है कि ईश्वर ही ससार का सर्वेसर्वा है, उसके सकेत के बिना वृक्ष का पत्र भी कम्पित नही हो सकता। ससार मे जो कुछ भी होता है, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियो की जो भी चेष्टाए दृष्टिगोचर होती है, उन सब का मूल प्रेरक ईश्वर है। ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी नही हो सकता। किन्तु जैन धर्म का ऐसा

§ यदि कोई महानुभाव विशेष रूप मे वेदगत उक्त अश्लील बातो को जानना चाहें उसे पण्डित श्री अजित कुमार जैन शास्त्री द्वारा लिखे "सत्यार्थ दर्पण' के "वदो को ईश्वरीय ग्रन्थ समझना भूल है" इस लेख को पढना चाहिए। इस पुस्तक की प्राप्ति— मत्री, साहित्यविभाग, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा से हो सकती है।

विश्वास नही है। जैनधर्म जगत को अनादि अनन्त मानता है। उस का कहना है कि इस जगत को ईश्वर या किसी अन्य देवी-देवता ने नही बनाया है। यह जगत पहले था, अब है, और भविष्य मे यह रहेगा। त्रिकालवर्ती इस जगत का न किसी ने निर्माण किया है और न कोई इस का विनाश कर सकता है।

जैनधर्म का विश्वास है कि जो परमात्मा सासारिक प्रपचो से मुक्त हो चुका है, वह पुन उन की खट-पट मे नही पडता है ? यदि यह मान लिया जाए कि परम दयालु परमात्मा ससार का सर्वेसर्वा है तो जीवो को दु.खी क्यो रखता है? क्यो नही सब जीवो को एकान्त सुखी बना डालता ? किसी पिता का पुत्र नदी मे डूबता रहे और वह समर्थ होता हुआ भी यदि किनारे पर खडा देखता या ताकता रहे तो उसे पिता कहना चाहिए ? वह पिता है या पुत्रघातक ? ऐसे निर्दय व्यक्ति को जैसे पिता नही कहा जा सकता, ऐसे ही उसे परमात्मा नही कहा जा सकता जो संसार का सर्वेसर्वा होकर भी दु.खियो पर दया नही करता। फिर भी यदि उस ईश्वर को करुणा का सागर कहा जाए तो यह ईश्वर के ईश्वरत्व का उपहास नही तो और क्या है ?

जैनदृष्टि से ईश्वर जगत का निर्माता नही है, भाग्यविधाता नही है, कर्मफल-प्रदाता नही है तथा अवतार लेकर ससार मे आता नही है। जैन दृष्टि से ईश्वर के सम्बन्ध मे प्रस्तुत पुस्तक के "ईश्वर मीमासा" नामक छठे अध्याय मे विशेष ऊहापोह किया जा चुका है। जिज्ञासुओ को वह स्थल देख लेना चाहिए।

जगत की महाप्रलय नहीं होती

वैदिक धर्म का विश्वास है कि ससार मे जब प्रलय होती है, तब पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी जीव

तथा उनके शरीर आदि सभी पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, एक भी पदार्थ शेष नही रहने पाता, समस्त जड पदार्थ परमाणु रूप हो जाते हैं। चर, अचर जगत का सर्वथा विनाश ही वैदिक धर्म मे प्रलय कहा जाता है, और यह प्रलय चार अरब वत्तीस करोड़ वर्ष तक रहती है। किन्तु जैनधर्म इस प्रलय में विश्वास नही रखता । उसका कहना है कि मनुष्य, पशु आदि का वीज नाश न कभी हुआ है, और न कभी होगा।

वैदिक धर्म सम्मत प्रलय के सम्बन्ध मे अनेको प्रश्न उपस्थित होते हैं। इस प्रलय का कारण क्या है ? इसे कौन लाता है ? यदि इस का कारण ईश्वर को माना जाए तो यह सत्य सिद्ध नही होने पाता। क्योकि निराकार ईश्वर साकार वस्तुओ को कैसे बिगाड़ सकता है ? शुद्ध, निर्विकार ईश्वर को ऐसा करने की आवश्यकता भी क्या है ? क्या जगत की अवस्थिति से उसका कुछ नुक्सान होता है ? या ऐसा कौनसा दवाव या वोझ उसके ऊपर पड़ा हुआ था, जिसके कारण उसे विवश हो कर विश्व का सर्वनाश करना पडता है? कुछ समझ मे नही आता। जव "विषवृक्षोऽपि सम्वर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् " § ऐसा सिद्धात है तो ईश्वर ससार के सहार जैसा दुष्ट कर्म कैसे कर सकता है? एक ओर ईश्वर को निर्विकार तथा पवित्र कहना और दूसरी ओर उस पर ससार के सहार का निर्मूल कलक लगाना, यह कहा की शिष्टता है ? और कितनी विचित्र ईश्वर की उपासना है ?

कुछ समय के लिए यदि यह मान लिया जाए कि ससार के सभी पदार्थों का सर्वथा नाश हो जाता है, तो प्रश्न उपस्थित होता है कि

§ यदि विष का वृक्ष भी लगा दिया जाए, उसका सम्वर्धन कर दिया जाए तो उसका सहार नही करना चाहिए। अर्थात्— सरक्षित तथा पालित जीवन का नाश नही करना चाहिए।

पुन जगत की उत्पत्ति कैसे होगी ? प्रकृति का सिद्धांत है कि प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान कारणों से ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकार से नही। जब उपादान कारण ही नष्ट हो गया तो तज्जन्य कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? आप प्रतिदिन देखते हैं कि आम के बीज से ही आम्र का वृक्ष उत्पन्न होता है। जिस बीज से नीम का वृक्ष पैदा होता है उससे आम का पेड पैदा नही हो सकता इसी तरह सिंह जाति के जीव सिंह के वीर्य से ही उत्पन्न होते हैं, मनुष्य को पैदायश के लिए मनुष्य का ही वीर्य होना निहायत जरूरी है। इस प्रकार सभी गर्भज, अण्डज और वृक्ष आदि जीवो के शरीरो के उपादान कारण निश्चित हैं, अत. वे अपने उपादान कारण से तो उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु हजारो यत्न करने पर भी उपादान कारण मे भिन्न दूसरे पदार्थ से उनका शरीर नही बन सकता। ऐसी दशा मे प्रलयकाल मे मनुष्य, पशु आदि सबके समाप्त हो जाने पर मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियो की उत्पत्ति नही हो सकेगी। जगत की सर्वथा प्रलय मान लेने पर ऐसी अनेको आपत्तिया और आशकाए उपस्थित होती है, जिनका कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिलता।

इसके अलावा, प्रलय का समय सृष्टिकाल के बराबर चार अरब ३२ करोड़ वर्ष का बताया जाता है। यह किस हिसाब से और किस नियम के अनुसार बतलाया गया है? यह विचारणीय है। क्या ईश्वर ने सदा के लिए प्रलय और जगत का समय निश्चित कर रखा है ? या किसी ने ईश्वर पर ऐसा प्रतिबंध लगा रखा है कि इसी तरह कार्य करते रहो? यदि ईश्वर पर किसी ने प्रतिबन्ध लगा रखा है तो प्रतिबन्धक ईश्वर से भी बडा होना चाहिए ? आदि ऐसे अन्य अनेको प्रश्न पैदा हो जाते है, जिनका कोई युक्तिसगत उत्तर प्राप्त नही होता।

प्रलय होना, यद्यपि जैनधर्म मे भी माना गया है किन्तु यहा सकारण और खण्डरूप प्रलय को स्वीकार किया गया है। जैनधर्म ने प्रलय करने का दोष ईश्वर को नही सौंपा है, किन्तु वह कालस्वभाव से इस की सत्ता को मानता है। जैनधर्म खण्डप्रलय के कारण अतिशय भयकर महातूफान (आंधी) अतिजलवृष्टि और अग्निवृष्टि आदि बतलाता है। तथा इन कारणो से भी आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का प्रलय नही मानता है। इस प्रलय मे मकान, वृक्ष, तथा बहुत से जीवो के शरीर का नाश होता है, किन्तु गर्भज, अण्डज आदि प्राणियो के युगल (दम्पती) अवश्य जीवित रहते है। यह प्रलय भी सर्वत्र नही होती किन्तु कुछ एक क्षेत्रो मे। जैसे गतवर्षो मे भूकम्प, जलवृष्टि, अग्नि-काड और तूफान आदि से जापान मे और ईस्वी सन् १९४७ मे भारत-वर्ष के कई स्थानो की प्रलय हुई है। ऐसे ही यह प्रलय होती है। अन्तर केवल इतना है कि यह प्रलय बहुत छोटी और वह बहुत बडी होती है। भाव यह है कि वैदिकधर्म महाप्रलय या सर्वप्रलय मानता है, और जैनधर्म खण्डप्रलय। सर्वप्रलय मे आकाश को छोड कर सब पदार्थो की प्रलय हो जाती है, जबकि खण्डप्रलय मे पदार्थो का नाश तो होता है किन्तु सर्वनाश या बीजनाश नही होने पाता है। इसमे गर्भज और अण्डज जीवो के स्त्री पुरुष जीवित रहते है।

जैनदर्शन ने काल के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी ये दो विभाग किए हैं। अवसर्पिणी काल मे पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन होते चले जाते हैं। शुभ भाव घटते हैं और अशुभ भाव बढते हैं। इसके छ विभाग हैं— १–सुषमसुषमा, २–सुषमा, ३–सुषमदुषमा, ४–दुषम–सुषमा, ५–दुषमा, ६–दुषमदुषमा। प्रत्येक विभागो को जैन–दर्शन मे 'आरा' शब्द से व्यक्त किया गया है। पहला आरा सब प्रकार

के सुखो से परिपूर्ण होता है। दूसरे आरे मे सुखोत्पादक सामग्री मे कुछ हीनता आ जाती है। तीसरे आरे मे सुख के साथ दुःख भी होता है। चौथे मे दु ख विशेष और सुख कम होता है। पांचवा आरा दु खप्रधान है, तथा छठा सर्वथा दु खो से परिपूर्ण होता है। इसी भाति उत्सर्पिणी काल के भी छः आरे होते है— १–दुषमदुषमा, २–दुषमा, ३–दुषम-सुषमा, ४–सुषमदुषमा, ५-सुषमा, और ६–सुषमसुषमा। अवसर्पिणी काल के जो छः आरे हैं वे ही आरे इस काल मे उलटे रूप से होते है। इनका स्वरूप भी ठीक वैसा ही है, किन्तु विपरीत क्रम मे। जैसे अव-सर्पिणी काल का छठा आरा दुषमदुषमा है, किन्तु उत्सर्पिणी काल का यह पहला आरा होगा। इसी भाति अगले आरो के सबध मे भी जान लेना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि अवसर्पिणी काल मे वर्ण, रस, गन्ध आदि की पर्यायो मे तथा मनुष्य आदि की अवगाहना, स्थिति, स-हनन और सस्थान आदि में उत्तरोत्तर हीनता होती चली जाती है, जबकि उत्सर्पिणी मे क्रमश वृद्धि।

अवसर्पिणीकाल का जब छठा आरा आरम्भ होता है, तब जीवो के पापाधिक्य से शरीरो मे भयकर व्याधिया पैदा हो जाती हैं, मेघ, आग और विष आदि की वर्षाए करते हैं, सूर्य अधिक तपता है, चन्द्र अति शीत बन जाता है। परिणामस्वरूप वनस्पतियां और त्रस प्राणी नष्ट होने आरम्भ हो जाते हैं, पहाड और नगर पृथ्वी से मिल जाते हैं, केवल एक वैताढ्यपर्वत स्थिर रहता है, गगा और सिन्धु ये दो नदिया कायम रहती हैं, इनमे मच्छ, कच्छप आदि जीव रहते हैं। इस आरे के मनुष्य अधिक से अधिक एक हाथ के होते है और इनकी उत्कृष्ट आयु बीस वर्ष की होती है। ये वैताढ्य पर्वत की ७२ बिलो मे रहते हैं। ये मासाहारी होते हैं। धर्म कर्म का इन को कोई बोध नही होता। इसी-

लिए ये प्रायः नरक और तिर्यंच गति के गामी जीव होते हैं। उत्सर्पिणी काल के आरम्भ होने पर इनके विकास का उदय होता है। उससे पहले तो ये बहुत बुरी अवस्था मे रहते है।

जैन धर्म छठे आरे की इस दशा को ही खण्ड-प्रलय के नाम से पुकारता है। इसमे मनुष्य, पशु आदि प्राणियो का बीजनाश स्वीकार नही करता जब कि वैदिक धर्म के महाप्रलय मे सर्वनाश का ही रूपान्तर है। यही इन दोनो मे पारस्परिक अन्तर है।

श्राद्ध की अयथार्थता

श्राद्ध वैदिक धर्म का अपना पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—वर्ष के अनन्तर पितरो को प्रसन्न करने के लिए उनकी मरणतिथि के दिन श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणो का अन्न, वस्त्र आदि का दान करना, ब्राह्मणो को खीर आदि पदार्थों का भोजन खिलाना, इस विचार से खिलाना कि इनके द्वारा यह भोजन हमारे पितरो के पास पहुच जायगा। इससे उनकी तृप्ति तथा प्रसन्नता होगी। वैदिक धर्म का विश्वास है कि पितरो की मरणतिथि को श्राद्ध करने से, ब्राह्मणो को भोजन खिलाने से पितर (स्वर्गीय आत्माए) प्रसन्न होती है, तृप्त हो जाती हैं। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नही है। यह कहता है कि जो पितर (मृत पूर्वज) लोकान्तर को प्राप्त हो चुके हैं, वे अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार देव, नरक आदि गतियो मे उत्पन्न हो चुके है, वहा के सुख-दुःख भोग रहे हैं, उन्हे फिर पूर्व जन्म के पुत्रादि द्वारा दिए पिण्डो की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? हम सब स्वय भी, तो कही न कही से आए है, हमारे भी पुत्र आदि होगे ही, हम भी तो किन्ही के पितर है ही, जब हम कभी उनसे अन्नादि की इच्छा नही करते हैं, तो हमारे पितर हम से अन्नादि की इच्छा क्योकर कर सकते है ? यदि

हमारे मन मे पूर्वजन्म के पुत्रादि से धनादि प्राप्ति की इच्छा हो भी तो जैसे हमारी यह इच्छा पूर्ण नही हो पाती तो हमारे पितरो की इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है?

श्राद्ध से मृतक व्यक्तियो की इच्छा पूर्ण होती है, या तृप्ति होती है, यह बात सर्वथा असगत प्रतीत होती है। यदि गंभीरता से इस पर विचार किया जाए तो इस मे कुछ भी तथ्य मालूम नही पड़ता। यदि श्राद्ध को मान लिया जाए तो तैलाभाव से बुझा हुआ दीपक ब्राह्मण आदि को तैल देने से प्रज्वलित हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नही है। § बुझे हुए दीपक को जलाने के लिए ब्राह्मण को कितना भी तेल क्यों न दे दिया जाए पर उस से दुकान पर पड़ा दीपक कभी जल नही सकता। जब इसी ससार मे ब्राह्मण को दिया गया दान अपने इष्ट स्थान पर नही पहुच पाता तो भला वह परलोक मे पितरो को कैसे पहुंच सकता है?

कल्पना करो, एक व्यक्ति मरुभूमि मे गया हुआ है। सब जानते हैं कि मरुभूमि मे पानी की बडी कमी होती है। इसलिए घर वालो ने सोचा कि उसको पानी पहुचाना चाहिए। पहुचाया कैसे जाए? जब यह प्रश्न सामने आया तो झट एक ब्राह्मण को बुलाया गया। जो ब्राह्मण पितरो को परलोक मे भोजन पहुचा सकता है, वह मरुभूमि मे पानी क्यो नही पहुंचाएगा? ऐसा सोच कर यदि कोई ब्राह्मण देवता को निमंत्रण दे और उसे पानी पिला दे तो क्या पानी मरुभूमि में स्थित मनुष्य को मिल जायगा? उत्तर स्पष्ट है, कभी नही। ब्राह्मण द्वारा पीया गया पानी जब सौ या दो सौ मील पर भी नही पहुंच सकता,

§ मृतानामपि जन्तूना, श्राद्ध चेत्तृप्तिकारणम्।
तन्निर्वाणदीपस्य, स्नेह: संवर्धयच्छिखाम्॥

तब परलोक मे उसके द्वारा खाया गया भोजन पितरो के पास कैसे जा सकता है ?

जैनदर्शन का विश्वास है कि जब मनुष्य मरता है, तो उसके अनन्तर बहुत शीघ्र ही वह कही न कही जन्म धारण कर लेता है, उसे नवीन शरीर प्राप्त हो जाता है, और उस शरीर मे रह कर वह अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का उपभोग करता है। पुत्र, पुत्री, बहिन, भाई आदि द्वारा किया गया कोई भी शुभ या अशुभ कार्य उस के सुख-दुःख मे ज़रा भी फेरफार नही कर सकता। इसलिए श्राद्ध की कल्पना के पीछे कोई सत्य नही है, केवल ब्राह्मणो का अपना स्वार्थ निवास करता है। आप वे ठूंस-ठूस कर भोजन खा जाते हैं, स्वय तृप्त होते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। तथापि कहा जाता है कि तृप्ति पितरो की होती है। यह सत्य है कि दान करना शुभ कार्य है, भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना गृहस्थ का कर्तव्य बनता है। नवविध पुण्यो मे अन्न पुण्य को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है, किन्तु ब्राह्मणो को खिलाने से पितरो की तृप्ति होती है, इसमे कोई सत्यता या यथार्थता नही है।

श्राद्ध की अयथार्थता को एक उदाहरण से समझ लीजिए। किसी जगह राजा के मुँह लगे दरबारियो के मन मे मालपूडे खाने का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होने परस्पर मत्रणा करके राजा से कहा—महाराज! पूर्वजो का श्राद्ध होना चाहिए, और उसमे सब को मालपूड़ खिलाने चाहिए। राजा भोला था, वह बातो मे आ गया, उसने मालपूडे बनवाने की आज्ञा दे दी। राजा का एक ऐसा मन्त्री भी था, जो राजा का सदा हित चाहता था। उसने सोचा—इन्होने माल उडाने की युक्ति बनाई है। पर राजा के साथ धोका करना ठीक नही है। यह

विचार कर उसने राजा से प्रार्थना की— अन्नदाता ! अपने अमुक महाराज को अफीम खाने का वड़ा शौक था। वे भोजन के विना रह सकते थे, पर अफीम के विना उनका काम नही चलता था। वे कम से कम एक तोला अफीम प्रतिदिन सेवन किया करते थे । इन्हे स्वर्ग मे गए सौ वर्ष हो गए है। इतने वर्षो तक उनको अफीम नही मिल पाई। इसलिए आज कम से कम ढाई मन अफीम मालपूड़े खाने वालो को खिला दीजिए, ताकि मालपूड़ो के साथ-साथ उन महाराज को अफीम भी प्राप्त हो जाए। इस वात को सुनते ही पेटू दरवारी सोच मे पड़ गए। यदि मालपूड़े खाएगे तो अफीम भी खानी पड़ेगी। अफीम खाते ही पितृलोक की यात्रा करना पड़ेगी। यह सोच कर उन्होने किसी तरह श्राद्ध का कार्यक्रम स्थगित कर दिया। फिर कभी उन्होने श्राद्ध का नाम नही लिया।

इस कथानक से स्पष्ट हो जाता है कि श्राद्ध के मूल मे कुछ यथार्थता नही है। स्वार्थपूर्ति के लिए ही इस परम्परा को ब्राह्मणो ने जन्म दिया है। एक और उदाहरण से इसकी अयथार्थता को समझिए एक आदमी घर मे आम का वृक्ष लगा कर गगा स्नान करने गया। वहा वह गगा का जल उछाल कर वाहिर डालने लगा। किसी ने उससे ऐसा करने का कारण पूछा तो वह वोला— भाई मैं यहां अपने घर मे आम का पौधा लगा कर आया हू। यहा चले आने के कारण वहुत दिनो से उसको पानी नही दिया। आज मौका पाकर मैं उसे पानी दे रहा हू। वह आदमी वोला— मूर्ख ! यहा पानी उछालने से तेरे घर मे पहुच जायगा ? विश्वास रख, ऐसा नही हो सकता।

इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि दूसरी जगह डाला हुआ पानी यदि पौधे को लाभ नही पहुचा सकता तो इस लोक मे दूसरो को खि-

लाने स परलोक वासी व्यक्ति के पास वह कैसे जा सकता है? वस्तुत. मृतात्मा के निमित्त किया जाने वाला कोई भी विधिविधान मृतात्मा को लाभ नही पहुचा सकता।

हां, यह सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति मरकर देवता बन जाए, अवधिज्ञान से अपने परिवार को जान ले, उससे मोह रखे और अपनी मान प्रतिष्ठा के लिए परिवार वालो को दान-पुण्य के लिए सकेत करे, तो सकेतानुसार दान पुण्य करने से वह देव अपनी व्यक्तिगत कामना पूर्ण होने के कारण अवश्य सन्तुष्ट हो सकता है किन्तु प्रत्येक मृतात्मा को निमित्त बना कर दान-पुण्य करने से उसकी तृप्ति होती है, ऐसा सोचना ठीक नही हैं। क्योकि जो आत्मा मनुष्यलोक को छोड कर नरकगति मे, तिर्यंच गति या मनुष्यगति मे चला गया है, उन को पूर्व जन्म का कोई ज्ञान भी नही है, उसे पूर्वजन्म के परिवार से मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने का भी कोई विचार नही है। अत उसके निमित्त किया गया दान उसके हर्ष का कारण बन सकेगा, ऐसा नही हो सकता। देवता भी अवधि ज्ञानी होने से अपनी मान प्रतिष्ठा देख कर प्रसन्न होता है, उसके निमित्त गरीब, गौ, ब्राह्मण, कुत्ता, काक आदि प्राणियो को जो दान दिया है, वह देवता को पहुचता है ऐसी बात नही है। देव को निमित्त बना कर किसी को जो चाहे दान दे दे किन्तु उसमे से देव के पास कुछ नही पहुचता। देवता तो केवल अपनी मान प्रतिष्ठा होने के कारण ही संतुष्ट हो जाते हैं।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति

वैदिक धर्म का विश्वास है कि जो पुत्रहीन होकर व्यक्ति मर जाता है, उसकी गति § नही होती वह शुभगति को प्राप्त नही करता।

§ कोषकारो के मत मे मृत्यु के अनन्तर जीवात्मा की भली बुरी दशा का

उसकी आत्मा संसार मे भटकती रहती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को पिता बन कर ही स्वर्ग सिधारना चाहिए। अन्यथा गतिहीन जीवन ससार मे चक्र काटता रहेगा, उसे कही शान्ति की प्राप्ति नही होगी। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नहीं है। जैनधर्म कहता है कि गति का सम्बन्ध व्यक्ति के कर्मों के साथ है। शुभ कर्म से शुभ गति, और अशुभ कर्मो से अशुभ गति की प्राप्ति होती है। पुत्र पिता को दुर्गति से बचा कर सुगति मे नहीं पहुचा सकता और पिता भी पुत्र को सुगति मे नही ले जा सकता है। यदि दूसरो के कर्मों का मनुष्य को फल मिलने लगे तो अपना किया हुआ कर्म निष्फल हो जायगा। परलोक की बात को जाने दीजिए। इसी लोक मे पुत्र पिता के अशुभ कर्मो को, न समाप्त कर सकता है, और न स्वय उनका उपभोग कर सकता है। पिता यदि आखो से अन्धा है, कर्मो का सताया हुआ है तो ऐसे पिता को पुत्र आखे नही दे सकता, उसके कर्म-जनित रोग को शात नही कर सकता। जब इस लोक मे पुत्र पिता को उसके कर्मजन्य दुःख से बचा नही सकता, तो वह परलोक मे उसे कैसे बचा सकता है? उसे शुभ गति मे कैसे पहुचा सकता है?

दूसरी बात, पुत्र की प्राप्ति सभोग से होती है, स्त्री पुरुष का पारस्परिक संगम होने से पुत्र प्राप्त हो सकता है। जहां सगम है, मैथुन है, वहा ब्रह्मचर्य का भग होना अनिवार्य है। ब्रह्मचर्य को परम धर्म माना गया है। शास्त्रकारो ने "तवसु वा उत्तम् बंभचेरं" यह कह कर समस्त तपो मे ब्रह्मचर्य को श्रेष्ठ तप माना है। तप धर्म का ही रूपातर है। ऐसी दशा मे ब्रह्मचर्य का भग करना धर्म का भग करना

नाम गति है, किन्तु प्रस्तुत में गति शब्द सद्गति, शुभस्थान में उत्पत्ति का बोधक है।

है। धर्म को भग करने से कभी पुण्य नही हो सकता। धर्म के घात से तो पाप ही हुआ करता है। अत. जैन धर्म का कहना है कि वैदिकधर्म जो " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " यह कह कर पुत्र उत्पन्न करने की प्रेरणा देता है, तो वह ससार को पापमय उपदेश देता है । ऐसे पापोपदेशक वाक्य जिस शास्त्र मे होते हैं उसे तो शास्त्र ही नही कहा जा सकता। जीवन को शासित करने वाला, कुपथ से हटा कर सुपथ मे चलाने वाला शास्त्र ही वास्तव मे शास्त्र कहलाने की योग्यता रख सकता है, अन्य नही।

यदि " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " इस सिद्धात को मान लिया जाए तो जो ऋषि-महर्षि और अनेक तीर्थंकर कुमार अवस्था मे ही दीक्षित हो जाते है, साधु बन जाते हैं, उनकी क्या दशा होगी ? उन की तो कभी गति हो ही नही सकती, और उक्त सिद्धात के अनुसार न उन की गति कभी सभव ही है। ऐसा मान लेना कहा तक ठीक है कि आजीवन ब्रह्मचर्य की पालना करने वाले महापुरुषो को तो सद्गति प्राप्त न हो और विषय-भोग भोग कर पुत्र को उत्पन्न करने वाले सुगति प्राप्त करे ? कोई भी बुद्धिशाली व्यक्ति इस बात को कभी मानेगा नही, अन्य की बात दूसरी है।

मनुष्य सर्वज्ञ हो सकता है

वैदिक धर्म मे सनातनधर्मी और आर्यसमाजी ये दो वर्ग पाए जाते हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी सरस्वती थे । आर्यसमाज का विश्वास है कि जीव सर्वज्ञ नही हो सकता, सर्वज्ञ तो केवल एक परमेश्वर है। किन्तु जैनधर्म कहता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा ज्ञानाच्छादक कर्मों का नाश करने पर तथा आत्मज्ञान के सर्वथा अनावृत्त हो जाने पर सर्वज्ञ पद को उपलब्ध कर सकता है । सर्वज्ञता

केवल परमेश्वर का ही गुण नहीं है। यह गुण समस्त जीवों में पाया जाता है,परन्तु वह कर्मों के कारण आच्छादित हो रहा है,जब कर्मों का आवरण दूर हो जाता है, तब वह प्रकट हो जाता है।

जैनधर्म इस संसार मे दो पदार्थ मानता है- जड़ और चेतन। जड़ पदार्थ वे है जिन मे ज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुण नही पाए जाते हैं और चेतन पदार्थ वे हैं जिन मे ज्ञानादि गुण अवस्थित हैं। खान मे निकले सोने मे जैसे मल अनादि काल से मिला रहता है वैसे ज्ञानवान आत्मा अनादि काल से कर्मप्रवाह मे प्रवाहित होता चला आ रहा है। इस कारण इसकी समस्त शक्तियां आच्छादित हो रही हैं, और ज्ञान आदि गुण प्रकट नहीं हो रहे हैं किन्तु जिस समय अहिंसा, सयम और तप द्वारा कर्म आत्मा से सर्वथा छूट जाते हैं, उस समय आत्मा मे ज्ञानादि गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते हैं। अज्ञानजनक कर्म के आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर यह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी दशा को प्राप्त कर लेता है। सर्वज्ञ बनने के लिए किसी व्यक्ति विशेष की कोई बात नहीं है। जो भी जीव कर्म-बन्धनों को तोड़ देता है, वही सर्वज्ञ पद उपलब्ध कर लेता है। वस्तुतः सिद्ध और ससारी जीव मे केवल कर्मों का ही अन्तर है। दोनो के मध्य मे कर्म खड़ा है, जो दोनो को सदा से अलग रख रहा है। जब इस कर्म को नष्ट कर दिया जाता है तो परमात्मा और आत्मा मे कोई अन्तर नही रहता। इसीलिए कहा है-

आत्मा परमात्मा में कर्म का ही भेद है।
काट दो यदि कर्म को फिर भेद है ना खेद है॥

पाठशाला मे पढने वाला प्रत्येक छात्र प्रोफेसर बन सकता है। पाठशाला की पढाई किसी व्यक्ति-विशेष के लिए निश्चित नही होती।

जो भी श्रम करता है, योग्य अध्यापक के सकेतानुसार चलता है, वही धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ अन्त मे शिक्षक या प्रोफेसर के पद को ग्रहण कर लेता है। किसी विशेष जाति, प्रात या वर्ग का व्यक्ति ही शिक्षक की इस उच्चता को पा सकता है, जैसे यह कोई सिद्धात नही है, ऐसे ही यह भी कोई सिद्धात नही है कि केवल परमेश्वर आत्मा ही सर्वज्ञ हो सकती है, अन्य नही। जैन धर्म कहता है कि प्रत्येक भव्य आत्मा सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है।

मुक्ति से जीव वापिस नहीं आता

आर्यसमाज की मान्यता है कि जीव मुक्ति मे सदा नही रहता है, कुछ समय वहा का आनन्द भोग कर फिर ससार मे लौट आता है। इस मान्यता की पुष्टि मे उक्त समाज का कहना है कि कोई मनुष्य मीठा खाता ही चला जाए तो उसको वैसा सुख नही होता, जैसा कि सब प्रकार के रसो को भोगने वालो को होता है और उसका विचार है कि मुक्ति जेल है, कौन ऐसा व्यक्ति है जो जीवन भर जेल मे बंद रहना स्वीकार करे ! इस के अलावा, उसका यह भी कथन है कि यदि मुक्त जीव मुक्ति से वापिस न लौटे तो मुक्ति स्थान मे भीडभडक्का हो जायगा और यह ससार जीवो से किसी समय बिल्कुल खाली हो जायगा। किन्तु जैनधर्म का ऐसा विश्वास नही है। जैन धर्म का सिद्धांत है कि मुक्त जीव मुक्ति से वापिस नही आता। यह मुक्ति को 'अपुनरावृत्ति" कहता है। अपुनरावृत्ति का अर्थ है— जहा से वापिस न लौटना पड़े। इसलिए जैनधर्म कहता है कि मुक्त जीव मुक्ति मे ही सदा विराजमान रहते है।

जीव के साथ कर्मो का सम्बन्ध अनादिकालीन है। अनादिकाल से जीव कर्मो से घिरा हुआ है। कर्मो के कारण ही यह जीव चौरासी लाख योनियो मे जन्म-मरण कर रहा है। ये कर्म तपस्या के द्वारा

जब नष्ट कर दिए जाते हैं, और संयम के द्वारा जब नवीन कर्मबन्ध को रोक दिया जाता है तब यह आत्मा सुवर्ण के समान परम विशुद्ध और निर्विकार हो कर अविनाशी और अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार चावल का छिलका उतर जाने पर उस मे उगने की शक्ति नही रहती, ऐसे ही कर्म-विमुक्त आत्मा भी जन्म-मरण की परम्परा से छूट जाता है। जन्म-मरण कर्मजन्य हैं। कर्म को राग-द्वेष जन्म देता है। राग-द्वेष के अभाव मे कभी कर्मबन्धन नही हो सकता। कर्म-बंधन के नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण नही होने पाता। इस कारण कर्ममल के सर्वथा समाप्त हो जाने पर निष्कर्म अवस्था को प्राप्त हुआ जीव फिर कभी कर्म-बन्धन मे नही आता, वह जन्म-मरण से छूट जाता है, सदा के लिए मुक्ति मे जा विराजता है।

मुक्त दशा मे जीव शरीर-रहित होता है, अतः वह न तो स्वयं दूसरे को रुकावट डालता है और न किसी दूसरे से रुकता है। तूम्बा जैसे पानी के ऊपर ही तैरता रहता है, वैसे ही मुक्त जीव स्वभाव से ही ऊपर लोकाग्र भाग मे पहुंच जाता है। उस स्थान का नाम सिद्ध-शिला या सिद्धस्थान है। सिद्धशिला मे गया जीव सदा के लिए वही रहता है, वहा से कभी वापिस नही आता। वापिस आए भी कैसे? वापिस आएगा तो उसे जन्म लेना पडेगा, जन्म लेगा तो नव मास—अधेर कोठडी मे उसे उल्टा लटकना पडेगा, उल्टा लटकने में शास्त्र कहता है कि मारणान्तिक वेदना होती है। वेदना बिना कर्म के हो नहीं सकती। मुक्त जीव कर्म से सर्वथा रिक्त होता है। ऐसी दशा मे (निष्कर्मता की दशा मे) मुक्त जीव की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है?

यह कहना कि "लगातार मिठाई खाने से मनुष्य ... सा,

नही मिलता जैसा कि सर्व प्रकार के रसो का उपभोग करने से मिलता है। अतः जीव जब मुक्ति-सुख से तृप्त हो जाता है, तो वह ससार के वैषयिक सुख भोगने के लिए मुक्ति को छोड कर ससार मे आ जाता है।" सर्वथा भ्रान्त और औचित्य-रहित है। भौतिक सुख और आत्मिक सुख दोनो सुखो मे महान अन्तर रहता है। इन को एक समान नही कहा जा सकता। भौतिक सुख मे भौतिक साधन अपेक्षित होते हैं, जबकि आत्मिक सुख मे किसी भौतिक साधन की आवश्यकता ही नही होती। भौतिक सुख अस्थायी है, और आत्मिक सुख स्थायी है। भौतिक सुख दु ख-मिश्रित होता है, और आत्मिक सुख मे दु ख का चिन्ह भी नही होता भौतिक सुख इन्द्रियजन्य है, और आत्मिक सुख मे इन्द्रियो को कोई अपेक्षा नहीं होती। इतनी भिन्नता होने पर दोनो को एक समान कैसे कहा जा सकता है? आत्मिक सुख के सामने भौतिक सुख का महत्त्व भी क्या है? कहा सूर्य का प्रकाश और कहा खद्योत का? दोनो मे जैसे समानता नही है, वैसे ही भौतिक सुख और आत्मिक सुख इन दोनो मे भी कोई समानता नही है। अत मुक्तजीव को जो आत्मसुख होता है वह मिष्टान्न जन्य सुख से उपमित नही किया जा सकता। मिठाई खाने से जी उकता सकता है, किन्तु आत्मसुख आत्मा का स्वभाव होने से आत्मा की व्याकुलता का कारण नही बन सकता।

मनुष्य प्रतिदिन रोटी खाता है, कभी उसका मन व्याकुल नही होता, कभी उसे वह छोडने को तैयार नही होता। अत लगातार सेवन करने से सभी वस्तुओ से जी उकता जाता है, यह कोई सिद्धात नही है। मनुष्य सदा वस्त्र पहनता है, किन्तु कभी उसे नग्न हो जाने का विचार नही आता, किसी मनुष्य ने कभी किसी से चोट नही खाई तो

उसे कभी यह ख्याल नही आता कि मुझे चोट खानी चाहिए। इस के अलावा, एक ब्रह्मचारी जीवन है, उसे ब्रह्मचर्य की परिपालना में बड़ा आनन्द आता है पर आर्यसमाज के सिद्धात के अनुसार ब्रह्मचारी मनुष्य को ब्रह्मचर्य का आनन्द तभी आ सकता है जबकि वह कभी-कभी वेश्या का भी सगम करता रहे। तथा परमेश्वर जो सदा आनन्दमग्न रहता है, उसे भी उकता जाना चाहिए,उसे भी मुक्ति से वापिस आ जाना चाहिए, उसे मनुष्य के रूप मे आकर वैषयिक सुखो को उपभोग करना चाहिए। पर ऐसा होता नही है। न यह आर्यसमाज को मान्य है। जब परमेश्वर अपने आनन्द मे सदा मग्न रह सकता है, तो अन्य मुक्त जीव मुक्ति मे सदा आनन्दमग्न क्यो नही रह सकते ? साराश यह है कि मुक्त जीव लगातार आत्मसुख भोगने से तृप्त हो कर मुक्ति से वापिस आ जाता है, ऐसा नही समझना चाहिए। बल्कि यहा समझना चाहिए कि मुक्त जीव सदा मुक्ति मे ही रहता है, और वही अपने आत्मगुण मे सदा निमग्न रहता है।

मुक्ति मे मुक्त आत्माओ के भीड़-भडक्के को आशका करना भी एक जबर्दस्त भ्रान्ति है। मुक्त जीवो मे जब शरीर ही नही होता, तब उन्हे एक स्थान मे क्या बाधा हो सकती है ? वैदिक धर्म परमेश्वर को सर्व-व्यापक मानता है। क्या सारे ससार में ठसाठस जड़ परमाणुओ के भरे रहने पर भी परमेश्वर उस जगह ठहरता है। जब परमेश्वर को कोई बाधा नही पहुचती है तो मुक्त जीवो को क्या बाधा पहुच सकती है ?

एक उदाहरण और लीजिए। एक राष्ट्रनेता है, वह भाषण दे रहा है, लाखो की सख्या में जनता वहा उपस्थित है। सभी की आंखें नेता की ओर लगी हुई हैं। सभी के नेत्रो की ज्योति नेता के शरीर

पर पड़ रही है। पर क्या वहा नेत्र ज्योतियो का भीड़ भड़क्का होता है, उससे नेता को वाधा पडती है ? कभी नही। नेत्र-ज्योति परमाणु-पुञ्ज है, पौद्गलिक है, तथापि उसका भीड-भडक्का नही होता और वह किसी के लिए वाधक नही बनती, फिर मुक्तात्माए तो अमूर्तिक है, अरूपी है, इनके भीड़भडक्के की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है ?

मुक्ति मे लगातार जीवो के जाने से ससार खाली हो जायगा, ऐसा समझना ठीक नही है, क्योकि जीव अनन्त है, इनका कभी अन्त नही आ सकता। जीवो की अनन्तता के सम्बन्ध मे इस पुस्तक के आत्म-मीमासा नामक अध्याय मे ऊहापोह किया जा चुका है। पाठक उसे देखने का कष्ट करे।

कर्म-वाद

कर्मवाद जैनधर्म की महत्त्वपूर्ण देन है। इसने कर्मवाद का जितना सूक्ष्म और गभीर विवेचन अध्यात्म जगत के सन्मुख उपस्थित किया है, इतना किसी अन्य दर्शन ने नही किया। वैदिक धर्म मे कर्मवाद का वर्णन तो है, किन्तु ऐसा नही, जैसा कि जैन धर्म मे है। वैदिक धर्म केवल अदृष्ट सत्ता या क्रिया को कर्म समझता है, किन्तु जैनधर्म उसे पौद्गलिक मानता है। इसका विश्वास है कि व्यक्ति के आचार-विचार से कर्मयोग्य पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होते हैं और वे आत्मा से सम्बन्धित हो कर कर्म का रूप ले लेते हैं। कर्म की मूल प्रकृतियो तथा उत्तर प्रकृतियो के विस्तृत वर्णन के अलावा जैनधर्म ने प्रत्येक कर्म के बन्ध कारणो का भी बड़ी विशदता के साथ विवेचन किया है। जैनसाहित्य का आधे से ज्यादा भाग कर्मवाद के विवेचन ने रोक रखा है। कर्म-वाद को जैन-धर्म का यदि प्राण कह दें तो यह उचित ही

होगा।

कर्मवाद का अर्थ है— जीव जैसा कर्म करता है, उस का वैसा फल भोगता है। कर्मफल का उपभोग करने के लिए ईश्वर या किसी अन्य देवी देवता को माध्यम बनाने की आवश्यकता नही है। यदि एक व्यक्ति आखे बन्द करके या देखते हुए कूप की ओर बढता चला जाए तो वह उसमे गिरेगा ही। कुए मे गिरने और उससे लगने वाली चोट की जवाबदारी उसी पर है। कुए मे डालने वाली ईश्वर या कोई अन्य शक्ति है, ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नही है। कर्मवाद को ले कर इस पुस्तक मे अन्यत्र विवेचन किया गया है। पाठक उसे देखने का कष्ट करे।

हृदय का परिवर्तन

जैनधर्म बाह्य क्रियाकाड की अपेक्षा हृदय परिवर्तन पर बल देता है, बाह्य रूप का यहा विशेष महत्त्व नहीं है। मनुष्य किसी भी भेषमे हो,किसी भी जाति का हो किन्तु यदि उसका हृदय शुद्ध है,आत्मा निर्मल है, तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। जैनधम चारित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान देता है। इसके विपरीत वैदिक धर्म में बाह्य क्रियाकाड को महत्त्व प्राप्त है। तीर्थस्नान, तीर्थयात्रा आदि अनुष्ठानों को वैदिकधर्म सर्वेसर्वा मानता है, जबकि जैनधर्म (स्थानक-वासी परम्परा) मे इन को कोई स्थान नहीं है।

मृतक की गति

वैदिकधर्म की मान्यता है कि यदि कोई खाट पर मर जाए, या छत पर किसी का प्राणान्त हो जाए तो उसकी गति नही होती। गति के लिए भूमि पर शैय्या करनी होती है, यदि मरने वाला शैय्या पर

पडा है तो उसे नीचे उतारना पडता है, और अन्त मे उसकी अस्थियां हरिद्वार मे ले जानी होती है। किन्तु जैनधर्म इन वातो मे कोई विश्वास नही रखता। यह कहता है कि व्यक्ति खाट पर मर जाए या नीचे, तथा छत पर किसी का प्राणान्त हो जाए या भूमि पर, इससे कोई फर्क नही पड़ता। गति के साथ इसका कोई सम्वन्ध नही है। गति का सम्बन्ध हृदय की शुद्धि से है। हृदय और आचरण अच्छा हो, फिर कही भी मृत्यु आ जाए, गति हो जायगी, यदि हृदय और आचरण दूषित हैं तो भूमि पर प्राण छोडने पर भी गति नही हो सकती। जीवन का भविष्य उज्ज्वल नही वन सकता।

दूसरी वात, मरणासन्न व्यक्ति को छूने से गति विगडती है, सुधरती नही। यह तो निर्विवाद वात है कि मृत्यु-शैय्या पर पडा व्यक्ति महान वेदना और कष्ट का सामना कर रहा होता है, उस समय उसे मारणान्तिक दु ख होता है। ऐसी दशा मे यदि उसे स्पर्श भी किया जावे तो वह भी उसके लिए दुःखप्रद होता है। उससे उसे वेदना होती है। उसे क्रोध आता है। असमर्थता के कारण भले ही वह वोल नहीं पाता, तथापि भीतर से वह झुझला उठता है। ऐसी दशा मे यदि उस के सारे शरीर को ही उठाकर इधर-उधर रखा जाए तो उसे कितनी महान वेदना होती होगी, कितना महान क्रोध आता होगा ? यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है। सिद्धात है कि मृत्यु की घडी का क्रोध परलोक को विगाड़ देता है। फलत, अन्त मति सो गति, इस सत्य के आधार पर उसकी गति विगड़ जाती है, सुधरती नही। अत. मरणासन्न व्यक्ति को उठाना, या इधर-उधर उसे रखना, ये सव प्रवृत्तिया नही करनी चाहिए, क्योंकि इससे गति विगडती है।

मृतक की अस्थियां किसी भी जल-प्रवाह मे प्रवाहित की जा

सकती है। वे केवल हरिद्वार मे ही भेजी जाए, ऐसी मान्यता जैन-धर्म की नहीं है। जैन-धर्म इन लौकिक प्रवृत्तियों को धर्म का रूप प्रदान नही करता। उसकी दृष्टि मे ये सब सांसारिक कृत्य हैं।

इसके अलावा वैदिक धर्म का विश्वास है कि देवता मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जैनधर्म कहता है कि मोक्ष केवल मानव योनि से ही प्राप्त किया जा सकता है। यदि देवता को मोक्ष पाने की इच्छा हो तो उसे मनुष्य बनना पड़ेगा, और कर्मों के नाश के लिए तप करना चाहिए। तप द्वारा आत्मा को सर्वथा निष्कर्म बना कर देव मुक्त हो सकता, अन्यथा नही।

वैदिक धर्म कहता है कि ईश्वर की भक्ति करने से, उसकी कृपा से सुख मिलता है, किन्तु जैनधर्म कहता है कि सुख दुःख अपने अच्छे और बुरे कर्मों के कारण मिलता है, और स्वय ही मिलता है, उसे ईश्वर नही देता।

वैदिक धर्म मानता है कि मुक्त हुआ जीव वैकुण्ठ मे अनादिकाल तक सुख भोगता है, तथा ब्रह्म मे लीन हो जाता है, किन्तु जैन-धर्म कहता है कि मुक्त जीव लोक के अग्र भाग मे रहते हैं, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन रूप अपने स्वरूप मे रमण करते हैं, उनकी अपनी स्वतत्र सत्ता रहती है, वे ब्रह्म नाम की किसी शक्ति मे जा कर लय नहीं हो जाते, समाप्त नही हो जाते। जैन-धर्म वैकुण्ठ नाम का ऐसा कोई स्थान नही मानता है, जिसमे भगवान का दरबार लगा हुआ हो, वहां जीवो के पुण्य-पाप का हिसाब होता हो, कोई ऐसा रोजनामचा पडा हो, जिसमे जीवो के दैनिक कार्यों का खुलासा हो। जीवो के भाग्य का निर्णय किया जाता हो। जैनधर्म कहता है कि ईश्वर का जीव की किसी भी प्रवृत्ति के साथ कोई सम्बन्ध नही है।

जैनधर्म धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, गुणस्थान आदि ऐसे अनेकों तत्त्व मानता है जो वैदिक धर्म मे नही पाए जाते हैं। तथा जैन न्याय में भी स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि बहुत से ऐसे तत्त्व है, जो जैनेतर न्याय में नही हैं।

यह सब भेद होते हुए भी दोनों धर्मों के अनुयायियो मे सांस्कृतिक दृष्टि से एकरूपता दिखाई देती है और कुछ जातिया ऐसी है, जिन मे दोनो धर्मों के अनुयायी पाए जाते हैं, और उनमे रोटी-बेटी का व्यवहार भी चालू है।



जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म

अष्टम अध्याय

प्रश्न– जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों समकालीन धर्म हैं या उभय धर्मों में काल की अपेक्षा कुछ भेद है ? यदि भेद है, तो दोनों में प्राचीन कौन है ?

उत्तर– इस बात को हम 'जेनधर्म का अनादित्व' अध्याय मे विस्तार से बता चुके हैं कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। इतिहास एव दर्शन–शास्त्र के अन्वेषक डॉ० जेकोबी भी इस सबध मे स्पष्ट शब्दो मे लिखते है– "निर्ग्रन्थो का उल्लेख बौद्धो ने अनेक बार किया है, यहा तक कि पिटको के प्राचीनतम भाग मे जैनो का उल्लेख मिलता है। परन्तु बौद्धो के विषय मे स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जैन सूत्रो मे कही भी मेरे देखने मे नही आया है, जबकि उनमे जमाली, गोशाला और अन्य पाखडो धर्माचार्यो के विषय मे लम्बे-लम्बे कथानक मिलते हैं। चूंकि बाद के समय मे दोनो धर्मो का पारस्परिक सबध जैसा हो गया था, उससे यह स्थिति एकदम विपरीत है। क्योकि दोनो धर्मो के समकालिक प्रारम्भ की हम लोगो की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुचने को बाध्य होते हैं कि निर्ग्रन्थ धर्म बुद्ध के समय मे नया पैदा नही हुआ था। पिटकों का भी मत यही मालूम होता है। क्योकि उनमे कही भी वि–

रोध सूचन नहीं मिलता है। †

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। इस संबंध मे हम पीछे विस्तार से बता चुके हैं। वेदों, भागवत एव अन्य वैदिक ग्रन्थो में जैनधर्म के अस्तित्व का वर्णन मिलता है और इन्ही के आधार पर पाश्चात्य एवं भारतीय ऐतिहासिक विद्वानो ने इस बात को स्पष्ट शब्दो गे स्वीकार किया है कि जैन धर्म वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थो से भी पहले व्यवस्थित रूप से प्रचलित था और इस काल के आदि तीर्थकर ऋषभदेव को भी स्वीकार कर लिया गया है। डॉ० जेकोबी का स्पष्ट अभिमत है— "विष्णु पुराण और भागवत के इन कथानको मे कुछ ऐतिहासिकता है, जो ऋषभदेव को जैनो का पहला तीर्थकर सिद्ध करती है।" §

इसके अतिरिक्त जैनेतर दार्शनिको ने भी जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन को अलग-अलग स्वीकार किया है। व्यास रचित वेदांत सूत्र के द्वितीय अध्याय के १८वे से ३२वे सूत्र तक बौद्ध दर्शन का खडन किया और उसके आगे "नैकास्मिन्नसभवात्", "चात्याऽकात्स्न्यं", "न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्य." तथा "अन्त्यावस्थितेश्चोभय-नित्यत्वादविशेष." इन चार सूत्रो मे जैनधर्म का प्रतिवाद किया है। सर्व दर्शन सग्रह मे माधवाचार्य ने १६ दर्शनो में जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन को भिन्न-भिन्न लिखा है। वैभाषिक, सौत्रान्तिक,योगाचार और माध्यमिक बौद्धो के इन चार भेदो,जैनो का कहीं नामोल्लेख नही है। बौद्ध ग्रन्थो मे भी निर्ग्रंथ धर्म- "जो जैनधर्म का ही परिसूचक शब्द

---

† इण्डि. एण्टी. (डॉ. जकोबी) पुस्तक ९, पृष्ठ १६१।

§ वही (जेकोबी) पृष्ठ १६३

है, का उल्लेख किया गया है।

राजमहल से भागने के बाद तथागत बुद्ध ने कुछ वर्ष तक जिस साधना, तपश्चर्या एव आचरण का पालन किया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध पहले निर्ग्रंथ (जैन) परम्परा मे दीक्षित हुए थे। सारी पुत्र को अपने पूर्व जीवन की घटना सुनाते हुए उन्होने कहा कि मैंने केशलुचन किया था और इस क्रिया को चालू रखा था। * यह क्रिया जैन मुनियो के अतिरिक्त अन्य किसी सम्प्रदाय मे नही है। इस से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जैनधर्म बौद्धधर्म का समकालीन नही, बल्कि उससे बहुत पहले से चला आ रहा था। अस्तु, इतने स्पष्ट प्रमाणो के उपलब्ध होते हुए भी यह कहना या मानना अक्षम्य भूल है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है या बौद्धधर्म का समकालीन है।

प्रश्न– जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन में दार्शनिक अंतर क्या है?

उत्तर– भारत अध्यात्म चिन्तन प्रधान देश है। भारतीय विचारक आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे है। अत भारतीय चिन्तक दार्शनिक के रूप मे सामने आए और परिणामस्वरूप विभिन्न दर्शनों का निर्माण हुआ। जिनमे प्रत्येक दार्शनिक एव विचारक ने अपने चिन्तन को जनता के सामने रखा और अपनी बौद्धिक एव तार्किक शक्ति से आत्मा-परमात्मा एव अन्य तत्त्वो की व्याख्या की। ये व्याख्याए ही दर्शन शास्त्र के रूप मे आज हमारे सामने है।

---

* केस्स मस्सुलोचको विहोमि, केसमस्सु लोचनानुयोगं अनुयुत्तो।
—मज्झिमनिकाय, महासीनादसुत्त, १२

भारतीय दर्शन मे बौद्ध दर्शन का भी अपना स्थान है। परन्तु इसके पीछे तथागत बुद्ध का चिन्तन कम है। बुद्ध ने भी आत्मा-परमात्मा के सबंध मे कुछ सोचा है। परन्तु उनके चितन मे दार्शनिक गहराई एव सूक्ष्म दृष्टि नही है और न उसने दार्शनिक की दृष्टि से सोचा ही है। उन्होने जो कुछ सोचा-विचारा है, वह युग के प्रवाह से विवश होकर ही सोचा है। जहा तक हो सका उन्होने इन प्रश्नो को अव्याकृत कह कर टालने का प्रयत्न किया है। जब प्रश्न टाले नही जा सके तब कुछ उत्तर देना पड़ा। उसके लिए तथागत बुद्ध ने उपनिषद् एव वैदिक परम्परा द्वारा स्वीकृत एकात नित्यवाद का दोषयुक्त बता कर क्षणिकवाद की स्थापना की और कई जगह विभज्यवाद के सहारे लोक-परलोक के प्रश्नो से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया।

एक बार मालुंक्य पुत्त ने बुद्ध से लोक के शाश्वत-अशाश्वत, सांत एव अनन्त तथा जीव एव शरीर की भिन्नता एव अभिन्नता आदि के विषय मे प्रश्न पूछे। परन्तु तथागत ने आचार मार्ग मे वैराग्य उपशम, अभिज्ञा (लोकोत्तर ज्ञान), सबोधि (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दु:ख निवृत्ति) उत्पन्न करने मे साधक न होने के कारण उन्हे अव्याकृत (व्याकरण-कथन के अयोग्य, अनिर्वचनीय) कहा। इसी तरह पोट्ठ-पाद द्वारा पूछे गए प्रश्नो को भी अव्याकृत कहकर टाल दिया गया।*

इस से स्पष्ट होता है कि बुद्ध दार्शनिक एव आध्यात्मिक चर्चाओ से सदा भागते रहे हैं। उन्होने अपने भिक्षुओ को सदा अध्यात्मवाद एव दर्शन शास्त्र से दूर रह कर कर्त्तव्य मार्ग पर चलने का उपदेश

* चूलमालुंक्य सुत्त, ६३, मज्झिमनिकाय, पृष्ठ, २५१-५३, दीघनिकाय पोट्ठपादसुत्त, १/९

दिया। उनका यही कहना था कि "चरत्थ भिक्खवो सव्वजनहिताय सव्वजनसुखाय" अर्थात् हे भिक्षुओ! सब लोगों के हित का एव सुख पहुचाने का प्रयत्न करो। परन्तु बुद्ध का यह उपदेश उनके जीवन काल तक ही रहा। उनको मृत्यु के बाद बौद्ध विद्वानो ने उनकी इच्छा के विपरीत उनके उपदेशो मे आए हुए कुछ सूत्रो को लेकर बौद्ध दर्शन को व्यवस्थित रूप दिया। जिस बात के लिए बुद्ध ने इन्कार किया था, उनके शिष्यो ने उसी का निरूपण किया। इस तरह बौद्ध दर्शन का आज जो व्यवस्थित रूप परिलक्षित हो रहा है, वह बुद्ध के बहुत बाद का है।

तथागत बुद्ध एक दार्शनिक एव आध्यात्मिक चिन्तक नहीं थे। वे एक सन्त थे, करुणाशील एव दयालु पुरुष थे। आज की भाषा मे हम उन्हे जन-नेता कह सकते हैं। वे धर्म के नाम पर यज्ञ मे मारे जाने वाले मूक पशुओ की चीत्कार, शूद्र पर होने वाले अत्याचार, नारी के तिरस्कार एवं निम्न श्रेणी के व्यक्तियो पर चलने वाले शोषण चक्र को देख कर दु खित थे। असहायो के प्रति उनके दिल मे करुणा थी और उसी के अनुरूप वे मानव को भौतिक दुःख से मुक्त करने मे प्रयत्नशील रहे।

भगवान महावीर ने भी याज्ञिक हिंसा का, छूत-अछूत के भेद का एवं शोषण का विरोध किया तथा नारी एव शूद्र को अपने सघ में बराबर का स्थान दिया और उन्हे भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी माना। परन्तु इतना होने पर भी महावीर की करुणा, दया एव अनुकम्पा की भावना केवल भौतिक देह एव वर्तमान जीवन तक ही सीमित नही रही। क्योंकि उनके सामने इस जीवन के आगे का रास्ता

भी स्पष्ट था। वे लोक-परलोक के संबंध मे बुद्ध की तरह अस्पष्ट नही थे। उन्होने आत्मा-परमात्मा,लोक की सान्तता, अनन्तता, शाश्वतता, अशाश्वतता आदि प्रश्नो का यथार्थ उत्तर दिया। उनके मन मे किसी भी तत्त्व के लिए सन्देह नही था। उनके लिए दुनिया का कोई भी तत्त्व धुंधला नहीं था। अत. उन्होने प्रत्येक प्रश्न का वास्तविक समाधान किया। उन्होने किसी भी प्रश्न को अव्याकृत कह कर टालने का प्रयत्न नहीं किया।

भगवान महावीर का जीवन त्याग के प्रथम दिन से ही चिन्तन-, मनन एव साधना प्रधान रहा है। साढे बारह वर्ष तक का समय उन्होने तप, ध्यान एवं अध्यात्म चिन्तन मे लगाया था और इतने लम्बे काल की कठोर साधना एव उत्कट तप के वाद पूर्ण ज्ञान को प्राप्त किया। जिसके कारण लोक-अलोक के सभी तत्त्व उनके सामने प्रत्यक्ष थे। इसलिए उनके उपदेश मे करुणा, दया, अनुकम्पा आदि के साथ आध्यात्मिक एव दार्शनिक चिन्तन की गहराई के भी स्पष्ट दर्शन होते है। उन्होने केवल इस जन्म के भौतिक दु.खों से ही छूटने की वात नही कही,प्रत्युत आध्यात्मिक दुःखो—राग-द्वेष,काम-क्रोध,मोह आदि से निवृत्त होने की वात भी कही। क्योकि, जब तक राग-द्वेष का क्षय नही होगा तव तक दु.खो का आत्यन्तिक नाश नही हो सकेगा। इसका कारण यह है कि दु ख कर्मजन्य है और कर्म का मूल वीज राग-द्वेष है। अतः दु.ख से सर्वथा मुक्त—उन्मुक्त होने के लिए राग-द्वेष का त्याग करना अनिवार्य है।

अत: हम कह सकते है कि बुद्ध एवं महावीर की दृष्टि मे इतना अतर है- बुद्ध जनता को भौतिक दु.खो से छुटकारा दिलाने एव शूद्र

तथा नारी को सामाजिक अधिकार दिलाने के लिए प्रयत्नशील थे और महावीर भौतिक एव आध्यात्मिक दुःख मात्र के नाश का मार्ग बता रहे थे। तथागत बुद्ध केवल दु.खो के ऊपरी पत्र-पुष्पों को काटने मे व्यस्त रहे, उन्होने दु.ख की मूल जड़ को उखाड़ने का प्रयत्न नही किया, किंतु महावीर ने दुःख-दैन्य के पत्र-पुष्पों को समाप्त करने के साथ उसकी जड़ को भी उखाड़ फैंकने का उपदेश दिया। उन्होने केवल भौतिक दुःखो के नाश की बात ही नही कही, बल्कि दु खो के मूल कारण को नष्ट करने का कारण बताया *। उनका प्रयत्न मनुष्य को आत्मा से परमात्मा बनने की राह दिखाने का था। वे बुद्ध की तरह भौतिकवादी नही, बल्कि अध्यात्मवादी थे। उन्होने आत्मा के अस्तित्व एव स्वरूप को स्पष्टतः जान लिया था। अतः उन्हें तथागत बुद्ध की तरह किसी भी तत्त्व मे सन्देह नही था।

यह हम ऊपर देख चुके हैं कि बौद्ध दर्शन का व्यवस्थित रूप बुद्ध के बाद का है। फिर भी हम उसके आधार पर यहा बौद्ध एव जैन दर्शन की मान्यता पर थोड़ा विचार करेंगे और देखेंगे कि उनमे कितना साम्य एव वैषम्य है।

बौद्ध दर्शन

बौद्ध दर्शन को अनात्मवादी दर्शन कहते हैं। इसका यह अर्थ नही है कि वह आत्मा की सत्ता को नही मानता है। वह आत्मा को स्वीकार करता है। परन्तु आत्म स्वरूप की मान्यता मे कुछ भेद है। वैदिक दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। बौद्धो को एकात नित्यवाद स्वीकार नही है। वे आत्मा के नित्यत्व को सर्वथा अस्वी-

* आचाराग सूत्र, श्रुत १, अध्य. ३, उद्दे. २, गाथा ४।

कार करते है *। उनका कहना है कि यदि आत्मा नित्य है, तो फिर वह अनन्त काल तक एक रूप रहेगा, उस मे कोई परिवर्तन नही होगा। अत उसमे बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नही घट सकेगी। क्योकि बन्ध विचारो की, भावो की परिणति के अनुसार होता है और उसका क्रिया के साथ सबंध है। क्रिया सदा एक रूप नही रहती और न भावो, परिणामो एव विचारो की धारा ही एक रूप रहती है। अतः आत्मा मे बंध मानते हैं, तो फिर वह परिणमनशील हो जायगा। और वह राग-द्वष, मोह आदि विभिन्न विकारो से युक्त हो जायगा। अत फिर हम यह नही कह सकेगे कि यह वही आत्मा है।

आत्मा को नित्य मानने मे दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होगी कि वह बधन युक्त है तो सदा बधन युक्त ही रहेगी। वह बधन से कभी भी मुक्त नही हो सकेगी और उसका पुनर्जन्म भी नही हो सकेगा। क्योकि उसमे आत्मा की एक स्थिति नही रहती, उसमे परिवर्तन आता है। और उसे एकान्त नित्य मानने से उसमे कृत-कारित्व नही घट सकेगा, अतः आत्मा नित्य नही है।

अब आत्मा के अस्तित्व को मानने मे यह कठिनाई है कि ससार मे प्रिय वस्तु को लेकर सारे दु.ख उत्पन्न होते है। जिस समय मनुष्य को आत्मा सर्व-प्रिय होती है, उस समय मनुष्य अपनी आत्माकी तुष्टिके लिए सुख-साधन सामग्रिया जुटाने के लिए अहकार का अत्यधिक पोषण करने लगता है, परिणाम स्वरूप मनुष्य के मन मे उत्तरोत्तर दु ख की अभिवृद्धि होती है। अत. आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ

* तत्त्वसग्रह, पृष्ठ ७९-१३० (आत्म परीक्षा प्रकरण)।

नही है।*

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को कोई स्वतन्त्र एव नित्य द्रव्य न मान कर रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और सस्कार इन पाचो स्कन्धों के समूह से प्रतिक्षण नए रूप में उत्पन्न होने वाली शक्ति मात्र माना है और उस को पुद्‌गल—आत्मा या विज्ञान कहा है।§ यह विज्ञान नदी प्रवाह की तरह (नदीसोतो वि य) प्रतिक्षण बदलता रहता है।†

* दुःखहेतुरहंकार आत्ममोहात्तु वर्वते,
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेत् वर नैरात्म्यभावना।

बोधिचर्यावतार, ९,७८।

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्म-प्रबन्धो,
नाहकारश्चलति हृदयात्मदृष्टौ च सत्याम्।
अन्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी,
नान्यस्तस्मादुपशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः॥

—तत्त्वसग्रह पजिका, पृष्ठ १०५।

§ नात्मास्ति स्कन्धमात्रं तु कर्मक्लेशाभिसस्कृतम्।
अन्तराभवसन्तत्या कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥

आत्मेति नित्यो ध्रुवः स्वरूपतोऽविपरिणामधर्मा कश्चित् पदार्थो नास्ति। कर्मभिः अविद्यादिक्लेशैश्च संस्कारमापन्नं पंचस्कन्धमात्रमेव, अंतराभवसन्तानक्रमेण गर्भं प्रविशति। क्षणे—क्षणे उत्पद्यमानं विनश्यमानमपि तत् स्कन्धपचक स्वसतानद्वारा प्रदीप-कलिकावत् एकत्व बोधयति।

—अभिधर्म कोश ३,१८, टीका।

† अमेरिका के मनोवैज्ञानिक प्रो० विलियम जेम्स Willium James ने भी विज्ञान (Consciousness) को विचार प्रवाह मानते हुए नित्य आत्मा के स्थान पर चित्तसन्तति (Stream of thoughts) को माना है—

जैसे दीपक की ज्योति प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहने पर भी सदृश परिवर्तन के कारण एक अखण्ड आकार-सी प्रतीत होती है। उसी तरह बाल, युवा और वृद्ध अवस्था में विज्ञान में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी समान परिवर्तन के कारण विज्ञान (आत्मा) का एक अखण्ड रूप से ज्ञान होता है। परन्तु,वस्तुतः वह एक रूप है नही। विज्ञान प्रतिक्षण बदलता रहता है। पूर्व क्षण स्थित विज्ञान उत्तर क्षण रूप विज्ञान को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। इस तरह विज्ञान-प्रवाह (चित्त सन्तति) के मानने से हमारा काम चल जाता है, अतः आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने की क्या आवश्यकता है?

बौद्ध आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नही मानते। फिर भी पुनर्जन्म आदि को मानते हैं। उनका कहना है कि दूसरे भव में नाम और रूप उत्पन्न होता है। परन्तु, वह नाम और रूप वह नही है, जो मृत्यु के समय था। मृत्यु के समय स्थित विज्ञान सस्कारो की दृढता से गर्भ मे प्रविष्ट हो कर फिर से दूसरे नाम और रूप से सबद्ध हो जाता

The unity, the identity, the individuality and the immateriality that appear in the psychic life are thus accounted for as phenomenal and temporal facts exclusively and with no need of reference to any more simple or substantial agent than the present thought or section of stream...... But the Thought is perishing and not an immortal or incorruptible thing. Its successors may continuously succeed to it, resemble it and appropriate it, but they are not the original Thoughts, whereas the soul substance is supposed to be a fixed unchanging thing.

— The Principles of Psychology, P 344–45.

है। अतः एक विज्ञान का मरण और दूसरे विज्ञान का जन्म होता है। जिस प्रकार ध्वनि और प्रतिध्वनि मे, मोहर और उसकी छाप मे, पदार्थ और पदार्थ के प्रतिविम्ब मे कार्य-कारण संबध है, उसी तरह एक विज्ञान और दूसरे विज्ञान मे तथा इस भव के मरण के समय के विज्ञान तथा अगामी भव के जन्म समय के विज्ञान मे कार्य-कारण सबध है। विज्ञान कोई नित्य वस्तु नही है। इस विज्ञान परम्परा से दूसरे भव मे उत्पन्न होने वाले मनुष्य को न पहला ही मनुष्य कह सकते है और न उसे पहले मनुष्य से भिन्न ही कहा जा सकता है। *

जिस प्रकार कपास के वीज को लाल रंग से रग देने से उस वीज का फल भी लाल रग का उत्पन्न होगा। उसी तरह तीव्र संस्कारो की छाप के कारण अविच्छिन्न सतान से यह मनुष्य दूसरे भव मे भी अपने किए हुए कर्मों के फल को भोगता है। इसलिए जिस प्रकार डाकुओ से हत्या किए जाते हुए मनुष्य के टेलीफोन द्वारा पुलिस के थाने मे खवर देने से मनुष्य के अन्तिम वाक्यो से मनुष्य के मरने के वाद भी मनुष्य को क्रियाए जारी रहता हैं। $ उसी तरह सस्कार की दृढता के बल से मरने के अन्तिम चित्त-क्षण से जन्म लेन के पूर्व क्षण के साथ सवध होता है। वास्तव मे आत्मा का पुनर्जन्म नही होता है, परन्तु जिस समय कर्म-सस्कार अविद्या से सबद्ध होता है, उस समय कर्म को ही पुनर्जन्म कहा जाता है। ‡ इस लिए बौद्ध दर्शन मे कर्म

मिलिन्दपण्ह अ २, पृष्ठ ४०-५०, तत्त्वसग्रह, कर्मफल सबध तथा लोकायत परीक्षा प्रकरण।

$ Budhist Psychology, Page 25.

‡ Buddhism in translation(Warren),Page234-241

को छोड़कर चेतना अलग वस्तु नही मानी जाती। ‡

बौद्ध साहित्य मे आत्मा के सबध मे चार तरह की विचारधाराए मिलती हैं— १-रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धो के अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। २-पाच स्कंधों के अतिरिक्त आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है। ३-आत्मा का अस्तित्व तो है, परन्तु इसे 'न अस्ति' कह सकते हैं और 'नास्ति' ही। ४-आत्मा है या नही है, यह कहना असभव है।

प्रथम मान्यता का उल्लेख मिलिन्दपण्ह मे मिलिन्द और नागसेन के प्रश्नोत्तर के रूप मे मिलता है। इसमे नागसेन स्पष्ट कर देता है, पुद्गल—आत्मा की स्वतन्त्र उपलब्धि नही होती है। $ वह पाच स्कन्वो का समूह रूप ही है। जैसे रथ के पहिए, धुरे तथा रथ मे लगे हुए डडे आदि रथ हैं? नही। और क्या इन सव से पृथक रथ का अस्तित्व है? नही। पहिए, धुरे डडे आदि के संयुक्त रूप को व्यवहार मे रथ कहते हैं। उसी तरह रूप-वेदना आदि के सगठित रूप को आत्मा कहते हैं। *

‡ चेतनाह भिखवेकम्मति वदामि। —अंगुत्तर निकाय, ३,४५

कम्म विपाका वत्तन्ति विपाको कम्मसंभवो,
कम्मा पुनब्भवा होति एव लोको पवत्तति।
कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च।
वेदको,सुधम्मा पवत्तन्ति,एवेत सम्मदस्सन।

—विसुद्धिमग्ग, अ १९

$ पुग्गलो नुपलब्भति। —मिलिन्द पण्ह

* मिलिन्दपण्ह, अ २, विसुद्धिमग्ग, अ १६, कत्थावत्थु, १,२. अभिधर्म

बौद्धो की दूसरी मान्यता है कि आत्मा ५ स्कन्धों से भिन्न पदार्थ है। यह मान्यता नैयायिक आदि दार्शनिको जैसी है। यहा पर पुद्गल-आत्मा को ५ स्कन्धो का बोझ ढोने वाली कहा गया है। $

तीसरी मान्यता को मानने वाले पुद्गलवादी वात्सीपुत्रीय बौद्ध है। ये आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं, परन्तु उसे न ५ स्कन्धो से भिन्न कह सकते हैं वह। न अभिन्न और न नित्य है और न अनित्य ही। फिर भी यह पुद्गल-आत्मा अपने अच्छे-बुरे कर्मों का कर्ता और भोक्ता है, इसलिए इसके अस्तित्व का निषेध नही कर सकते।

चौथी मान्यता के अनुसार आत्मा अव्याकृत है। अनुराध के प्रश्न का उत्तर देते हुए तथागत बुद्ध ने कहा कि तुम जब इस लोक में जीव दिखाने मे समर्थ नही हो, तो फिर परलोक की तो बात दूर रही। इसलिए मैं आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व के चक्कर मे न पड़कर 'दुःख और दुःख निरोध' इन दो तत्त्वो का उपदेश करता हू। जैसे तीर से आहत व्यक्ति को- यह तीर किसने बनाया, किसने मारा, कब मारा, किस दशा से मारा, आदि प्रश्न करने व्यर्थ हैं। उसे इन व्यर्थ क प्रश्नों मे न उलझकर तीर के घाव की रक्षा की बात सोचनी चाहिए। इसी तरह आत्मा क्या है? परलोक क्या है? तथागत पैदा होते हैं या नही? ये सब प्रश्न व्यर्थ है, अव्याकृत हैं। ‡

कोश ३, १८टीका, दीघनिकाय-पायासिसुत्त, संयुत्तनिकाय, ५, १०, ६।

$ भार भो भिक्षवो देशयिष्यामि भारादानं भारनिक्षेप भारहार च। तत्र भार. पचोपादानस्कन्धा. भारादान तृष्णा, भारनिक्षेपो मोक्षः, भाराहार पुद्गला.। —तत्त्वसग्रह पजिका, आत्मवाद परीक्षा, ३४९, धम्मपद का अत्तवग्गो।

‡ सयुत्तनिकाय, अनुरावसुत्त, अभिधर्मकोश, ५, २२ टिप्पण।

बहुत से स्थानो पर आत्मा के सबंध में प्रश्न करने पर बुद्ध मौन रहे हैं। ‡ इस तरह मौन रहने का कारण पूछने पर उन्होने कहा— यदि मैं कहता हू कि आत्मा है तो शाश्वतवादी हो जाता हू और आत्मा नही है ऐसा कहता हू तो उच्छेदवादो हो जाता हू। अत. दोनो का निराकरण करने के लिए मौन रहता हू। §

इस तरह हम देखते है कि बुद्ध ने आत्मा के सबध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया है। नागार्जुन ने कहा है– "बुद्ध ने यह भी कहा है कि आत्मा है और यह भी कहा है कि आत्मा नही है। अतः बुद्ध ने आत्मा या अनात्मा किसी का भी उपदेश नही दिया। †

जैन दर्शन

जैनागमो मे यत्र तत्र-सर्वत्र दार्शनिक एव आध्यात्मिक चिन्तन-मनन की सामग्री व्यवस्थित रूप मे उपलब्ध होती है। जैनदर्शन स्याद्वाद की नीव पर स्थित है। भगवान महावीर ने बुद्ध की तरह किसी भी प्रश्न को टालने का प्रयत्न नही किया। उन्होने आत्मा, परमात्मा,

‡ किं नु भो गोतम अत्थत्ताति, एव वुत्ते भगवा तुण्ही अहोसि।
किं पन भो गोतम नत्थत्ताति, दुतिय पि खो भगवा तुण्ही अहोसि ॥
—सयुत्तनिकाय, ४, १००

§ अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तित्युच्छेददर्शन।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण, ॥
—माध्यमिक कारिका, १८, १०

† आत्मेत्यपि प्रज्ञपितमनात्मेत्यपि देशत।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशित ॥
—माध्यमिक कारिका, १९, ६

लोक-परलोक आदि के संबंध में पूछे गए प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया है।

इस बात को हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि जैनधर्म को एकान्तवाद मान्य नहीं है। वह न तो वैदिक परम्परा मान्य कूटस्थ (एकांत) नित्यत्व को ही ठीक मानता है और न एकान्त क्षणिकत्व को ही सत्य मानता है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म या गुण युक्त है। एक अपेक्षा से उसका एक पहलू है, तो दूसरी अपेक्षा से दूसरा पहलू भी है। जैसे सिक्के की दोनों बाजू सत्य हैं— एक तरफ अपने राष्ट्र की सरकार द्वारा मान्य छाप है, तो दूसरी ओर उसके बनने की तारीख एवं सिक्के का मूल्य अंकित होता है। ये दोनों पहलू सिक्के के हैं। किसी एक को महत्त्व नहीं दिया जा सकता है और एक अस्तित्व में उस सिक्के का मूल्य भी नहीं रह जाएगा। इसी तरह प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म वाला है। अतः हम एकान्त दृष्टि से उसके यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकेंगे।

आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने वाले मत का खण्डन करते हुए बौद्ध विचारकों ने यह तर्क दिया है कि यदि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानेंगे तो उसमें कृत-कारित्व नहीं घट सकेगा। क्योंकि जो व्यक्ति कूटस्थ नित्य होता है, उसमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं आता। वह दीवार की तरह अपरिवर्तित स्थिति में बना रहता है। अतः वह कुछ कार्य नहीं कर सकेगा। यदि कहो कि प्रकृति कार्य करती है। तो प्रश्न होगा कि प्रकृति द्वारा किए गए कार्य का आत्मा को फल कैसे मिलेगा? यह संभव नहीं कि कार्य कोई करे और फल दूसरा भोगे। यदि यह मान भी लें कि प्रकृति ही उसका फल भोग लेती है। तब भी

समस्या की उलझन बनी रहेगी। फिर तो आत्मा का स्वर्ग-नरक आदि गतियो मे गमन भी नही हो सकेगा और न उसका बन्ध होगा और न मुक्ति ही। वह जिस गति एव स्थिति में स्थित है, उसी में बनी रहेगी। इस लोक मे भी एक स्थान से दूसरे स्थान मे आ जा नही सकेगी। परन्तु ऐसा होता है, वह गमनागमन करती है। इसलिए एकांत नित्यवाद यथार्थता से दूर है। उसे मानने पर आत्मा का कृत-कारित्व नही रह जाता है।

जो दोष एकान्त नित्यवाद मे आते हैं, वे ही दोष आत्मा को एकात क्षणिक मानने मे भी आते हैं। क्षणिकवाद की दृष्टि से प्रतिक्षण नई आत्मा का जन्म होता है। पहले क्षण जो आत्मा थी उसका नाश हो जाता है और दूसरे क्षण अभिनव आत्मा की उत्पति होती है। इससे स्पष्ट है कि द्वितीय क्षण उत्पन्न होने वाली आत्मा प्रथम क्षण मे स्थित आत्मा से भिन्न है। यदि भिन्न नही है वही है, तो फिर आत्मा नित्य हो जायगी। और उसे भिन्न मानते है तो यह प्रश्न उठता है कि जो कर्म प्रथम क्षण स्थित आत्मा ने किया है, उसका फल कौन भोगेगा ? यदि कहे कि दूसरे क्षण स्थित आत्मा भोग लेगी, तो यह कहना उचित नही है। क्योकि कर्म कोई करे और उस का फल दूसरे को मिले, यह तो व्यवहार से भी विरुद्ध है। यदि बाप चोरी करेगा तो उसका दण्ड उसकी सन्तान को नही, उसे ही मिलेगा। यदि कहे कि उसका फल ही नही मिलता तो फिर क्रिया निष्फल हो जायगी और ऐसा होता नही।

इसी तरह बन्ध मोक्ष का भी प्रश्न उपस्थित होगा। क्योकि जब आत्मा में नित्यता है ही नही तो फिर कर्म का बन्ध किसे होगा और उसे तोड़ेगा भी कौन ? क्योकि कर्म करने वाला आत्मा तो नष्ट

हो गया है। अतः उसका—कर्म का वन्ध किसी के नही होगा। परन्तु ऐसा होता नही। जो व्यक्ति बुरे या अच्छे जैसे कर्म करता है, उसे वैसा फल भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि वह शुभाशुभ कर्म का वन्ध करता है और उसे तोड़ता भी है। क्योकि जिसका वन्ध होता है, उसका नाश भी किया जा सकता है। और यह वन्ध-मोक्ष की स्थिति एकान्त क्षणिकवाद मे नही घट सकती है।

अत, आत्मा को एकात नित्य मानना भी दोषयुक्त है। और एकांत अनित्य मानना भी। इसलिए जैन दर्शन उसे न एकात नित्य मानता है और न एकांत अनित्य ही, वह उसे नित्यानित्य मानता है। आत्म द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। क्योकि शरीर की बदलती हुई स्थितियो एव गतियो मे भी उसका अस्तित्व वना रहता है। उसके अस्तित्व मे, आत्म प्रदेशो मे थोड़ा भी अन्तर नही पडता। परन्तु ज्ञान-दर्शन आदि जो आत्मा के गुण हैं और सदा आत्मा के साथ रहते हैं, उनमे प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। इसके अतिरिक्त ससारी आत्मा के शरीर एव गति मे भी परिवर्तन होता रहता है। इस पर्याप्त परिवर्तन की अपेक्षा से उसमे परिवर्तन भी आता है। इस तरह आत्मा न एकांत नित्य है और न एकात अनित्य ही। वह परिणामी नित्य है — द्रव्य की अपेक्षा से सदा स्थित रहता है और पर्याय की अपेक्षा से सदा वदलता रहता है।

वौद्धो का यह तर्क भी कोई महत्त्व नही रखता कि आत्मा सव से अधिक प्रिय होने के कारण मनुष्य उसकी तृप्ति के लिए अहकार का अत्यधिक पोषण करता है या हिंसा आदि पापो मे प्रवृत्त होता है। यह दोष अनात्मवाद मे ही उपस्थित होता है। क्योकि आत्मवादी

इस बात को भली-भाति आनता है कि अहकार एवं हिसा आदि दोष ससार परिभ्रमण के कारण है। इसलिए वह उनसे वचकर रहता है।

संसार मे दो दृष्टिएं पाई जाती है--- १-वाह्याभिमुखी और २-आत्माभिमुखी। जिन प्राणियो को सम्यग्ज्ञान नही होता, उनकी दृष्टि वहिर्मुखी होती है। वे पचभूत से बने स्थूल शरीर को ही आत्मा मानने लगते हैं। इसलिए उसे सुरक्षित, स्वस्थ एव चिरकाल तक वनाए रखने के लिए अनेक तरह के पापो का आसेवन करते है और रात-दिन विषय-कषाय मे संलग्न रहते है। इस तरह वे दुःख की अभिवृद्धि करते हैं। परन्तु जिन्हे सम्यग्ज्ञान है, उनकी दृष्टि आत्माभिमुखी होती है। वे प्रत्येक कार्य करते समय अपने हित की तरह दूसरे के हित एव सुख का ध्यान रखते हैं। क्योकि वे प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखते हैं और यह जानते है कि मुझे दु ख अप्रिय है,उसी तरह दुनिया के समस्त जीवो को दु.ख अप्रिय लगता है, सुख प्रिय है और सभी प्राणी जीना चाहते हैं। इसलिए वे अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरे प्राणियो का यो ही विनाश नही करेगा। वह प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक करेगा। हिंसा आदि दोषो से वचने का प्रयत्न करेगा। इस तरह वह पाप कर्म वध एव दु खो से सहज ही बच जाता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के अस्तित्व को मानने से दुःखो की परम्परा नही बढती, वल्कि आत्मा को स्वीकार नही करने से ही दु.खो की परम्परा मे अभिवृद्धि होती है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञाता तो दुःख प्रवाह को ही समाप्त कर देता है। वह जो कुछ करता है, वह शरीर की तुष्टि के लिए नही करता, प्रत्युत आत्म

विकास के लिए करता है और आत्मा को शरीर से पृथक मान कर करता है। इसलिए वह केवल शरीर पोषण के लिए किये जाने वाले सभी दोषो से निवृत्त होकर साधना के-सयम के पथ पर बढता है। और वह अपनी सारी शक्ति आत्मा को कर्म एव कर्म जन्य शरीर आदि साधनो से सर्वथा मुक्त करने मे लगा देता है। अत. वह एक दिन शारीरिक एव मानसिक सभी दु खो से मुक्त हाकर अनन्त आत्म सुख को प्राप्त कर लेता है।

इस तरह जैन दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। और उसका विश्वास है कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले व्यक्ति को आत्मा ही सर्वप्रिय लगती है। इसलिये वह शरीर पोषण से अपना ध्यान हटाकर आत्म विकास मे लगा देता है और आत्म विकास समस्त दोषो से निवृत्त होने पर ही होता है। इस तरह वह सारे दोषो एव तज्जन्य दु खो से सहज ही बच जाता है।

जैन दर्शन मे आत्मा को स्वतन्त्र पदार्थ माना है। वह इन्द्रिय, मन आदि से अलग स्वतन्त्र द्रव्य है और रूप, वेदना आदि से रहित है। क्योकि रूप आदि पर्यायें भौतिक पदार्थो मे होती हैं। जैन दर्शन मे माने गये छह द्रव्यो मे– १-धर्म, २-अधर्म, ३-आकाश, ४-काल, ५-जीव और ६-पुद्गल, केवल पुद्गल द्रव्य रूप आदि से युक्त है, शेष जड़ एव चेतन द्रव्यो मे रूप आदि नही पाये जाते हैं। ससारी जीव मे जो रूप एव कर्म जन्य वेदना आदि परिलक्षित होती है, इसका कारण यह है कि वह कर्म से संयुक्त है और कर्म पुद्गल हैं, अतः जीव मे रूप,वेदना, सज्ञा आदि की होने वाली अनुभूति कर्म पुद्गल- के कारण होती है। अतः ये सब आत्मा नही, प्रत्युत आत्मा के साथ सबद्ध पुद्गल हैं, पर्यायें

है और इसी कारण उनमे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इनके पुरातन स्वरूप का नाश एव अभिनव स्वरूप की उत्पत्ति होती रहती है इसी कारण आत्मा को भी पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी माना है। अस्तु, इन साकार पुद्गलों के कारण आत्मा को रूपवान नही कहा जा सकता। वह इन से अलग अरूपी है और पर्यायो के विनाश कारण उसके द्रव्य स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता, इसलिए वह एकान्त अनित्य नही, नित्यानित्य है। आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है। बौद्ध दर्शन मे जो आत्मा को रूप आदि से युक्त एव एकान्त क्षणिक माना है, वह कर्म युक्त आत्मा के अन्दर होने वाली पौद्गलिक हरकतो एव उसकी परिवर्तित होने वाली पर्यायों को देखकर ही उसे रूप आदि से युक्त एव क्षणिक कहा है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप पर अर्थात् आत्म द्रव्य पर जिसमे त्रिकाल मे कभी भी अतर नही आता और जो पौद्गलिक गुणो से सर्वथा रहित है, रूप, रस आदि से युक्त नही है, बौद्ध दर्शन की दृष्टि नही गई। जन विचारको ने उसके यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण करके रखा है और वह अनुभव से सत्य सिद्ध होता है।

जैन दर्शन ने किसी भी वस्तु को न एकान्त नित्य कहा है और न एकान्त रूप से अनित्य माना है। क्योकि वस्तु अनन्त गुणो से युक्त है, अत. उसके लिए एकात भाषा का प्रयोग ही नही किया जा सकता। परन्तु, इससे यह मानना गलत है कि जैनदर्शन सशयशील है। उसे वस्तु के नित्यानित्य, एक-अनेक आदि स्वरूपो मे पूरा विश्वास है और वह निश्चयात्मक रूप से कहता है कि वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। उसे वस्तु के उभय रूपो मे निश्चय है। परन्तु तथागत बुद्ध जब आत्मा

आदि को अव्याकृत कहते हैं, तो इसका अर्थ यह है— उन्हे आत्मा के स्वरूप के सबंध में कोई निश्चय नही है। इस लिए वे अन्य दार्शनिको की कटु आलोचनाओ से बचने के लिये उन्हे अव्याकृत कहकर अपना पीछा छुडाते हैं। परन्तु, जैन विचारको ने आत्मा, परमात्मा, मोक्ष आदि के यथार्थ स्वरूप को बताया है। $

इस तरह जैन दर्शन एव बौद्ध दर्शन में मौलिक अतर यह है कि बौद्ध दर्शन आत्मा को रूप, वेदना आदि पाच स्कन्धो से अतिरिक्त नही मानता और जैन दर्शन उसे इन से अलग स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। बौद्ध दर्शन आत्मा को क्षणिक मानता है और जैन दर्शन एकात रूप से क्षणिक नही मानता। बौद्ध दर्शन मुक्त अवस्था में आत्मा को अभाव-शून्य अवस्था मानता है और जैन दर्शन मुक्त अवस्था मे भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अव्याबाध सुख एव अनन्त शक्ति से सपन्न मानता है।

प्रश्न— जैनधर्म और बौद्ध धर्म दोनों में कोई समानता है या नहीं ?

उत्तर— जैनधर्म और बौद्धधर्म मे अनेकों समानताएं पाई जाती हैं। दोनो वेदो को प्रमाण नही मानते। हिंसामय यज्ञो के दोनो विरोधी हैं। जगत का नियन्ता ईश्वर है, यह दोनो का विश्वास नही है। दोनो पुरुष मे ही, उसका आध्यात्मिक विकास होने पर देवत्व की कल्पना करते हैं। दोनो अहिंसा के अनुयायी हैं। दोनो के सघ मे साधु और साध्वी को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इन बातो के अलावा जैनधर्म के चौबी-

$ इस सम्बन्ध मे हम 'आत्म विचारणा','कर्म विचारणा' आदि प्रकरणों में विस्तार से लिख चुके है।

सवे तीर्थंकर भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनो राजकुमार थे,विवाहित थे। सोने के सिहासनो को लात मार दोनो ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी, साधनाकाल मे दोनों के जीवन मे अनेको बाधाए उपस्थित हुईं । ब्राह्मण संस्कृति से दोनो की टक्कर थी, दोनों ही श्रमण सस्कृति के स्तभ थे । वैदिकी हिसा हिसा न भवति, की असंगत और हिसक धारणा का दोनो ने डट कर विरोध किया था । इस प्रकार अन्य भी अनेको बाते हैं, जिनके कारण जैनधर्म और बौद्धधर्म मे समानता पाई जाती है ।

प्रश्न– जैनधर्म और बौद्धधर्म में कोइ भिन्नता है ? यदि है तो वह क्या है ?

उत्तर– दोनो धर्मो मे अनेको जगह मतभेद मिलता है । दोनो के धार्मिक ग्रन्थ जुदे-जुदे हैं, इतिहास जुदा है, कथाए जुदो हैं,इतना ही नही, धार्मिक सिद्धात भी दोनोके नितान्त भिन्न हैं ।जैनधर्म नित्य और अभौतिक जीव तत्त्व का अस्तित्व मानता है, तथा उस का विश्वास है कि जब तक यह जीव कर्मों से बधा हुआ है, तब तक ससार मे भ्रमण करता रहता है । जब अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी मे डुबकिया लगा कर अनादिकालीन अपने कर्म-मल को सदा के लिए धो डालता है, निष्कर्म हो जाता है, तब मुक्त होने पर सिद्धशिला मे जा विराजता है, और अनन्तकाल तक आत्मिक गुणों मे मग्न रहता हुआ शाश्वत आत्मिक सुखो को भोगता है, किन्तु बौद्धधर्म जीव तत्त्व को नही मानता है । उसके मत मे जिसे जीव कहा जाता है, वह कोई नित्य पदार्थ नही है प्रत्युत क्षणिक धर्मोंकी एक सन्तान है,जैसे तेल और बत्तीके जल चुकने पर दीपक का विनाश हो जाता है, वैसे ही उस सन्तान का भी

नाश हो जाता है। बौद्धधर्म का यह सिद्धान्त जैनधर्म से सर्वथा विपरीत है।

इसी प्रकार जैनसाधुओ मे और बौद्धसाधुओ की मर्यादाओ में बहुत अन्तर पाया जाता है। जैनसाधु का जीवन तपश्चरण की दृष्टि से बड़ा ही कठोर जीवन होता है। जैनसाधु कड़ी से कड़ी सर्दी पड़ने पर भी आग नही सेकते, प्यास के मारे कण्ठ सूख जाने पर भी सचित्त जल का सेवन नही करते। चाहे कितनी भूख लगी हो पर फल आदि कच्ची सब्जी नही खाते। आग और हरी सब्जी का स्पर्श नही करते। बुढापा या बीमारी होने पर भी कोई सवारी नही करते। सदा सर्वत्र नगे पाव और नगे सर पाद- भ्रमण करते है। पैरो मे जूते नही पहनते, कौडी पैसा आदि कुछ भी धन अपने पास नही रखते सूई तलक रात्रि को अपने पास नही रहने देते। ऐनक के फ्रेम मे भी बांस का खण्ड रखते है, उसमे लोहे का तार नही रखते। ऐसे अनेकों नियम हैं, जो बौद्ध साधुओ मे नही पाए जाते।

बौद्ध साधुओं को सचित्त जल के सेवन से कोई सकोच नही, वे सहर्ष सचित्त वनस्पति को अपने उपयोग मे लाते हैं। रेल, टागा, मोटर हवाई जहाज आदि जितनी भी सवारिया हैं, वे सभी का प्रयोग करते हैं। रुपया, पैसा, सोना, चादी आदि सभी प्रकार का धन अपने काम में लाते हैं। बौद्धसाधुओ को यदि उनका कोई शिष्य घर जीमने का निमत्रण देता है, तो वे उस के निमत्रण को स्वीकार करके उसके घर चले जाते हैं किन्तु जैन साधु ऐसा नही करते। जैन साधु किसी का निमंत्रण नही मानते, किसी के घर जाकर नही जीमते। वे तो घरो से भिक्षा मांग कर लाते है, और अपने स्थान मे आकर ही भोजन का ग्रहण करते हैं। इस प्रकार बौद्ध साधु और जैन साधु के

जीवन मे आचार-विषयक अनेको मतभेद हैं।

बौद्धसाधु मांस खाते है। इनका विश्वास है कि जो मांस बौद्ध साधुओ के निमित्त तैयार नही किया गया है, उस मांस को खाने में कोई दोष नही है। इसीलिए जापान मे बौद्धमासविक्रेताओ की दुकानों पर "Not kindle for you" अर्थात् "यह मास आपके लिए तैयार नही किया गया है" इन शब्दो से अकित बोर्ड लगे रहते हैं। इनके लगाने का यही उद्देश्य होता है कि बौद्ध साधु निर्दोष समझ कर यहा से मास ले सके। स्वय महात्मा बुद्ध के जीवन मे,ऐसे प्रसग आए हैं, जिनमे उन्होने मासाहार का सेवन किया है, महात्मा बुद्ध की मृत्यु ही सूअर का मास खाने से हुई थी। किन्तु जैन साधु मासाहार के सर्वथा त्यागी होते हैं, मास तो क्या वे सचित्त वनस्पति को भी नही छूते हैं। कच्ची सब्जी के स्पर्शमात्र से वे तो हिसा की कल्पना करते हैं। ऐसे अहिंसक जीवन मे मासाहार का तो प्रश्न ही पैदा नही होता। जैनसाधु तो मांसाहार से सर्वथा दूर रहते ही हैं, किन्तु जैन गृहस्थ भी इसे कभी अपने उपयोग मे नही लाते है। जैनधर्म मासाहार को अभक्ष्य और हिंसापूर्ण आहार बतलाता है। जैनधर्म में मासाहार का बडी दृढता से विरोध किया गया है। करुणा के सागर भगवान ने इसे कुव्यसनो मे माना है और नरक का कारण बतलाया है। जैन वाङ्मय के प्रसिद्ध सूत्र श्री स्थानागसूत्र के चतुर्थ स्थान मे लिखा है कि प्राणी महारभ करने से, महापरिग्रह रखने से, पञ्चेन्द्रिय जीवो का वध करने से, और मास का भक्षण करने से नरक मे जाता है। बौद्धधर्म और जैनधर्म मे कितनी भिन्नता है यह?

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान धर्म है। इस मे सभी प्रकार के पापो की विरक्ति पर विशेष लक्ष्य दिया गया है। मुनियो के लिए जीवहिंसा,

असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग बतलाया गया है। उन्हे मन, वचन और काया से न स्वय हिंसा करनी चाहिए और न दूसरो से करानी चाहिए, और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना चाहिए। कृत, कारित और अनुमोदन करने की यह भावना सभी व्रतो के लिए है। मुनिव्रत धारण करते समय व्यक्ति को प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि " सव्वं सावज्ज जोगं पचक्खामि " अर्थात् मैं सभी सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करता हूं, किन्तु बौद्धधर्म ने निवृत्ति धर्म को इतना महत्त्व नहीं दिया।

जैनधर्म ने आत्मा, परमात्मा, पुण्य, पाप, बन्ध, निर्जरा आदि जिस किसी भी तत्त्व को पकडा है, उसके स्वरूप को पूर्णरूप से जनता के सामने रखा है। भगवती सूत्र मे वर्णित गगा अनगार के भागे अपनी विशेषता आप ही रखते हैं, उन्हे समझना कोई खाला जी का घर नही। जितना सूक्ष्म, गभीर और तात्त्विक विवेचन जैनधर्म ने अध्यात्म जगत को दिया है, इतना बौद्धधर्म ने तो क्या किसी भी जैनेतर धर्म ने नही दिया।

जैनधर्म का अधिक झुकाव पदार्थों के स्वरूप के अन्वेषण और अनुसन्धान की ओर रहा है, आत्मा के अनादिकालीन कर्ममल की विशुद्धि के लिए, अहिंसा, सयम और तप की आराधना की ओर रहा है, जैनधर्म का दृष्टिकोण अलौकिक रहा है, आत्मसुधार का रहा है, लौकिक जीवन की ओर जैनधर्म ने विशेष महत्त्व नही दिया। इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म लौकिक जीवन की सर्वथा उपेक्षा करता है, लौकिक आचार विचार के उत्थान की ओर भी उसने ध्यान तो दिया है, परन्तु उतना नही, जितना कि लोकोत्तर आचार-विचार की ओर दिया है। इसके विपरीत बौद्धधर्म का झुकाव लौकिक आचार-

विचार की ओर ही अधिक रहा है, उसने लोकोत्तर (आत्मिक) आचारविचारगत उत्कर्ष की ओर विशेष लक्ष्य नही दिया। यही इनमे आचारविचारगत भिन्नता है।

इस प्रकार जैनधर्म और बौद्धधर्म में सैद्धान्तिक और धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। तथापि इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता कि दोनों धर्म एक ही क्षेत्र मे फले फूले हैं, और अन्य धर्मों की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक निकट हैं।

भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध के जीवन मे जो समानता तथा असमानता है, उसे निम्नोक्त तालिका से समझा जा सकता है—

	महावीर	बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
माता	त्रिशला	महामाया
गोत्र	कश्यप	कश्यप
जन्मभूमि	क्षत्रियकुण्डग्राम	कपिलवस्तु
जाति	ज्ञात	शाक्य
जन्मसम्वत्	ई०पू० ५९९	ई०पू० ६००
स्त्री	यशोधा	यशोधरा
सन्तान	प्रियदर्शना [पुत्री]	राहुल [पुत्र]
दीक्षा	३०वर्ष की आयु मे	२९वर्ष की आयु मे
आदितप	१२ वर्ष	६वर्ष
ज्ञानप्राप्तिस्थान	ऋजुवालिका तट	(बौद्ध)गया
निर्वाण	वि. स. से ५२७वर्ष पूर्व	वि.स.से५२०वर्ष पू.
निर्वाणस्थान	मध्यम अपापा (पावापुरी)	कुशी नगर
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
महाव्रत	पांच महाव्रत	पाच शील
सिद्धात	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद

जैन दर्शन और चार्वाक दर्शन

नवम अध्याय

प्रश्न– भारतीय दर्शनों में चार्वाक नास्तिक दर्शन माना गया है। वैदिक दार्शनिकों ने चार्वाक की तरह जैन दर्शन को भी नास्तिक दर्शन कहा है। अतः यह स्पष्ट करें कि चार्वाक एवं जैन दर्शन में क्या अन्तर है ?

उत्तर– आस्तिक-नास्तिकवाद प्रकरण मे हम विस्तार से बता चुके हैं कि जैन दर्शन नास्तिक दर्शन नही,आस्तिक दर्शन है। उसे नास्तिक दर्शन कहना केवल सांप्रदायिक व्यामोह मात्र है। यदि वेद को प्रमाण न मानने मात्र से ही कोई दर्शन नास्तिक हो जाता हो, तब सांख्य दर्शन को भी नास्तिक दर्शन मानना होगा। क्योंकि जैनो की तरह वह भी वेद को ईश्वर कृत एव प्रमाण रूप नही मानता। और शंकराचार्य वेद को प्रमाण रूप मानता है, फिर भी वैदिक पुराणो मे उसे नास्तिक कहा है $। इससे स्पष्ट होता है कि नास्तिक आस्तिक का

$ मायावादी वेदान्ती (शकराचार्य) अपि नास्तिक एव पर्यवसाने नपद्यते इति ज्ञेयम्। अत्र प्रमाणानि साख्य प्रवचन भाष्योदाहृतानि पद्मपुराण वचनानि यथा–

मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमेव च।
मयैव कथित देविकलौ ब्राह्मणरूपिणा॥

मवध वेद को प्रमाण मानने या नही मानने से नही है। यह परिभाषा सम्प्रदायवाद के विषाक्त युग मे बनाई गई है। वस्तुत जो विचारक आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व एवं परलोक के अस्तित्व को नही मानते, वे नास्तिक और जो इनमें विश्वास रखते है वे आस्तिक कहलाते हैं। इस दृष्टि से जैन दर्शन नास्तिक नही, बल्कि आस्तिक दर्शन है। इस बात को हम आस्तिक नास्तिक विवेचन मे स्पष्ट कर चुके है। अब हम चार्वाक एव जैन दर्शन मे समानता है या नही? इस पर विचार करेंगे। इस तुलनात्मक विवेचन को प्रारभ करने से पहले चार्वाक दर्शन को समझ लेना अवश्यक है। इसलिए पहले हम चार्वाक दर्शन की मान्यता पर विचार करेगे।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन पुण्य-पाप आदि तत्त्वो को नहीं मानता। वे इस बात को भी स्वीकार नही करते कि व्यक्ति के द्वारा की जाने वाली किसी भी क्रिया का इस लोक के अतिरिक्त परलोक मे फल मिलता है। वे समस्त तत्त्वो का चर्वण कर जाते हैं, इसलिए उन्हे चार्वाक कहते है *। इनकी भाषा लोक रुचि को लिए हुए होती है, इस तरह भाषा

अपार्थं श्रुतिवाक्याना दर्शयल्लोक गर्हितम्
कर्म-स्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ॥
सर्व कर्म परिभ्रशान्नैष्कर्म्य तत्र चोच्यते।
परमात्मजीवयोरैक्य मयात्र प्रतिपाद्यते ॥

—साख्यप्रवचन भाष्य, १.१ भूमिका; न्यायकोश पृ ३७२१

* चर्वन्ति, भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिक परोक्ष वस्तुजातमिति चार्वाका.। —गुणरत्न सूरि।

की सुन्दरता के कारण भी उन्हे चार्वाक कहते हैं *। इन का आचरण सामान्य लोगो की तरह होता है, इन मे सयम एवं तप का अभाव होता है। साधारण लोगो की तरह भोगो मे आसक्त रहने के कारण इन्हे लोकायत या लोकायतिक भी कहते हैं ‡। चार्वाक पुण्य-पाप को नही मानते और उनके फल स्वरूप मिलने वाले नरक स्वर्ग को भी नही मानते, इसलिए इन्हे नास्तिक भी कहते हैं †।

चार्वाक भौतिकवादी दर्शन है। वह मानता है कि सृष्टि मे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पांच मूल तत्त्व है। इन्ही से सृष्टि का निर्माण होता है। पाचो तत्त्वो के सम्मिलन से आत्मा की उत्पत्ति होती है। और उसके विनाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है §। अत, चार्वाक दर्शन की मान्यता है कि ससार मे आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र शक्ति नही है। उसका अस्तित्व तभी तक रहता है, जव तक पचभूतो का अथवा शरीर का अस्तित्व रहता है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का भी विनाश हो जाता है। इसलिए दुनिया मे जो कुछ है, वह यह मनुष्य लोक ही है। इसके अतिरिक्त

* चारुःलोकसम्मतः वाकः वाक्य यस्स सः चार्वाकः। —वाचस्पत्यकोश।

‡ लोकाः निर्विचारा. सामान्यलोकस्तद्वदाचरन्ति स्मेति लोकायता लोकायतिका। —गुणरत्न सूरि।

† नास्ति पुण्यं पापमिति मतिरस्य नास्तिकः। —आचार्य हेमचंद्र

§ सति पचमहब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवि, आउ, तेउ वा वाउ आगास पचमा ॥
एस पच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया।
अह तेसिं विणासेण, विणासो होइ देहिणो।
—सूत्रकृतांग, १,१,१, ७-८।

नरक–स्वर्ग आदि परोक्ष लोक नही है। अत. आत्मा मर कर नरक-स्वर्ग में नही जाती और न वह पाप-पुण्य से आवद्ध होती है। इसलिए मनुष्य को धर्म-कर्म करने की आवश्यकता नही है। उसे आनन्द पूर्वक अपना जीवन विताना चाहिए। यह जीवन बड़ी कठिनता से मिला है, अतः खाने-पीने एव ऐश–आराम मे सदा व्यस्त रहना चाहिए। भोग–विलास मे निमग्न रहना चाहिए। इस मत के एक विचारक ने कहा भी है––

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहिनः, पुनरागमणः कुतो ॥"

इससे स्पष्ट होता है कि चार्वाक दर्शन पूर्णतः भौतिकवादी है। वह प्रत्यक्ष मे दिखाई देने वाले शरीर एव भोगो के अतिरिक्त किसी भी वस्तु को वास्तविक नही मानता है। इसे प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई भी प्रमाण मान्य नही है।

जैन दर्शन

जैन दर्शन पाच भूतो के सघात से बने हुए शरीर को ही आत्मा नही मानता है। आत्म विचारणा प्रकरण मे हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि आत्मा शरीर, इन्द्रिय एव मन से अतिरिक्त स्वतन्त्र द्रव्य है और शरीर आदि का विनाश होने पर भी उसका नाश नही होता है। वह सदा-सर्वदा अपने स्वरूप मे स्थित रहता है। कभी भी, किसी भी अवस्था मे आत्मा के असख्यात प्रदेशो मे थोड़ा भी अन्तर नही आता। उनकी सख्या न कभी बढती है और न घटती है। अनन्त काल तक पुद्गलो के साथ सवध रहने पर भी आत्मप्रदेशो की सख्या एव आत्मा के स्वभाव मे कोई अन्तर नही आता। इसलिए आत्मा

को आत्म द्रव्य की अपेक्षा से नित्य माना गया है । यह सत्य है कि उसके गुणो मे परिवर्तन अवश्य होता है, उनकी पर्याये प्रतिक्षण बदलती रहती है। जैसे ज्ञान एवं दर्शन आत्मा के गुण हैं । आत्मा में अनन्त ज्ञान एव अनन्त दर्शन स्थित हैं । प्रत्येक आत्मा ज्ञान एवं दर्शन की सत्ता लिए हुए है। यह बात अलग है कि संसारी आत्माए ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के आवरण मे आवृत्त होने के कारण उनका ज्ञान एव दर्शन पूर्णतः प्रकट नही हो पाता है। जितना-जितना कर्मों का क्षयोपशम होता है, उतना ही ज्ञान-दर्शन का प्रत्यक्षीकरण होता है। ज्ञान और दर्शन के द्वारा आत्मा पदार्थों को जानता-देखता है। पदार्थ पर्याय युक्त हैं और पर्याये सदा बदलती रहती हैं, इसलिए प्रत्येक पदार्थ पर्यायो की अपेक्षा से अनित्य है और ज्ञान एव दर्शन से पदार्थों की पर्यायो का भी बोध होता है। अतः पर्यायो के परिवर्तन के साथ उसका ज्ञान भी परिवर्तित होता रहता है। जैसे भगवान महावीर के समय नालन्दा आदि शहर थे और आज भी वे स्थान स्थित हैं। परन्तु, उस युग के नालन्दा एव आज के नालन्दा की स्थिति में बहुत अन्तर आ गया है । इतने लम्बे काल की बात को छोड़िये, आज़ादि के पहले के भारतीय एव पाकिस्तानी सीमा मे स्थित शहरो की स्थिति एव आज की स्थिति मे कितना अन्तर आ गया है इस बात को प्रत्येक व्यक्ति भली-भाति जानता है। तो इस परिवर्तन के साथ हमारे ज्ञान एव दर्शन की अनुभूति मे भी परिवर्तन हो गया। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं और गुण सदा गुणी मे रहते हैं। अतः ज्ञान-दर्शन आत्मा से संबद्ध हैं और कभी भी आत्मा से अलग नही होते। उनके अस्तित्व के अभाव मे आत्मा का अस्तित्व ही नही रह पाता है। तो उनके परिवर्तन का अर्थ होता है आत्मा की पर्यायो

का परिवर्तन। इस अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी मानी गई है। वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

ससारी आत्मा कर्मों से आवद्ध होने के कारण शरीर से भी युक्त है। जब तक वह सपूर्ण कर्मों का नाश नही कर देता, तब तक वह शरीर से छुटकारा नही पा सकता है। मृत्यु के समय स्थूल–औदारिक शरीर यही छूट जाता है और अपने आगामी जन्म के स्थान तक पहुचने के लिए उसे २या३या४ समय लगते है। उतने काल तक वह स्थूल शरीर से रहित रहता है, फिर भी अशरीरी नहीं होता। क्योकि, कार्मण शरीर सदा उसके साथ रहता है। उस समय भी वह शरीर आत्मा से सबद्ध रहता है और उसी कार्मण शरीर के माध्यम से वह अपने बांधे हुए आयुष्य के अनुरूप स्थान मे पहुच जाता है और वहा पहुच कर सबसे पहले आहार ग्रहण करता है और उसके बाद औदारिक या वैक्रिय— स्थूल शरीर बनाता है। यह शरीर प्रति समय परिवर्तित होता है और आत्मा के बाधे हुए कर्मों मे भी प्रतिक्षण परिवर्तन आता रहता है। आत्मा शरीर से संबद्ध होने के कारण शरीर आदि पर्यायो के परिवर्तन की अपेक्षा से भी अनित्य कहलाता है। इस तरह हमने देखा कि आ–त्मा अपेक्षा-विशेष से नित्य भी है और अनित्य भी। परन्तु, एकान्त रूप से नाशवान नही है। शरीर के विनाश के साथ ही उसका अस्तित्व समाप्त नही हो जाता। एकान्त क्षणिकवाद को मानने वाले बौद्धो ने भी शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का विनाश नही माना है। अतः शरीर के साथ आत्मा का विनाश मानना भारतीय सस्कृति के किसी भी आस्तिक विचारक को स्वीकार नही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक दर्शन एव जैन दर्शन मे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जैन दर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता एव उसके परिणामी नित्यत्व

को स्वीकार करता है और चार्वाक दर्शन आत्मा को शरीर से अलग स्वतन्त्र तत्त्व एवं शरीर के बाद भी उसके स्थित रहने को नही मानता।

चार्वाक दर्शन पदार्थों के स्वरूप को जानने-देखने के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान को ही प्रमाण मानता है, अनुमान, आगम आदि परोक्ष ज्ञान को प्रमाण नही मानता। परन्तु, जैन दर्शन प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो ज्ञानो को प्रमाण मानता है। वह अनुमान, उपमान, आगम आदि प्रमाणो को भी स्वीकार करता है। क्योकि केवल चक्षु प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने मे समर्थ नही है। वह स्थूल होने के कारण भौतिक पदार्थों के स्थूल रूप को मर्यादित रूप से जान-देख सकती है। कई भौतिक पदार्थ इतने सूक्ष्म होते है कि उन्हे आंखो से देख सकना कठिन ही नही, असभव है। जैसे— परमाणु को आखो से नही देखा जा सकता, आंखो से ही नही, सूक्ष्म दर्शक यत्र (Microscope) के सहयोग से परमाणु के दर्शन नही हो सकते। फिर भी हम यह नही कह सकते कि आंखो से दिखाई नही देने के कारण परमाणु नही है। क्योकि उसका कार्य रूप से अनुभव होता है। परमाणुओ के मिलने एव बिछुड़ने पर ही भौतिक वस्तुओ का निर्माण एव विध्वस होता है। समस्त भौतिक पदार्थों का मूल आधार परमाणु है। दुनिया के तमाम भौतिक पदार्थ— जिनका इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, अनन्त-अनन्त परमाणुओ के स्कन्ध रूप हैं। क्योकि अनन्त परमाणुओ का स्कन्ध ही चक्षु ग्राह्य हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि परमाणु के स्कन्ध रूप कार्य को देख कर उसके कारण परमाणु के अस्तित्व का सहज ही अनुमान लगा सकते है। चार्वाक भी परमाणु को तो मानता ही है, अत, आखो से दृष्टिगोचर होने वाले प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनु-

मान को सर्वथा प्रमाण नही मानने की घोषणा करना उन्मत्त प्रलाप मात्र है।

चार्वाक आगम प्रमाण को भी नही मानते, वे उसे सर्वथा अप्रमाणिक मानते हैं। परन्तु, अनेक परोक्ष बातो को सिद्ध करने के लिए वे उनका सहारा भी लेते हैं। जैसे– अमुक युग मे अमुक व्यक्ति हुआ था या हमारे दादा-परदादा आदि ऐसे वीर या दानी या सच्चरित्रवान आदि थे, जब हम यह कहते हैं तो हम इन्हे न तो प्रत्यक्ष मे देखते है और न देख ही सकते हैं, फिर भी इतिहास एव अपने पिता, दादा आदि के वचनो पर विश्वास रख कर उन घटनाओ को सत्य मानते है। यदि किसी के दादा ने किसी को एक हजार रुपया उधार दिया है, हम ने तो उसे उधार देते वक्त देखा नही, परन्तु बही मे लिखा है, तो क्या उस लिखावट के आधार पर हम उस हिसाब को सही नही मानेगे ? क्यो नही। उसे अवश्य ही सही मानेगे और उसके आधार पर रुपये वसूल करेंगे। यही बात आगम के सबध मे है। आगम आप्त पुरुषो की वाणी है और आप्त पुरुष वे हैं, जो राग-द्वेष के विजेता है। अत. उनकी वाणी मे असत्यता एव परस्पर विरोध नही होता। इस लिए वे अपने दिव्य ज्ञान मे जो देखते है वही आगम के रूप मे हमारे सामने सुरक्षित है। जैसे– बाप-दादे द्वारा प्रत्यक्ष मे देखी गई बात उन की लिखावट के आधार पर सत्य मानी जाती है– चार्वाक भी इसे सत्य मानता है, इसी तरह सर्वज्ञ पुरुषो के दिव्य ज्ञान से प्रत्यक्ष किए हुए स्वरूप को असत्य मानना केवल बुद्धि का अजीर्ण है। अत. आगम प्रमाण को नही मानना चार्वाक का हठ ही है। इसे नही मानने के पीछे कोई ठोस तर्क एव प्रमाण नही है।

इस तरह हम देखते है कि जब परमाणु— जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि से युक्त है वह भी आखो से दिखाई नही देता, तो आत्मा जो वर्ण आदि से रहित है वह आंखो से कैसे देखा जा सकता है। फिर भी हमें उसका अनुभव अवश्य होता है। जैसे परमाणु दिखाई नही देता, फिर भी उसके कार्य को देख कर उसके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। इसी तरह आत्मा के चेतना रूप कार्य को देख कर हम यह अनुभव करते हैं कि शरीर से अतिरिक्त आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है। क्योंकि, जब आत्मा शरीर को त्याग कर चला जाता है— जिसे लोक भाषा मे मृत्यु कहते हैं, उसके बाद भी शरीर का अस्तित्व बना रहता है, परन्तु उसमे चेतना का अभाव होने से वह किसी तरह की हरकत नही कर सकता। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का शरीर से पृथक अस्तित्व है। यदि आत्मा और शरीर एक ही होते तो आत्मा के निकलते ही शरीर का नाश हो जाता या शरीर का नाश होने पर चेतना (आत्मा) का लोप होता है। यदि ऐसा होता तब तो यह माना जा सकता था कि आत्मा और शरीर एक ही है। परन्तु, ऐसा होता नही है। आत्मा के निकल जाने के बाद भी शरीर निष्क्रिय पड़ा रहता है। उसमे पांचो भौतिक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, फिर भी चेतना के अभाव मे उसका कोई मूल्य नही रह जाता है। इससे आत्मा का अस्तित्व स्पष्टत. प्रतीत होता है। वह आखो से दिखाई नही देने पर भी हमारी अनुभूति से छिपा नही रहता है, हम उसे प्रतिक्षण अनुभव एव दिव्य ज्ञान की चक्षुओ से देख सकते हैं।

आत्मा की तरह आगम को भी हमने नही देखा। परन्तु, इतने मात्र से वह अप्रमाणिक नही हो जाते। जब हम बाप-दादो द्वारा कही एवं लिखी हुई बातो को उनकी लिखावट एव वाणी मानकर सच

मानते हैं, तो आगम को असत्य मानने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। आगम भी क्या है ? आप्त पुरुषो द्वारा कथित विचार ही तो आगम है और आप्त पुरुष वह है, जिसने राग-द्वेष का क्षय कर दिया है। वीतराग होने के कारण उसकी वाणी मे किसी भी तरह का विरोध, असत्य एव अपूर्णता नही रह जाती है। इसलिए सर्वज्ञ पुरुष द्वारा कहे गए आगम सत्य एव प्रामाणिक है। उस मे सशय करने का बिल्कुल अवकाश ही नही रहता है।

इस तरह हम देख चुके हैं कि जैन दर्शन एवं चार्वाक दर्शन मे पर्याप्त भेद है। फिर भी, जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। इसलिए वह चार्वाक दर्शन मे भी आशिक सत्य को देखता है। क्योकि जैन दर्शन भी अपेक्षा विशेष से भौतिकवाद को भी स्वीकार करता है। वह चार्वाक की तरह एकात रूप से भौतिकवाद का समर्थन नही करता और न एकात रूप से उसे झुठलाता ही है। जैन दर्शन सापेक्षवाद को स्वीकार करता है, इसलिए वह अध्यात्मवादी होते हुए भी एक नय से, एक अपेक्षा से भौतिक पदार्थों को भी साधना मे सहायक मानता है। वह लाल कपडे को देखने मात्र से बिगडने वाले बैल की तरह भौतिकता के नाम मात्र से चिढता नही है। वह प्रत्येक वस्तु मे रहे हुए सत्य को निष्पक्ष भाव से देखता एव स्वीकार करता है। यही कारण है कि भौतिकता एव आध्यात्मिकता का समन्वय करते हुए दार्शनिक विचारक श्री आनन्दघन जी नेमिनाथ भगवान को प्रार्थना करते हुए लोकायत (चार्वाक-भौतिक) दर्शन को भगवान के पेट की उपमा दी है, अर्थात् आध्यात्मिकता के साथ अश रूप से भौतिकता को भी स्वीकार किया है *।

* लोकायतिक कूख जिनवर नी, अ श विचार जो कीजे।

प्रस्तुत पद मे लोकायत या चार्वाक दर्शन को पेट के तुल्य माना है। शरीर मे विचार शक्ति के स्रोत मस्तिष्क आदि अगो मे पेट का महत्वपूर्ण स्थान है, खुराक से प्राप्त शक्ति को पेट से लेकर सब अग अपना-अपना काम करते हैं । इसी तरह आध्यात्मिक जीवन मे भौतिक साधनो का भी अपना स्थान है। शरीर, मकान, वस्त्र, खाद्य-पदार्थ एव सयम साधना के अन्य भौतिक साधनो (उपकरण आदि) के सहयोग के विना साधक अपने साध्य को सिद्ध नही कर सकता । अतः जैन दर्शन भौतिक पदार्थों की सर्वथा उपेक्षा नही करता। परन्तु वे पुष्पमाला मे पुष्पों के नीचे दवे हुए धागे की तरह आध्यात्मिकता की ज्योति से दवे रहते हैं। यह सत्य है कि पुष्पमाला को वनाने के लिए धागा आवश्यक है। धागे में अनुस्यूत सभी पुष्प शोभायमान होते है; परन्तु, यह शोभा तभी तक स्थित रहती है, जब तक धागा फूलो से ढका रहे। यदि फूलो को छिन्न-भिन्न करके धागा ऊपर उभर आए तो वह पुष्पमाला भद्दी-सी परिलक्षित होगी, कोई भी व्यक्ति उसे लेना स्वीकार नही करेगा। यही स्थिति आध्यात्मिक एव भौतिकवाद की है । यदि आध्यात्मिक पुष्पो को पराग के नीचे भौतिकता का धागा दवा रहे तो इसमे जैन दर्शन को कोई आपत्ति नही । साधना काल मे साधक भौतिकता से सर्वथा निवृत्त नही हो सकता । इस लिए उसके अस्तित्व से सर्वथा इन्कार नही किया जा सकता। परन्तु, यदि आध्यात्मिकता के पुष्पो को नष्ट-भ्रष्ट करके भौतिकता अपना

तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे ॥
षड् दर्शन जिन अग भणीजे न्यास षडग जो साधे रे।
नमि जिणद का चरण उपासक षड् दर्शन जो अराधे रे।

—आनन्दघन चौवीसी

आधिपत्य जमाना चाहती हो, जीवन मे सर्वत्र भौतिकता का साम्रा-ज्य स्थापित करने को अभिलाषा हो तो जैन दर्शन को यह स्वीकार नही है। वह आध्यात्मिक ज्योति से रहित भौतिकता को किसी भी हालत मे पसन्द नही करता। वह आध्यात्मिकता मे युक्त भौतिकता का या यों कहिए त्याग निष्ठ भोग का समर्थन करता है। और चार्वाक आध्यात्मिक रहित भौतिकता का या त्याग रहित केवल भोग का समर्थन करता है। अत. चार्वाक एव जैन दर्शन मे यही सबसे बड़ा अतर है।

चार्वाक की मान्यता के सबंध मे एक श्लोक प्रसिद्ध है, उसके प्रथम पद मे कहा है— "यावज्जीवेत सुख जीवेत" अर्थात् जब तक जीवित रहे, सुख-पूर्वक जीवित रहे। इस से जैन दर्शन का कोई विशेष विरोध नही है। जैन दर्शन भी यही कहता है कि मानव सुख-शान्ति से रहे। वह रोते-तड़पते हुए जीवन के क्षण न विताए। आर्त और रौद्र ध्यान मे ही सदा निमग्न न रहे। वह रात-दिन चिन्ता के झूले मे झूलता न रहे। साधक को चाहिए कि वह सुख-दुःख मे हमेशा मुस्कराता रहे। दुःखो की तपती दुपहरो मे भी उसका मन सरोज कुम्हलाए नही। वह हर स्थिति मे सकल्प-विकल्पो से ऊपर उठ कर शांत मन से आत्म-साधना मे संलग्न रहे। हा तो, जहा तक पहले चरण का सबध है, जैन दर्शन का कोई विरोध नही है। वह भी मनुष्य को सुख-शाति एव आनन्द पूर्वक जीने की प्रेरणा देता है। परन्तु शेष तीन पदो के साथ जैनदर्शन सहमत नही है।

उनमे कहा गया है कि "...ऋण कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मी-भूतस्य देहिनः, पुनरागमण कुतः।" उक्त दूसरे पद की भाषा किसी सभ्य एव इमानदार व्यक्ति की भाषा प्रतीत नही होती। क्योकि सुख-पूर्वक जीने का यह अर्थ नही है कि चाहे जैसे अनैतिक साधनो से भौतिक

पदार्थों को इकट्ठा करके सुख-भोग किया जाए। यह हम पहले ही बता चुके है कि त्याग निष्ठा से रहित केवल भोग की भावना पतन के गर्त मे गिराने वाली है। यह मानव को मानवता से बहुत दूर,दानवता की ओर ले जाने वाली है। अस्तु,अनैतिकता के पोषण का स्वर इनसान का नही, शैतान का हो हो सकता है। इसलिए अनैतिक तरीको से भोगों में आसक्त रहनेकी प्रेरणा देना संसारको नरक बनाना है और जैनदर्शन ससार को जीवित नरक बनाने के पक्ष में नहीं है। वह तो मानव को भोग के कीचड से उपर उठा कर त्याग के शिखर पर पहुचाने का प्रयत्न करता है। और वह चार्वाक की इस बात से भी सहमत नही है कि शरीर के नष्ट होने के साथ आत्मा का नाश हो जाता है, उस का पुनर्जन्म नही होता। हम इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि जैन दर्शन आत्मा को परिणामी नित्य मानता है। और ससार मे स्थित आत्मा एक योनि में प्राप्त स्थूल शरीर के नाश होने पर वह दूसरी योनि मे जन्म ग्रहण करता है। यह निताँत सत्य है कि मोक्ष मे जाने के बाद आत्मा पुन ससार मे नही आता या जन्म ग्रहण नही करता। परन्तु वहा भी आत्मा का अस्तित्व सदा बना रहता है, उसके स्वरूप का लोप नहीं होता।

इतने विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चार्वाक और जैन दर्शन मे आकाश-पाताल का-सा अन्तर है। चार्वाक पुण्य-पाप, नरक–स्वर्ग आदि के अस्तित्व को नही मानने वाला एकान्त भौतिकवादी दर्शन है और जैन पुण्य-पाप, नरक-स्वर्ग आदि के अस्तित्व मे विश्वास रखने वाला अध्यात्मवादी दर्शन है। चार्वाक नास्तिक दर्शन है और जैन दर्शन आस्तिक-वाद से परिपूर्ण है।

